अञ्चितः स्यात्करो वामः सव्यश्चतुर एव तु[1] ।
दक्षिणः कुट्टितः पादश्चतुरं तत्प्रकीर्तितम् ॥ १०० ॥

---

३९. चतुरम् ।

अञ्चित इत्यलपल्लवः (ना. शा. ९।९१)

"तिस्रः प्रसारिता यत्र तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
तासां मध्ये तथाङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः ॥" (९-९३)

एवकारेण वक्षःक्षेत्राद् द्वयोरप्यलम् । तु शब्देन सन्निवेशाधिक्यं केवलमिति सूच्यते । कुट्टित इति ।

"स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते ।" (ना. शा. ९।२६६)

इत्युद्धट्टिताङ्गरूपः[2] । एतद्विदूषकस्य सविस्मयसूच्याभिनयादौ । यथा— "सानुरे खण्डदासवर्यमिसासा ॥ १०० ॥

यह सूचित होता है कि क्रम से इनका प्रयोग करना चाहिए अथवा उद्वेष्टित शब्द से यहाँ उल्वण नृत्तहस्त उपलक्षित है । उल्वण का लक्षण निम्न प्रकार है—

"दोनो हाथों को अग्रभाग से उद्वेष्टित करके फिर अलपल्लव मुद्रा में हाथों को ऊपर की ओर फैलाकर आविद्ध करे तो 'उल्वण' हस्त होता है ।"

(ना. शा. ९।२०८) ।

तब एक साथ ही प्रयोग को करके स्वस्तिक पाद के घुमाने से शरीर का साक्षात्कार होता है । यहाँ पर 'संज्ञायां कन्' सूत्र से संज्ञा में 'कन्' प्रत्यय है । इस करण का प्रयोग उद्धत परिभ्रमण में किया जाता है ॥ ९९ ॥

विमर्श—संगीतरत्नाकर में कहा गया है कि इस करण में पहिले पैर को आक्षिप्ता चारी में रखा जाता है फिर हाथ को उद्वेष्टित मुद्रा में रखते हैं. फिर त्रिक का वलन (घुमाव) करके पादस्वस्तिक की रचना की जाती है । फिर इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से भी यही प्रक्रिया की जाती है और दोनों हाथ एक साथ उल्वण मुद्रा में होते हैं । उद्धत परिक्रमण में इसका विनियोग होता है ॥ ९९ ॥

३८—चतुर

अनुवाद—जहाँ पर बाँया हाथ 'अञ्चित' मुद्रा में और दाहिना हाथ 'चतुर' हस्तमुद्रा में न्यस्त हो और दाहिना पैर 'कुट्टित' स्थिति में हो तो वह 'चतुर' करण कहा जाता है ॥ १०० ॥

अभिनव—यहाँ पर 'अञ्चित' पद से 'अलपल्लव' का ग्रहण होता है । (ना. शा. ९।९१) । चतुरहस्त का लक्षण निम्नप्रकार है—

---

१. ख-ग. घ. च

२. क-भ. म. इत्युद्धट्टितांशरूपः ।

भुजङ्गत्रासितः पादो दक्षिणो रेचितः करः[1]।
[2]लताख्यश्च करो वामो भुजङ्गाञ्चितकं भवेत् ॥ १०१ ॥

---

४०. भुजङ्गाञ्चितकम् ।

"कुञ्चितं पादम् ।" (ना. शा. १०।४२) इत्यादि भुजङ्गत्रासितचार्यां पादः । "हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।" (९।१०३) इति दक्षिणो रेचितः । "तिर्यक्प्रसारितौ" इति (ना. शा. ९।१९८) वामो लताख्यो नृत्तहस्तः ॥ १०१ ॥

"जहाँ पर तीन अंगुलियाँ फैलाई हुई हों और कनिष्ठिका अंगुली ऊपर की ओर उठी हुई हो और उनके बीच में अंगूठा स्थित रहे तो वहाँ 'चतुरहस्त' होता है।" (ना. शा. ९।९३)।

'चतुर एव' में 'एव' पद के प्रयोग से (एवकार से) वक्षःप्रदेश से दोनों हाथों का और 'तु' शब्द से केवल सन्निवेश का आधिक्य सूचित होता है। 'कुट्टित' पद 'पैर के अग्रभाग (एड़ी) से स्थित होकर एड़ी को भूमि पर गिराये' (ना. शा. ९।२६६) इस प्रकार उद्घट्टित का अङ्ग रूप है। इस करण का प्रयोग विदूषक के विस्मयकारक अभिनय में होता है। जैसे—'सानुरे खण्डदासवर्यमिसासा' ॥ १०० ॥

विमर्श—'चतुर' नामक करण में बायाँ हाथ अल्लपल्लव या अञ्चित मुद्रा में रखा जाता है। 'अञ्चित' को ही अल्लपल्लव हस्त कहते हैं। इसमें दाहिना हाथ चतुर हस्तमुद्रा में और पैर उद्घट्टित (कुट्टित) स्थिति में झुका कर रखा जाता है। 'कुट्टित' को ही उद्घट्टित कहते हैं क्योंकि दोनों का लक्षण एक सा है। पञ्जे के बल पर खड़े होकर एड़ी को भूमि पर गिराना कुट्टित या उद्घट्टित कहा जाता है ॥ १०० ॥

४०—भुजंगाञ्चित

अनुवाद—जहाँ पर पैर भुजङ्गत्रासिता चारी की स्थिति में हो और दाहिना हाथ रेचित मुद्रा में तथा बायाँ हाथ लताहस्त मुद्रा में हो वहाँ "भुजंगाञ्चितक' करण होता है ॥ १०१ ॥

अभिनव—"कुञ्चित पाद" (ना. शा. १०।४२) इत्यादि भुजङ्गत्रासिता चारी में पाद का अभिनय है। 'हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ' (ना. शा. ९।१९३) इत्यादि से दक्षिणहस्त रेचित का बोध होता है और 'तिर्यक्प्रसारितौ' (ना. शा. ९।१९९) इत्यादि 'लता' नामक नृत्तहस्त का बोधक है ॥ १०१ ॥

---

१. ख-घ. रेचितौ दक्षिणः करः ।

२. क-म. लताख्यश्च ततो वामो भुजङ्गाञ्चितके भवेत् ।

विक्षिप्तं हस्तपादं तु समन्ताद्यत्र दण्डवत् ।
[1]रेच्यते तद्धि करणं ज्ञेयं दण्डकरेचितम् ।। १०२ ।।

---

४१. दण्डकरेचितम् ।

दण्डवद्धस्तविक्षेपेण रेचनेन च दण्डपक्षौ सूच्येते । पादविक्षेपेण तु दण्डपादाचारी ।

"हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
तथा प्रसारितभुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ ।।" (ना. शा. ९।२०२)
"नूपुरं चरणं कृत्वा पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
क्षिप्रमाविद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता ।।" (ना. शा. १०।४४)

तत्प्रमोदविषयं करणम् । उद्धतविषये चास्य प्रयोगः (इत्यन्ये) ।। १०२ ।।

विमर्श—भुजगाञ्चित करण में भुजङ्गचारी का प्रयोग होता है । इस चारी में कुञ्चित एक पैर को ऊपर आक्षिप्त करते हैं, जंघा को त्रिकोण बनाकर कटि और जानु को विवर्त्तित करते हैं, दाहिने हाथ को हंसपक्ष मुद्रा में और बायें हाथ को लताहस्त मुद्रा में तिरछा फैलाते हैं । इस करण का प्रयोग विदूषक की गति के अभिनय में होता ।। १०१ ।।

४१—दण्डरेचित

अनुवाद—जहाँ पर हाथ और पैर को दण्ड के समान चारों ओर विक्षिप्त करके रेचित किया जाता है वहाँ 'दण्डरेचित' करण होता है ।। १०२ ।।

अभिनव—दण्ड के समान हाथ के विक्षेप (फेंकना) एवं रेचन से दण्डपक्ष हस्त सूचित होता है । किन्तु पैर के विक्षेप से दण्डपाद चारी की सूचना मिलती है ।

"जहाँ पर हंसपक्ष हाथों को कभी व्यावर्त्तन और कभी परिवर्त्तन कर दिया जाय तथा भुजाओं का प्रसारण कर दिया जाय तो 'दण्डपक्ष' होता है ।"
(ना. शा. ९।२०३) ।

"यदि पैर को नूपुरपादचारी में रखकर अर्थात् नूपुरपाद चारी का विधान करके पैर के सामने की ओर फैला दे और शीघ्र उसे आविद्ध कर दे तो 'दण्डपादा' चारी होती है ।" (ना. शा. १०।४४) ।

इस करण का विनियोग प्रमोद के प्रसङ्ग में होता है । अन्य लोग इस करण का प्रयोग उद्धत नृत्य के विषय में मानते हैं ।। १०१ ।।

विमर्श—इस करण में दण्डपादचारी का विनियोग होता है । पैर को नूपुरपादचारी में रखकर सामने की ओर फैलाया जाता है, फिर उद्वाहित कर घुमाया जाता है और हाथों को दण्डपक्ष हस्तमुद्रा में रेचित किया जाता है अर्थात् हंसपक्ष हस्त को पहिले व्यावर्त्तन एवं परिवर्त्तन करते हैं, फिर भुजाओं को दण्डवत् फैलाया जाता है ।। १०२ ।।

---

१. क-त. रेचिते ।

वृश्चिकं[1]चरणं कृत्वा द्वावप्यथ निकुट्टितौ ।
विधातव्यौ करौ [2]तत्तु ज्ञेयं वृश्चिककुट्टितम् ॥ १०३ ॥

सूचीं [3]कृत्वापविद्धं च दक्षिणं चरणं न्यसेत् ।
[4]रेचिता च कटिर्यत्र कटिभ्रान्तं तदुच्यते ॥ १०४ ॥

---

४२. वृश्चिककुट्टितम् ।

पृष्ठभागे रेचितजङ्घमुत्ताननतलं वृश्चिकोपलक्षितं चरणं कृत्वा द्वावपि हस्तौ स्वबाहुशिरस्यलपल्लवौ निकुट्टितौ पर्यायेण विदध्यादिति । एतच्च विस्मयाकाशगमनेच्छादिप्रधाने वाक्यार्थविषये प्रयुज्यते । यथा, "पडिविधारिअं उवक्खंहिआ" इत्यादौ ॥ १०३ ॥

४३. कटिभ्रान्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेदग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥" (ना. शा. १०।३४)

४२—वृश्चिककुट्टित

अनुवाद—यदि एक पैर को वृश्चिक मुद्रा में रखकर दोनों हाथों को निकुट्टित करें तो 'वृश्चिकनिकुट्टित' करण होता है ॥ १०३ ॥

अभिनव—पृष्ठ भाग में रेचित जङ्घा को उत्तान करके और वृश्चिक मुद्रा में पैर करके (रखकर, न्यस्त कर) दोनो हाथों को भी अपने कन्धे पर क्रमशः कभी अल्लपल्लव हस्तमुद्रा में रखे और कभी निकुट्टित करे । इस करण का प्रयोग विस्मय आकाशगमन, इच्छा आदि प्रधान वाक्यर्थाभिनय में होता है । जैसे—'पडिविधारिअं उवक्खंहिआ' इत्यादि में ॥ १०३ ॥

४३—कटिभ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पैर को सूची चारी में न्यस्त कर दाहिने पैर को अपविद्ध (अपसृत) करे और कटि को रेचित (चालित) मुद्रा मे रखा जाय तो 'कटिभ्रान्त' करण होता है ॥ १०४ ॥

---

१. ख. घ. वृश्चिकं करणं ।

२. ख-घ. तद्धि ।

३. ग. दत्त्वापविद्धं च ।

४. क. (टि०) पादयोरनुगौ हस्तौ । क-न. रेचितौ च कटिर्यत्र ।

अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।
लताख्तश्च करो वामस्तल्लतावृश्चिकं भवेत् ॥ १०५ ॥

वामं द्रुतमपसारितं कृत्वा पार्श्वे दक्षिणं पादं न्यसेत् । समकालं पृष्ठपरावर्तनक्रमेण कटिं रेचयेत् । भ्रमरिकया वा चार्या (ना. शा. १०४५) [1]करयोश्च प्रयोगवशगत्वेन कटिभ्रमणकाले तयोरपि व्यावर्तनपरिवर्तनकरणं योजनान्ते चतुरश्रावस्थानम् । गतिपरिक्रमेऽस्य [2]तालाकारादियतिपरिपूरणविषये प्रयोगः ॥ १०४ ॥

४४. लतावृश्चिकम् ।

प्रथमार्धेन वृश्चिकं । वामं चरणं भूमौ[3] । आकाशादवपतनेऽस्य प्रयोगः । ॥ १०५ ॥

अभिनव—सूची चारी का लक्षण निम्न प्रकार है—

"कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु (जंघे) को ऊपर फैलाये ओर फिर उसे अग्रभाग के योग से नीचे गिरा दे तो 'सूची' चारी कहलाती है ।"

(ना. शा. १०।३४) ।

योजना इस प्रकार है—बायें पैर को शीघ्र ही अपसारित करके दाहिने पैर को पार्श्व में न्यस्त करे । उसी समय पृष्ठ के परावर्त्तन क्रम से कटि का रेचन करे । अथवा भ्रमरिका चारी के प्रयोग के द्वारा दोनों हाथों के प्रयोग के अनुसार कटि के रेचन (भ्रमण) के काल में हाथों का भी व्यावर्त्तन एव परिवर्त्तन करके अन्त में चतुरस्र स्थिति में रखे । इस करण का प्रयोग गति परिक्रमण में, तालों के मध्यभाग, यतियों के पूर्त्ति के अभिनय में किया जाता है ॥ १०३ ॥

४४—लतावृश्चिक

अनुवाद—जहाँ पर पैर को पृष्ठभाग से अञ्चित करके और अंगुलियाँ ऊपर की ओर कुञ्चित करके तथा बायें हाथ को लता नामक हस्तमुद्रा में न्यस्त करे तो 'लतावृश्चिक' करण होता है ॥ १०५ ॥

अभिनव—पूर्वभाग में (पूर्वार्द्ध में) वृश्चिक पाद का निर्देश है और बायाँ पैर भूमि पर रखने का है । आकाश से नीचे गिरने के अभिनय में इसका प्रयोग होता है ॥ १०५ ॥

---

१. क-म. भ. करणयोश्च ।

२. क. तालाकारादियतिपरिपूरणविषये ।

३. क-भ. त. भ्रमो ।

अलपद्मः कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी ।
वैशाखस्थानकेनेह तच्छिन्नं करणं भवेत् ।। १०६ ।।

४५. छिन्नम् ।

क्रमेण पाष्ण्योर्नमनोन्नमनाभ्यां (ना. शा. ६-२५१, २३५) यदा कटिच्छेदः । [1]पाष्ण्योर्नमनोन्नमने पर्यायेण । तथैव च कटिपार्श्वक्षेत्र एव ।

"आवर्तिन्यः करतले यस्याङ्गुल्यः ।" (ना. शा. ६-९१)

इत्येवंभूतोऽलपल्लवः । ईषद्गतागतपर्यायेण द्वाभ्यां हस्ताभ्यां प्रयुज्यते । वैशाखस्थानकेन "तालास्त्रयोऽर्धतालश्च" (ना. शा. १०-६१) इति "निष्क्रान्तौ" इति च लक्षणेन तदा कटिच्छेदयोगि छिन्नं नाम । अङ्गप्रतिसारणतालभञ्जनादिविषये चास्य प्रयोगः ।। १०६ ।।

४५–छिन्न

अनुवाद—जहाँ पर अलपद्म हस्त को कटि प्रदेश पर रखा जाय और कटि क्रमशः 'छिन्न' मुद्रा में हो तथा नर्त्तक वैशाख-स्थानक में स्थित हो तो 'छिन्न' करण होता है ।। १०६ ।।

अभिनव—क्रम से एड़ी के ऊपर उठाने तथा नीचे गिराने से जब कटि छिन्न हो जाती है तब छिन्न करण होता है। एड़ी का उठाना और गिराना क्रम से होता है। उसो प्रकार कटि के पार्श्वभाग में भी उन्नमन और नमन होता है। "जिस हाथ की अंगुलियाँ करतल (हथेली) में आवर्त्तित (घुमाई हुई) होती हैं।" इस प्रकार का अल्लपल्लव हस्त होता है। ईषत् (धीरे-धीरे) गमनागमन (जाने और आने) में क्रम से दोनो हाथों से इसका प्रयोग होता है और पैरों के बीच साढ़े तीन ताल का अवकाश होता है तथा 'निष्क्रान्त' इस लक्षण वाले वैशाखस्थानक से इसका प्रयोग होता है। इस करण का विनियोग अङ्गों के फैलाने, तालभङ्ग होने में होता है।। १०६ ।।

विमर्श—'छिन्न' करण में अलपल्लव हस्त अर्थात् जिसमें समस्त अङ्गुलियाँ हथेली की ओर घूमी हुई हो, ऐसे अल्लपल्लव दोनों हाथों को क्रमशः कटि पर रखते हैं, एड़ियों को क्रमशः ऊपर-नीचे उठाते हुए कटि को बीच में घुमाते हैं और नर्त्तक वैशाख नामक स्थानक में खड़ा होता है । इसमें पैरों के बीच साढ़े तीन ताल का अन्तर होता है, और जानु निश्चल होते हैं ।। १०६ ।।

१. क-म. भ. पार्श्वे नमनोन्नमने ।

वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकौ च करावुभौ ।
[1]रेचितौ विप्रकीर्णौ च करौ वृश्चिकरेचितम् ॥ १०७ ॥
बाहुशीर्षाञ्चितौ हस्तौ पाद पृष्ठाञ्चितस्तथा ।
[2]दूरसन्नतपृष्ठं च वृश्चिकं तत्प्रकीर्तितम् ॥ १०८ ॥

---

४६. वृश्चकरेचितम् ।

"तावेव मणिबन्धान्ते ।" इति (ना. शा. ९-१८७) स्वस्तिकौ । विप्रकीर्णकौ रेचितौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ । एतदाकाशयानके प्रयोज्यम् ॥ १०७ ॥

४७. वृश्चिकम् ।

द्विवचनैकवचने अङ्गस्यापरिहारं सूचयतः । हस्तस्य बाहुशिरस्यञ्चनेन करिहस्तप्रयोगः सूच्यते ।

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्त्तितः ॥" (ना. शा. ९-१९९)

४६—वृश्चिकरेचित

अनुवाद—जहाँ पर पैर को वृश्चिक मुद्रा में रखकर स्वस्तिक मुद्रा में स्थित दोनों हाथों को रेचित और विप्रकीर्ण किया जाजा है वहाँ 'वृश्चिकरेचित' करण होता है ॥ १०७ ॥

अभिनव—'वे ही मणिबन्ध के अन्त में' स्वस्तिक हस्त । उससे च्युत विप्रकीर्ण, रेचित, हंसपक्ष द्रुतभ्रम हस्त होते हैं । इस करण का प्रयोग आकाश यान के अभिनय में होता है ॥ १०६ ॥

विमर्श—इस करण में पैर को वृश्चिक मुद्रा में घुमाकर पीछे की ओर ले जाया जाता है । दोनों हाथ स्वस्तिक मुद्रा से पृथक् होकर विप्रकीर्ण स्थिति में आते हैं, फिर हंसपक्ष मुद्रा में ऊपर-नीचे घुमाव देते हुए शीघ्रता से संचालित होते हैं ॥ १०७ ॥

४७—वृश्चिक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ कन्धे पर अञ्चित अवस्था में हों, और पैर पृष्ठभाग अर्थात् पीठ के पीछे की ओर अञ्चित हों तथा पीठ अधिक झुकी हो वहाँ 'वृश्चिक' करण होता है ॥ १०८ ॥

---

१. ख-घ. रेचितापसृतो चैव कार्यं वृश्चिकरेचितम् ।
क ख. रेचितापसृतौ चैव कार्यौ वृश्चिकरेचिते ।
२. क-म. दूरसन्नतपृष्ठश्च ।

[1]आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत्[2] ॥ १०९ ॥

दूरसन्नतपृष्ठत्वं वृश्चिकप्रयोगनान्तरीयं[3] सर्वत्र वृश्चिकप्रयोगेषु मन्तव्यम् । वृश्चिकपुच्छस्थानीयचरणं वृश्चिकमेतत्करणम् । तदुपलक्षितपादो वृश्चिकः । अस्याकाशगतौ च ऐरावणादिविषये प्रयोगः । यथा—"श्वेताभ्रभ्रान्तिकारी समवतरति रवादभ्रभूवल्लभोऽयम्" इति ॥ १०८ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'हस्तौ' में द्विवचन तथा 'पादः' में एकवचन का प्रयोग अङ्ग के अपरिहार को सूचित करते हैं । हाथ का बाहुशीर्ष अर्थात् कन्धे पर अञ्चन करने से 'करिहस्त' का प्रयोग सूचित होता है । करिहस्त का लक्षण है—

"यदि एक हाथ लताहस्त मुद्रा में एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विलोलित हो और दूसरा हाथ त्रिपाक हस्तमुद्रा में कान के ऊपर समुन्नत हो तो उसे 'करिहस्त' कहते हैं ॥ (ना० शा० ९।२००) ।

वृश्चिक करण के प्रयोग में सर्वत्र वृश्चिक प्रयोग दूरसन्नत पृष्ठ अर्थात् पृष्ठ-भाग दूरतक (अधिक) झुका हुआ हो ऐसा मानना चाहिए । वृश्चिक (विच्छू) के पूंछ के समान चरण की स्थिति होने से इस करण को 'वृश्चिक' कहते हैं । वृश्चिक के पुच्छ से उपलक्षित पाद को यहाँ वृश्चिक कहा है । इस करण का प्रयोग आकाश में गमन और ऐरावत आदि के विषय में होता है । जैसे—"श्वेताभ्रभ्रान्तिकारी समवतरति खादभ्रभूवल्लभोऽयम्" इत्यादि में ॥ १०८ ॥

विमर्श—इस करण में करिहस्त का प्रयोग होता है अर्थात् इस करण में दोनों हाथ लताहस्त मुद्रा में एक पार्श्व में विलोलित रहते हैं और एक पैर विच्छू की पूंछ के समान पीछे की ओर झुका हुआ तथा पृष्ठ भाग सन्नत होता है । कपिला वात्स्यायन के अनुसार दूसरा पैर सामने की ओर झुका हुआ होना चाहिए ।। १०८ ॥

४८—व्यंसित

अनुवाद—जहाँ पर आलीढ़ नामक स्थानक का प्रयोग हो और दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर रेचित करके ऊपर और नीचे की ओर विप्रकीर्ण (फैला हुआ) कर दिया जाय तो वहाँ 'व्यंसित' करण होता है ॥ १०९ ॥

२. ख. आलीढस्थानके ।

३. ख. घ. ऊर्ध्वाधौ विप्रकीर्णो च व्यंसितं तद्विदुर्बुधाः ।

२. क. नान्तरीयकं ।

हस्तौ तु स्वस्तिकौ पार्श्वे तथा पादो निकुट्टितः[1] ।

यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः [2]पार्श्वनिकुट्टितम् ।। ११० ।।

---

४८. व्यंसितम् ।

"मण्डले दक्षिणं पादं पञ्चतालान्प्रसार्य तु ।

आलीढं स्थानकं कुर्यात् ।।" (ना. शा. १०-६७)

एकस्य तर्जन्याद्युद्वेष्टितेन (ना. शा ९-२१६) करणेनाधो विप्रकीर्णता । [3]द्वितीयस्तर्जन्यादिपरावर्तितकरणेनोर्ध्वंगतः, क्षेत्रपर्यायेणैक उत्तानो हंसपक्षो द्रुतभ्रमलक्षणो रेचकम् । अपरोऽधोमुख ऊर्ध्वाध इत्येकीकरणम् । तच्च करणमुभयत्र सम्बध्यते । एतच्च विभ्रमादिपरिक्रमविषयम् । ।। १०९ ।।

अभिनव—नाट्यशास्त्र में आलीढ़ स्थानक का लक्षण निम्न प्रकार दिया गया है—

"यदि मण्डल स्थानक के अभिनय में दाहिने पैर को पाँच तालों के अन्तर पर फैला दिया जाय तो 'आलीढ़' स्थानक होता है।" (ना० शा० १०।६७)।

एक हाथ की तर्जनी आदि को उद्वेष्टित करने से विप्रकीर्ण हस्त चक्रगति से अधोगत अर्थात् नीचे की ओर चालित होता है और दूसरा हाथ तर्जनी आदि के परावर्त्तित करने से ऊर्ध्वगत (ऊपर की आर) होता है। क्षेत्रभेद के क्रम से एक हाथ उत्तान हंसपक्ष मुद्रा में रेचित होता है और दूसरा अधोमुख होता है। इस प्रकार ऊर्ध्वभाग और अधोभाग को मिलाना एकीकरण होता है। वह एकीकरण दोनों से सम्बन्धित होता है। इस करण का प्रयोग हनुमान् आदि के परिक्रमण में होता है ।। १०९ ।।

४९—पार्श्वनिकुट्टक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ स्वस्तिक मुद्रा में पार्श्व में स्थित रहते हैं और पैर निकुट्टित होते हैं, उसे विद्वान् लोग 'पार्श्वनिकुट्टित' करण समझें ।। ११० ।।

---

१. क. (टि०) पादौ निकुट्टितौ ।

२. ख. पार्श्वनिकुट्टनम् । घ. पार्श्वनिकुट्टकम्-भ. प. पादनिकुट्टकम । क-त. पादनिकुट्टितम् ।

३. क-म. भ. द्वितीयतर्जन्यादिपरावर्त्तितकरणेनार्थः ततः क्षेत्रपर्यायेणैते ।

४. क. हनुमदादि ।

वृश्चिकं[1] चरणं कृत्वा पादस्याङ्गुष्ठकेन तु ।
ललाटे तिलकं कुर्याल्ललाटतिलकं तु[2] तत् ॥ १११ ॥

४९. पार्श्वनिकुट्टकम् ।

"तावेव मणिबन्धान्ते" इति (ना. शा. ६-१८७) स्वस्तिकौ तथाशब्देन पार्श्वे तयोर्निकुट्टितत्वं पर्यायेणोच्यते[3] । तस्य तलमेव च पादस्य निकुट्टितत्वम् । पुनर्द्वितीयेनाङ्गेनेति पार्श्वगतहस्तनिकुट्टितयोगात् पार्श्वनिकुट्टितम् । [4]प्रकाशनसञ्चरणाभ्यासप्रधाने वाक्यार्थे चास्य प्रयोगः । यथा "पुण्णाव उडेहराभुइं कुहुएहमं······पेताहं (सहंसिपित") इत्यादौ ॥ ११० ॥

५०. ललाटतिलकम् ।

पादस्य तस्यैव पश्चाद्भागादितरस्याङ्गुष्ठेन तिलकं तिलकक्रियाहेतुभूतत्वेन लक्षितं संश्लेषं कुर्यादित्यादिकमेतत्करणं विद्याधरगतिविषये प्रयुज्यते । ॥ १११ ॥

अभिनव—"तावेव मणिबन्धान्ते" (ना० शा० ९।२१६) इसके अनुसार दोनों हाथ स्वस्तिक होते हैं। 'तथा' शब्द से पार्श्वभाग में दोनों पैरों का क्रमशः निकुट्टन होता है, कहा गया है। निकुट्टन का अर्थ है कि उस पैर के तल (पादतल) से निकुट्टित करे, फिर दूसरे अङ्ग से भी उसी प्रकार कुट्टन करें। इस प्रकार पार्श्वगत हाथों के निकुट्टन होने से इस करण का नाम 'पार्श्वनिकुट्टित' है। इस करण का विनियोग प्रकाशन, सञ्चरण के अभ्यास में किया जाता है ॥ ११० ॥

विमर्श—इस करण में दोनों हाथों को स्वस्तिक मुद्रा में रखकर एक को ऊर्ध्वमुख और दूसरे को अधोमुख करके पार्श्व में निकुट्टित करते हैं। अभिनव ने पार्श्वगत हाथ के साथ पादतल का क्रमशः निकुट्टन को स्वीकार किया है ॥ ११० ॥

५०—ललाटतिलक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर को वृश्चिक चरण में ले जाकर उसी पैर के अंगूठे से ललाट में तिलक किया जाय, तो विद्वान् लोग उसे 'ललाटतिलक' करण कहते हैं ॥ १११ ॥

---

१. ख. करणं ।

२. ख-घ. च तत् ।

३. क. (टि०) पर्यायेणाधोमुखत्वं लभ्येते ।

४. क. प्रकाशनसंवरणाहारप्रधाने । क. प्रकाशनसंवरणाभ्यासप्रधाने । प्रकाशनसंवरणाभ्यासप्रधाने ।

पृष्ठतः कुञ्चितं कृत्वा व्यतिक्रान्तक्रमं ततः[1]।
अक्षिप्तौ च करौ कार्यौ क्रान्तके करणे द्विजाः ॥ ११२ ॥

---

५१. क्रान्तकम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
उत्क्षिप्य पातयेच्चैनमतिक्रान्ता तु सा स्मृता ॥"

इति (ना. शा. १०-३०)

चारीं तां कृत्वा पात्यमानं चरणं कुञ्चितं स्थापयेत् । पृष्ठतः कुञ्चितं च समादाय क्रियान्तपरिक्रमेण प्रसारयेत् । हस्तौ विचार्य[2] व्यावर्तितकरणेन देहक्षेत्रान्निष्क्रान्तः पुनः परिवर्तितकरणेनाक्षिप्तः । स वक्षसि खटकामुखः । पुनरपरेणाङ्गेन प्रयोगः । उद्धतपरिक्रमेऽस्य प्रयोगः ॥ ११२ ॥

अभिनव– वृश्चिकपाद के पृष्ठभाग से भिन्न अंगूठे से तिलक करे अर्थात् तिलक क्रिया में पैर को घुमाकर पीछे की ओर इस प्रकार ले जाते हैं कि पैर के अंगूठे से मस्तक का स्पर्श हो जाय । यहाँ तिलक करने के लिए तिलक क्रिया के हेतुभूत अंगुलि संश्लेष (स्पर्श) करे । इस करण का विनियोग विद्याधर की गति के अभिनय में किया जाता है ॥ १११ ॥

५१—क्रान्तक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर को पीछे की ओर कुञ्चित करके फिर अतिक्रान्ता चारी में प्रसारित करे और हाथों को आक्षिप्त करे अर्थात् हाथों को नीचे की ओर पटके तो वहाँ 'क्रान्तक' नामक करण होता है ॥ ११२ ॥

अभिनव—अतिक्रान्ताचारी का लक्षण निम्नप्रकार है—

"यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर सामने की ओर फैला दे । फिर उसे ऊपर की ओर ले जाकर नीचे भूमि पर गिरा दे तो अतिक्रान्ता चारी होती है ।"

(ना० शा० १०।३०) ॥

अतिक्रान्ता चारी को करके पात्यमान (गिराये जाने वाले) चरण को कुञ्चित अवस्था में स्थापित करे । फिर पीछे से कुञ्चित पैर को उठाकर दूसरी क्रिया से घुमाकर फैला दे, फिर दोनो हाथों को व्यावर्त्तित करके शरीर के क्षेत्र से बाहर निकाल कर फिर परिवर्त्तित करण के द्वारा आक्षिप्त करके खटकामुख मुद्रा में वक्षस्थल पर स्थापित करे । इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से भी करे । उद्धत नृत्य में इस करण का विनियोग होता है ॥ ११२ ॥

---

१. ख-घ. पृष्ठतः कुञ्चितं कुर्यादतिक्रान्तं समन्ततः ।
२. क. विचाल्य ।

आद्यः[1] पादो नतः कार्यः सव्यहस्तश्च कुञ्चितः ।
उत्तानो [2]वामपार्श्वस्थस्तत्कुञ्चितमुदाहृतम् ॥ ११३ ॥
प्रलम्बिताभ्यां बाहुभ्यां यद्गात्रेणानतेन च ।
[3]अभ्यन्तरापविद्धः स्यात्तज्ज्ञेयं चक्रमण्डलम् ॥ ११४ ॥

---

५२. कुञ्चितम् ।

आद्यो नत इति जानुगमनेन भूतलसञ्चरो[4] लक्ष्यते । दक्षिणहस्तश्च कुञ्चितः उत्तानालपल्लवरूपो वामपार्श्वे विधेयः । तदेतन्निर्भरानन्दपूर्णदेवस्याभिनयविषये प्रयोक्तव्यम् । यथा "देहसुभाइउं मकरकलिअणुकापालविद्वेइचळणं धिआइं" इत्यादौ ॥ ११३ ॥

५२–कुञ्चित

अनुवाद—जहां पर दाहिने पैर को नत (झुका हुआ) रखे और बायें हाथ को कुञ्चित मुद्रा में उत्तान करके बायें पार्श्व (वामभाग) में रख दिया जाय, वहाँ 'कुञ्चित' करण होता है ॥ ११३ ।

अभिनव—'आद्यो नतः' अर्थात् आद्य पाद झुका हुआ हो, इस कथन से ज्ञात होता है कि जानुके गमन से भूमि पर सञ्चर अग्रतलसञ्चर लक्षित होता है। दाहिना हाथ कुञ्चित मुद्रा में उत्तान करके अलपल्लव हस्तमुद्रा में वामपार्श्व में रखना चाहिए । इस करण का प्रयोग पूर्ण आनन्द से युक्त देवता के अभिनय में होता है । जैसे—देहसुभाइडं' इत्यादि में ॥ ११३ ॥

विमर्श—इस करण में एक पैर झुक कर पीछे की ओर मुड़ा होता है । जानु का भूतल पर सञ्चरण होता है, दूसरा पैर समपाद स्थिति में आगे की हो झुका होता है, दाहिना हाथ वामपार्श्व में उत्तान होकर अलपल्लव मुद्रा में स्थित रहता है ॥ ११३ ॥

५३—चक्रमण्डल

अनुवाद—जिसमें दोनों भुजाएँ प्रलम्बित (लटकती हुई) हों और झुके हुए शरीर के द्वारा अपविद्ध अर्थात् अड्डिता चारी का प्रयोग हो, तो उसे 'चक्रमण्डल' करण कहा जाता है ॥ ११४ ॥

---

१. ख-घ. पादोऽञ्चितः ।
२. ख-घ. वामपार्श्वश्च ।
३. ख. अभ्यन्तरापविद्धा । ग. अभ्यन्तरापविद्धम् ।
४. क. जानुगमनेनाग्रतलसञ्चरो ।

[1]स्वस्तिकापसृतौ पादावपविद्धक्रमौ यदा ।
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलिकन्तु तत् ॥ ११५ ॥

५३. चक्रमण्डलम् ।

अड्डिता चात्रादौ चारी ।

"अग्रतः पृष्ठतो वाऽपि पादोऽग्रतलसञ्चरः ।
द्वितीयपादनिर्घृष्टो यस्यां स्यादड्डिता तु सा ॥"
(ना. शा. १०-२३)

[2]उद्धतपरिक्रमपरिष्करणादिविषये चैतत् ॥ ११४ ॥

५४. उरोमण्डलम् ।

"भूमिघृष्टेन पादेन कृत्वाभ्यन्तरमण्डलम् ।
पुनरुत्सारयेदन्यं[3] स्थितावर्ता तु सा स्मृता ॥"
(ना. शा. १०-१५)

इत्यनया चार्याऽपसारणं स्वस्तिकस्य कार्यम् । बद्धाचार्यात्वादावस्थानमित्युक्तं भवति ।

अभिनव—यहाँ पर अड्डिता चारी का प्रयोग होता है। अड्डिता चारी का लक्षण है—

"जहाँ पर अग्रतलसञ्चर पाद कभी आगे और कभी पीछे की ओर स्थित हो द्वितीयपाद का घर्षण हो तो 'अड्डिता' चारी होती है।" (ना० शा० १०।२३)।

इस करण का प्रयोग उद्धत परिक्रमण के अभिनय ये होता है ॥ ११४ ॥

५४—उरोमण्डल

अनुवाद—यदि स्वस्तिक मुद्रा में दोनों पैरों को आगे की ओर करके अपविद्ध चारी में रखे और दोनों हाथों को 'उरोमण्डल' मुद्रा में रखे तो 'उरोमण्डल' नामक करण होता है ॥ ११५ ॥

---

१. क-न. म. उद्वेष्टिततलौ हस्तावपविद्धक्रमौ यतः ।
मण्डलं च शिरो ज्ञेयमुरोमण्डलमेव तत् ॥
ख. स्वस्तिकापसृतौ पादौ पादावर्धक्रमौ यदा ।
उरोमण्डलिको हस्तः उरोमण्डलकं तु तत् ॥
ग. स्वस्तिकापसृतौ पादाऽपविद्धकमौ यदा ।
उरोमण्डलिको हस्तः उरोमण्डलिकं तु तत् ॥

२. क. उद्धतपरिक्रमादिविषये ।

३. क-म. भ. पुनरुत्सादयेत्पादं ।

आक्षिप्तं हस्तापादं[1] च क्रियते यत्र वेगतः ।
[2]आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तत्द्विजोत्तमाः ॥ ११६ ॥

"अन्योन्यजङ् घासंवेधात्कृत्वा तु स्वस्तिकं ततः ।
ऊरुभ्यां वलनम्" इति (ना. शा. १०-२१)
तस्या रूपं स्वस्तिकसंस्थानाक्षिप्तम् ।
उद्वेष्टितो भवेदेको द्वितीयश्चापवेष्टितः ।
भ्रमितावुरसः स्थाने ह्यु रोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥"
(ना. शा. ४-२०९) ॥ ११५ ॥

५५. आक्षिप्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्याञ्चितम्" । इति (ना. शा. १०-३७)
आक्षिप्तया पादचार्या पार्श्वस्य किञ्चिन्नमनेन हस्तस्य चतुरश्रस्य खटकामुख्याक्षेपः इति विदूषकगतिविषयमाक्षिप्तकरणम् ॥ ११६ ॥

अभिनव—"यदि एक अग्रतलसञ्चर पैर को भूमि पर घर्षित करते हुए अभ्यन्तर मण्डल करके दूसरे पैर को पुनः उत्सारण करे तो वहाँ 'स्थितावर्त्ता' चारी होती।" (ना० शा० १०।१५)।

इस प्रकार इस चारी के द्वारा स्वस्तिक पैर का अपसारण (आगे की ओर हटाना) करना चाहिए। बद्धाचारी के द्वारा तो पहिले उसका अवस्थान कहा गया है। बद्धाचारी का लक्षण—

"दोनो जंघाओं के परस्पर योग से स्वस्तिक बनाकर उरुओं का जहाँ पर बलन (संचरण) हो, वहाँ बद्धा चारी होती ॥" (ना० शा० १०।२१)।

बद्धा चारी का स्वरूप स्वस्तिक संस्थान (स्वस्तिक मुद्रा में स्थिति) के रूप में आक्षिप्त है। अर्थात् जंघाओं का स्वस्तिक स्थिति ही बद्धाचारी है।

"जहाँ पर एक हाथ उद्वेष्टित हो और दूसरा हाथ अपवेष्टित (नीचे झुका हुआ) हो फिर दोनो को वक्षःस्थल पर घुमाया जाय तो उरोमण्डली' हस्त कहा जाता है।" (ना० शा० ९।२०३)

५५—आक्षिप्त

अनुवाद—**जहाँ पर वेग से हाथ और पैरों को आक्षिप्त किया जाय अर्थात् इधर-उधर झटक कर फेंका जाय, हे श्रेष्ठद्विजों ! वहाँ 'आक्षिप्त' नामक करण होता है ॥ ११६ ॥**

---

१. ख-घ. आक्षिप्तहस्तपादं च । क. (टि०) आक्षिप्तहस्तपादौ तु ।
२. ख-घ. आक्षिप्तं करणं नाम तद्विज्ञेयं द्विजर्षभाः ।

ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादः [1]पार्श्वेनोर्ध्वं प्रसारितः[2] ।
प्रकुर्यादञ्चिततलौ हस्तौ तलविलासिते ॥ ११७ ॥
पृष्ठतः प्रसृतः पादो द्वौ [3]तालावर्धमेव च ।
[4]तस्यैव चानुगो हस्तः पुरतस्त्वर्गलं तु तत् ॥ ११८ ॥

---

५६. तलविलसितम् ।

तेनैवोर्ध्वगतेन पादेन सहाञ्चिततलो वा श्लिष्टतलत्वात्कर्तव्यः । द्विवचनात्पर्यायेण द्वितीयेनाङ्गेन प्रयोगोऽभ्यासेन वा । पताकौ हस्तौ परस्परोपसंश्लिष्टाविति पादतलस्य हस्ततलस्य च विकृष्टे देशे आकाशे लसितं श्लेषणं यत्र तलविलसितम् । पादोद्धारसंज्ञया सूत्रधारादिविषये नाट्याचार्या योजयन्ति । ॥ ११७ ॥

अभिनव—'कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर अञ्चित करना आक्षिप्ता चारी होती है (ना० शा० १०।३७) ।

आक्षिप्ता नामक पादचारी के द्वारा पार्श्व (बगल) में थोड़ा झुकाने से चतुरस्र 'खटकामुख' हस्त का आक्षेप किया जाता है । इस प्रकार विदूषक की गति के विषय में इस चारी का प्रयोग होता है ॥ ११६ ॥

५६—तलविलसितम्

अनुवाद—जहाँ पर ऊपर उठी हुई अङ्गुलियों एवं तलवे वाले पैर को बगल में ऊपर की ओर फैलाया जाय और हथेलियों को अञ्चित करके रखा जाय वहाँ 'तलविलसित' करण होता है ॥ ११७ ॥

अभिनव—इस करण में ऊर्ध्वगत (ऊपर उठाए हुए अंगुलियों एवं तलवे वाले) पैर के साथ हाथ को अञ्चिततल स्थिति में रखना चाहिए अथवा श्लिष्ट अवस्था में रखे । 'हस्तौ' में द्विवचन के प्रयोग से यह सूचित होता है कि क्रम से दूसरे अङ्ग (हाथ) से भी अथवा अभ्यास से प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार पताक हस्तों को परस्पर संश्लिष्ट करते हैं, अतः पादतल और हस्ततल (हथेली) का विकृष्ट देश आकाश में संश्लिष्ट करने (मिलाने) के कारण इसे 'तलविलसित' करण कहते हैं । नाट्याचार्य इस करण की योजना सूत्रधार आदि के अभिनय में पादोद्धार नाम से करते हैं ॥ ११७ ॥

---

१. ख. पार्श्वेणोर्ध्वं प्रसारितः ।

२. क-प. समुच्छ्रितः, क-न. समुत्थितः । क-त. समागतम् ।

३. ख. द्वौ तलावूर्ध्वमेव च ।

४. ख-घ. तस्यैवानुगतो हस्तः । क-घ. आस्ये चानुगतो हस्तः ।

५७. अर्गलम् ।

[1]द्वितीयचरणकनिष्ठाभागे सार्द्धत्तालद्वयजङ्घः सन् पादः प्रसृतो भवति। एतत्समकालं च स्तब्धबाहुद्वितीयं पार्श्वक्षेत्रं किञ्चिदग्रप्रसृतोऽलपल्लवाकारः करः तदन्तर्गतमर्गलयेत्। देहस्य (नियन्त्रणात् अर्गलम्। परिक्रमे चैतदङ्गदप्रभृतीनां भवति ।। ११८ ।।

५७—अर्गल

अनुवाद—जहाँ पर पैर पीछे की ओर अढ़ाई (२½) ताल के अन्तर पर फैला दिया जाय और हाथ को भी उसी के अनुसार सामने की ओर फैला दिया जाय तो 'अर्गल' नामक करण होता है ।। ११८ ।।

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में द्वितीय पाद अर्थात् बायें पैर की कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्रभाग पर 'सार्धताल' नामक जंघा वाला अथवा ढाई (२½) ताल के अन्तर पर स्थित पैर फैला हुआ होता है। इसी समय स्तब्ध (निश्चल) भुजा वाला बायां हाथ अलपल्लव मुद्रा में द्वितीय पार्श्व भाग में आगे की ओर कुछ फैला दिया जाय। इस प्रकार शरीर के नियन्त्रण कर देने से 'अर्गल' करण होता है। इस करण का प्रयोग अङ्गद प्रभृति वानरों के अभिनय में होता है ।। ११८ ।।

विमर्शः—इस करण में बायें पैर की कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्रभाग में दायें पैर को अवस्थित किया जाता है। दूसरे पैर की जंघा स्तब्ध (निश्चल) रहती है और पैर ढाई (२½) ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। इसके बाद निश्चल भुजावाले बायें हाथ को अपने बगल में अलपल्लव मुद्रा में आगे की ओर कुछ प्रसृत किया जाता है।। अभिनवभारती में 'सार्धतालाह्वजङ्घः' पाठ मिलता है जिसका अर्थ होता है 'सार्धताल नामक जङ्घा वाला'। किन्तु सार्धताल नामक कोई जंघा नहीं होती, अतः यहाँ पर 'सार्धात्तालद्वयजङ्घः, पाठ मानना अधिक उपयुक्त है। जिसका अर्थ होता है कि जांघों का ढाई ताल का अन्तर। संगीतरत्नाकर में 'सार्धतालन्द्वितय' पाठ है जो इसी अर्थ को पुष्ट करता है। संगीतरत्नाकर के अनुसार 'अर्गल' करण का लक्षण है कि 'जहां पर बायें पैर की कनिष्ठिका अंगुली के अग्रभाग पर निश्चल जंघा वालों दायां पैर ढाई ताल के अन्तर पर फैलाया जाता है। उसी प्रकार निश्चल भुजा वाला दाहिना हाथ बायें बगल (वामपार्श्वं) में अलपल्लव मुद्रा में आगे की ओर कुछ फैलाया आता है।' इसी

---

१. 'क' (गा० ओ० सि०) पुस्तके 'द्वितीयचरणकनिष्ठाभङ्गे सार्धान्तालाह्वजङ्घः सन् पादः प्रसृतो भवति' इति पाठः।

विक्षिप्तं हस्तपादं च[1] पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा[2] ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम् ॥ ११९ ॥
प्रसार्य कुञ्चितं पादं पुनरावर्तयेत् द्रुतम्[3] ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ [4]तदावर्तमुदाहृतम् ॥ १२० ॥

---

५८. विक्षिप्तम् ।

वा ग्रहणं चार्थे । तेन विद्युद्भ्रान्तादण्डपादाभ्यां (ना शा. १०-४०-४९) चारीभ्यामुद्वेष्टितापवेष्टितरेचकवर्तनया पार्श्वयोः पृष्ठेऽग्रे च हस्तपादविक्षेपः । इदमुद्धतगतिपरिक्रमसूचनादिविषयम् ॥ ११९ ॥

प्रकार अशोकमल्ल के नृत्याध्याय में 'स्तब्धजंघः सार्धतालद्वयान्तरे' पाठ मिलता है । अतः अभिनवभारती में 'सार्धान्तालाह्वजंघः' के स्थान पर 'सार्धात्तालद्वयजङ्घः' पाठ रख देने से अर्थसंगति बैठ जाती है ॥ ११७ ॥

५८—विक्षिप्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ और पैर पीछे की ओर तथा पार्श्व (बगल) की ओर एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाते हैं, उसे 'विक्षिप्त' करण कहते हैं ॥ ११९ ॥

अभिनव—इस श्लोक में 'पार्श्वतोऽपि वा' का ग्रहण चकार अर्थ में है । इसमें विद्युद्भ्रान्त ओर दण्डपादचारी के द्वारा उद्वेष्टित और अपवेष्टित तथा रेचित अवर्त्तन प्रक्रिया के साथ (रेचक हस्त की वर्त्तना के साथ) आगे, पीछे तथा दोनों पार्श्वों में हाथ और पैरों को फेंका जाता है । इस करण का प्रयोग उद्धत गति से चलन में किया जाता है ॥ ११९ ॥

५९—आवर्त्त

अनुवाद—जहाँ पर कुञ्चित पैर को फैलाकर फिर शीघ्रता (तेजी) से आवर्त्तित अर्थात् घुमाकर लौटा ले और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार संचालित करे, उसे 'आवर्त्त' नामक करण कहते हैं ॥ १२० ॥

१- ख. तु ।

२. ख-घ. पार्श्वतोऽथवा ।

३. क-च. पुर आवर्त्तयेत् क्रमात् । क-त पुर आवर्त्तयेद् द्रुतम् ।

४. ख-घ. तदावृत्तमुदाहृतम् । क-म. तदावर्तितमुच्यते ।

कुञ्चितं [1]पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं तु डोलयेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ डोलापादं तदुच्यते[2] ॥ १२१ ॥

---

५९. आवर्तम् ।

"पादः प्रसारितः सव्यः पुनश्चैवापसर्पितः ।
वामः सव्योपसर्पी च चाषगत्याम् । इति ॥" (ना. शा. १०-१८)

चाषगत्या चार्या प्रयोगः । हस्तौ च किञ्चिदुद्वेष्टितापवेष्टितरूपौ दोलावेवेति आ ईषत् वर्तनं हस्तपादस्य यत्र तदिदमावर्तकरणम् । एतन्नायकोपसर्पणे सागरिकापाशबन्धाद्यवसरे प्रयोज्यम् ॥ १२० ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में चाषगति चारी का लक्षण निम्नप्रकार बताया गया है—

"जहाँ पर दाहिने पैर को पहिले फैलाकर फिर अपसर्पण कर लिया जाता है अर्थात् पीछे हटाया जाता है। इसी प्रकार बायें पैर का भी दाहिने पैर के अनुसार अपसर्पण करना अर्थात् पीछे की ओर हटाकर फिर आगे बढ़ाना चाषगति चारी कही कही जाती है।" (ना० शा० १०।१८) ।

इस करण में चाषगति चारी का प्रयोग होता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित और अपवेष्टित स्थिति में सञ्चालित होते हैं तथा हाथ और पैर का थोड़ा वर्त्तन अर्थात् चक्राकार घुमाव होता है, इसलिए इसे 'आवर्त्त' करण कहते हैं। इस करण का प्रयोग नायक के उपसर्पण तथा सागरिका के पाशबन्ध के अवसर पर किया जाता है ॥ १२० ॥

विमर्श—'आवर्त्त' नामक करण के अभिनय में चाषगति चारी का प्रयोग होता है। इसमें दाहिने पैर को आगे फैलाकर फिर पीछे हटाया जाता है। इसी प्रकार बायें पैर को पीछे हटाकर फिर आगे की ओर बढ़ाया जाता है। फिर दोनों हाथों का उद्वेष्टित (खोलना) और अपवेष्टित (बन्द करना) रूप में संचालन होता है और हाथ-पैर चक्रगति से घूमते हैं। इस करण का प्रयोग भय से पीछे हटने के अभिनय में होता है ॥ १२० ॥

६०—डोलापाद

अनुवाद—जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में दोलित किया (झुलाया) जाता है और दोनों हाथों कों उसी प्रकार संचालित किया जाता है, वह 'दोलापाद' करण कहा जाता है ॥ १२१ ॥

---

१. क-च. पादमुप्क्षिप्तं ।

२. ख-घ. दोलपादं प्रकीर्तितम् । क-च. तदुक्तं दोलपादकम् ।

आक्षिप्तं [1]हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तयेत्[2] ।
रेचितौ च तथा हस्तौ विवृत्ते[3] करणे द्विजाः ।। १२२ ।।

६०. डोलापादम् ।

पूर्वमूर्ध्वजानुचारी । (ना. शा. १०-३३) ततो दोलापादा ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं विलोलयेत् ।
पातयेदञ्चितं चैव दोलापादा ।। (ना. शा. १०-३६)

डोलाहस्तावेव (ना. शा. ९-१४८) प्रयोगवशगौ इति डोलापादं करणम् ।। १२१ ।।

अभिनव—डोलापाद करण में पहिले ऊर्ध्वजानु चारी फिर उसके बाद दोलापाद चारी का प्रयोग होता है । दोलापाद चारी का लक्षण है—

"यदि कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में दोलित किया जाय अर्थात् झुलाया जाय और फिर अञ्चित कर भूमि पर गिरा दिया जाय तो 'दोलापाद' चारी होती हैं ।" (ना० शा० १०।३६) ।

इस डोलापाद करण में प्रयोग के अनुसार 'डोलाहस्त' रहता है अतः इसे 'डोलाहस्त' करण कहते हैं ।। १२१ ।।

विमर्श—डोलाहस्त नामक करण में पहिले ऊर्ध्वजानु चारी का प्रयोग होता है अर्थात् कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु को वक्षःस्थल के समान कक्ष में रखा जाता है । फिर दूसरे पैर को क्रम से स्थिर रखा जाता है । इसके बाद दोलापादचारी का प्रयोग होता है, अर्थात् कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में झुलाया जाता है, फिर अञ्चित करके गिराते हैं । फिर पैरों के अनुसार हाथों को भी डोलाहस्त मुद्रा में रखा जाता है ।। १२१ ।।

६१—विवृत्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ और पैर को आक्षिप्त किया जाय अर्थात् जहाँ पर हाथ और पैर को बाहर की ओर फेंका जाय, त्रिक का विवर्त्तन करे अर्थात् चारों ओर घुमाये तथा दोनों हाथों को रेचित करें, वह 'विवृत्त' करण कहलाता है ।। १२२ ।।

---

१. क-म. आक्षिप्तं चक्रपादं च । क-म. आक्षिप्तहस्तपादं च ।

२. ख-घ. त्रिकं च विवर्तितम् । क-च. त्रिकं च परिवर्त्तयेत् ।
क-छ. त्रिकं च विनिर्वर्त्तितम् ।

३. क-ठ त-म. निवृत्ते । क-च. विवृते ।

सूचीविद्धं विधायाथ त्रिकं तु विनिवर्तयेत्[1] ।
करौ च[2] रेचितौ कार्यौ विनिवृत्ते द्विजोत्तमाः ॥ १२३ ॥

---

६१. विवृत्तम् ।

आक्षिप्य वामपादमाक्षिप्य स्वदेहक्षेत्रादपसारितवृत्त्याऽऽवर्त्य हस्तं च व्यावर्तितपरिवर्तिताभ्यां तथैवाक्षिप्य त्रिकं भ्रमरिकया (ना. शा. १०-४५) वलयेत्। तद्रेचितौ च हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ हस्ताविति त्रिकविवर्तनयोगात् विवृत्तम् । अस्योद्धतगतिपरिक्रमे प्रयोगः ॥ १२२ ॥

६२. विनिवृत्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची ॥" (ना. शा. १०-३४)

अभिनव—इस करण में आक्षिप्ता चारी के द्वारा बांये पैर को आक्षिप्त करके अर्थात् उछालकर अपने शरीर के क्षेत्र से बाहर निकालकर अपसारित वृत्ति से घुमाकर और हाथ को व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित क्रिया के द्वारा उसी प्रकार आक्षिप्त करके फिर भ्रमरी चारी के द्वारा त्रिक को घुमाये। फिर दोनो हाथों को रेचित अर्थात् हंसपक्ष द्रुतभ्रम मुद्रा में संचालित करे। इस प्रकार त्रिक को घुमाकर संचालित करने के कारण इस करण को 'विवृत्त' करण कहते हैं। उद्धत गति के परिक्रमण करने के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १२२ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार इस करण में हाथ और पैर दोनों को आक्षिप्त कर त्रिक का विवर्त्तन किया जाता है तथा दोनों हाथों को रेचित किया जाता है, किन्तु अभिनवगुप्त 'हस्तपादं' के स्थान पर 'वामपादं' पाठ मानकर उसका अर्थ करते हैं कि इस करण में आक्षिप्ताचारी के द्वारा बायें पैर का आक्षेपण करके शरीर की सीमा से बाहर निकालकर हाथों को चक्राकार गति से व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित रूप में आक्षिप्त करके भ्रमरी चारी के द्वारा त्रिक को घुमाते हैं और हाथों को रेचित करते हैं ॥ १२२ ॥

६२—विनिवृत्त

अनुवाद—जहाँ पर सूचीविद्ध चारी का प्रयोग करके त्रिक को चारों ओर घुमाते हैं और दोनों हाथो को रेचित क्रिया के द्वारा संचालित करते हैं, उसे 'विनिवृत्त' करण कहते हैं ॥ १२३ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में सूची का लक्षण निम्नप्रकार दिया है—

"यदि कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु के ऊपर लेजाकर फैला दे, फिर अग्रभाग से उसे नीचे गिरा दे तो 'सूची' चारी कहलाती है," (ना० शा० १०।३४)।

---

१. क-त. परिवर्त्तयेत् । २. ख-घ. करौ तु ।

[1]पार्श्वक्रान्तक्रमं कृत्वा [2]पुरस्तादथ पातयेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ [3]पार्श्वक्रान्तं तदुच्यते ॥ १२४ ॥

चार्या द्वितीयं पादं पार्ष्णिभागे स्वस्तिकयोजनया विद्धाचार्या[4] त्रिकस्यैकपार्श्वे विवर्तनस्य प्रत्यावर्तनक्रमेण निर्वृत्तिं कुर्यात् । "अन्योन्योन्यजङ्घावेधेन बद्धया" (ना. शा. १०-२४) वा चार्योरुवलनं कुर्यात् । हस्तौ च रेचितौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ । उक्तं एवास्य प्रयोगः (विवृत्तवत्) ॥ १२३ ॥

६३. पार्श्वक्रान्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वस्थाने स्थितं न्यसेत् ।"
(ना. शा. १०-३२)

इति पार्श्वक्रान्ता चारी । तयाऽग्रे चरणं पातयेत् । हस्तयोश्च पादप्रयोगानुसारेण पर्यायेण पुरः प्रसारणम् । यदि वा प्रयुज्यत इति प्रयोगः गतिप्रचारयुद्धादिः । तत्र पादावुचितौ हस्तावित्येवं सर्वत्र । एतच्च रौद्रप्रधाने भीमसेनादेः परिक्रमे ॥ १२४ ॥

इस सूची चारी के द्वारा दूसरे पैर के पार्ष्णिभाग (एड़ी) में स्वस्तिक की रचना करे, फिर बद्धाचारी के द्वारा त्रिक (कटिप्रदेश) के एक पार्श्व में व्यावर्त्तन एवं प्रत्यावर्त्तन क्रम से निवृत्ति करे। जङ्घाओं के परस्पर वेध से (मिलन से) निष्पन्न बद्धाचारी से ऊरु (जंघाओं) का वलन करे, फिर दोनों हंसपक्ष द्रुतभ्रम संज्ञक हाथों को रेचित करे अर्थात् शीघ्रता से चक्राकार घुमाये। इस करण का प्रयोग विवृत्त करण की तरह होता है ॥ १२३ ॥

६३—पार्श्वक्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पार्श्वक्रान्त चारी का प्रयोग करके पैरों को आगे की ओर गिरा दे और दोनो हाथों को प्रयोग के अनुसार आगे की ओर संचालित करे, वहाँ 'पार्श्वक्रान्त' करण होता है ॥ १२४ ॥

अभिनव—"कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उठाकर पार्श्वभाग में संस्थित करे" (ना० शा० १०।३२)। इसको पार्श्वक्रान्ता चारी कहते हैं। उस पार्श्वक्रान्ता चारी के द्वारा आगे की ओर एक पैर को गिराये अर्थात् भूमि पर पटके और दोनों हाथों को पैरों के प्रयोग के अनुसरण पर क्रम से आगे की ओर फैलाये। अथवा जो

१. ख. पार्श्वजानुक्रमं कृत्वा । क-ठ. म. पार्श्वक्रान्तं त्रिकं कृत्वा ।

२. क-ठ. म. पुरस्तात् सम्प्रसारयेत् ।

३. ख-घ. पार्श्वक्रान्तमुदाहृतम् ।

४. ज. विद्धाध्वा ।

पृष्ठतः [1]कुञ्चितः पादो वक्षश्चैव समुन्नतम् ।
तिलके च करः स्थाप्यस्तन्निस्तम्भितमुच्यते[2] ॥ १२५ ॥
पृष्ठतो वलितं पादं शिरोधृष्टं प्रसारयेत् ।
[3]सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्तं तदुच्यते ॥ १२६ ॥

---

६४. निस्तम्भितम् ।

द्वितीयपादस्य पृष्ठे पार्ष्णिभागे कुञ्चितः । समुन्नतमिति । निर्भुग्नं स्तब्धं च निम्नपृष्ठं चेति । खटकामुखः कर इति तदेतद्देशो मध्यमाङ्गुलिरूपो[4] ललाटे तिलकवदिति । पादेन भुव आघातान्निस्तम्भितं महेश्वराभिनयविषयम् । वृश्चिकोऽत्र पाद इत्येके ॥ १२५ ॥

प्रयोग किया जाता है वह प्रयोग है—जैसे गति-प्रचार, युद्ध आदि । उनमें सब जगह हाथ और पैरों का उचित प्रयोग करे । रौद्रप्रधान भीमसेन आदि के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १२४ ॥

६५—निस्तम्भित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर पृष्ठ भाग में कुञ्चित रखे, वक्षःस्थल को समुन्नत करे तथा तिलक के स्थान ललाट पर एक हाथ तिलक लगाने की मुद्रा में रखे वहाँ 'निस्तम्भित' करण होता है ॥ १२५ ॥

अभिनव—इस करण में एक कुञ्चित पैर दूसरे पैर के पृष्ठभाग एड़ी पर रखा जाता है । समुन्नत का अर्थ है कि वक्षःस्थल को निर्भुग्न अर्थात् स्तब्ध (स्थिर) एवं निम्नपृष्ठ करे । खटकामुख मुद्रा में स्थित हाथ की मध्यमा अङ्गुली से ललाट पर तिलक लगाने के समान स्थित हो । पैर से भूमि पर आघात करने से निस्तम्भित होता है । इस करण का प्रयोग महेश्वर शिव के अभिनय में होता है । कुछ आचार्यों के अनुसार यह पैर वृश्चिक चरण मुद्रा में न्यस्त किया जाता है ॥ १२५ ॥

विमर्श—इस करण में कुञ्चित पाद पीछे की ओर मुड़ा होता है, वक्षःस्थल निर्भुग्न और पार्श्व उन्नत होता है तथा खटकामुख मुद्रा में हाथ की मध्यमा अंगुली से ललाट पर तिलक किये जाने का अभिनय होता है । संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में इसे 'निशुम्भित' नाम से अभिहित किया गया है । दोनों का लक्षण समान है ॥ १२५ ॥

---

१. ख-ष. कुञ्चितौ पादौ ।

२. म-घ. निशुम्भितमुच्यते । ख. निसुम्भितमुच्यते ।

३. क-म. भ. मध्यमाङ्गुलिस्थे ।

४. ख. घ. हस्तौ च मण्डलाविद्धौ । ख-क. सर्वतोमण्डलाबद्धं ।

अतिक्रान्तक्रमं[1] कृत्वा पुरस्तात्संप्रसारयेत्[2] ।
प्रयोगवशगौ हस्तावतिक्रान्ते प्रकीर्तितो ॥ १२७ ॥

६५. विद्युद्भ्रान्तम् ।

पृष्ठत ऊरुमूलदेशात्प्रभृति वलितं चक्रवद्भ्रामितं तत एव प्रयोक्तुः शिरःक्षेत्रेण श्लिष्टं सर्वतो मण्डलगत्या आख्यया आविद्धं चतुरं कृत्वा प्रसारयेत् । प्रकर्षेण स [3]सर्वदिक्षु पर्यायेण सारयेत् । तत्पदस्य विद्युत उद्भ्रमणाद्विद्युद्भ्रान्तमुद्धतगतिपरिक्रमादिविषयम् ॥ १२६ ॥

६६. अतिक्रान्तम् ।

अतिक्रान्ता चारी (ना. शा. १०-३०) व्याख्याता । पुरस्तादिति स्वदेहस्याग्रेण । एतदपि गतिपरिक्रमादिविषयमेव । एवमन्यस्यापि यस्याभिनयविषयो नोपयोगस्तस्य विषयो मन्तव्यः ॥ १२७ ॥

६५—विद्युद्भ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पैर को पीछे की ओर से घुमाकर शिर (मस्तक) का स्पर्श करता हुआ प्रसारित करे तथा हाथ को मण्डल तथा आविद्ध मुद्राओं में संचालित करे वहाँ 'विद्युद्भ्रान्त' नामक करण होता है ॥ १२६ ॥

अभिनव—जहाँ पर पैर को पीछे की ओर से उरु प्रदेश अर्थात् जङ्घा के क्षेत्र से लेकर चक्र के समान घुमाये फिर प्रयोक्ता के शिरःक्षेत्र से श्लिष्ट होता हुआ सर्वतोमण्डल गति से आविद्ध कर फैला दे। अर्थात् प्रकृष्ट रूप से सभी दिशाओं में क्रम से फैला दे। इस प्रकार विद्युत् के समान ऊपर की ओर घुमा देने से विद्युद्भ्रान्त करण होता है। इस करण का प्रयोग उद्धत गति से परिक्रमण में किया जाता है ॥ १२६ ॥

विमर्श—इस करण में विद्युद्भ्रान्ता चारी का प्रयोग होता हे इसमें एक पैर को पीछे की ओर ले जाकर इस प्रकार फैलाये कि वह शिर का स्पर्श करे और बाहुओं को मण्डलगति से आविद्ध करके संचालित करते हैं ॥ १२६ ॥

६६—अतिक्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पैरों को अतिक्रान्ता चारी में रखकर एक पैर को आगे की ओर फैलाये और दोनों हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार (पैरों की गति के अनुसार) संचालित करे, वहाँ पर 'अतिक्रान्त' करण होता है ॥ १२७॥

---

१. ग. अतिक्रान्तं क्रमं ।
२. क-च. पुरस्तात्संप्रयोजयेत् ।
३. क. सर्वादिषु ।

आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तितम् ।
[1]द्वितीयो रेचितो हस्तो विवर्तितकमेव तत् ॥ १२८ ॥
[2]कर्णेऽञ्चितः करो वामो लताहस्तश्च दक्षिणः ।
[3]दोलापादस्तथा चैव गजक्रीडितकं[4] भवेत् ॥ १२९ ॥

६७. विवर्तितकम् ।

आक्षिप्तहस्तापेक्षया द्वितीयो हस्तः । तं हंसपक्षद्रुतभ्रमक्रमं कुर्यात् ॥ १२८ ॥

अभिनव—अतिक्रान्ता चारी का लक्षण नाट्यशास्त्र के दशवें अध्याय में बताया गया है जिसमें कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उठाकर सामने फैलाया जाता है फिर ऊपर करके नीचे गिराया जाता है। इस प्रकार इस करण में पैर को ऊपर उठाकर शरीर के आगे की ओर फैलाते हैं और पैरों की गति के अनुसार हाथों का संचालन करते हैं। इस करण का प्रयोग गति, परिक्रमा आदि के अभिनय में होता है ॥ १२७ ॥

६७—विवर्त्तित

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ और पैर आक्षिप्त (फेंके गये) होते हैं और त्रिक विवर्त्तित होते हैं अर्थात् चक्राकार घूमते हैं तथा दूसरा हाथ रेचित मुद्रा में न्यस्त करते हैं, वहाँ 'विवर्त्तित' करण होता है ॥ १२८ ॥

अभिनव—इसमें आक्षिप्त हाथ की अपेक्षा दूसरे हाथ को हंसपक्ष द्रुतभ्रम मुद्रा में रेचित किया जाता है ॥ १२८ ॥

विमर्श—इस करण में हाथ, पैर आक्षिप्त होते हैं, त्रिक के विवर्त्तन के साथ पार्श्व भी घूमता है, हाथ रेचित होते हैं, उनमें एक हाथ आक्षिप्त होता है अभिनव के अनुसार दूसरा हाथ हंसपक्ष मुद्रा में शीघ्रता से घूमता है ॥ १२८ ॥

६८—गजक्रीडितक

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ हाथ कान के पास अञ्चित (मुड़ा हुआ) मुद्रा में रहता है और दाहिना हाथ 'लता' हस्तमुद्रा में रहता है तथा पैर दोलापाद चारी में होता है, उसे 'गजक्रीडितक' करण कहते हैं ॥ १२८ ॥

१. ख. घ. पुनश्च रेचयेद्धस्तम् ।

२. क-च. ख. कर्णाञ्चितः करो ।

३. ख. घ. दोलापादस्तथा चैव गजक्रीडितके भवेत् ।

४. ख. ग. गजक्रीडितके ।

द्रुतमुत्क्षिप्य चरणं पुरस्तादथ पातयेत् ।
तलसंस्फोटितौ हस्तौ [1]तलसंस्फोटिते मतौ[2] ॥ १३० ॥

---

६८. गजक्रीडितकम्

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।" (ना. शा. ९-१९९) इति यः करिहस्तो लक्ष्यते वृत्तमध्ये तस्यैव यदा त्रिपताकोऽसावञ्चितक्रियाविष्टो डोलापादचारी तदा गजक्रीडितम् । क्रियाविष्टत्वाच्चाङ्गपर्यायोऽत्र लभ्यते । प्रयोगश्चास्य नामोचित एव विषये । यथा "अरुवद्रणा" इत्यादौ । ॥ १२९ ॥

६९. तलसंस्फोटितम् ।

अतिक्रान्तया (ना. शा. १०-३०) चार्या दण्डपादया (ना. शा. १०-४४) वा चरणमुक्षिप्याक्षिप्तं कृत्वा तथैवाग्रे निपातयेत् । तत्समकालं च पताकौ हस्तौ संश्लेषितशब्दादभिहितौ इति तलसंस्फोटितम् । तस्यैतद्विषय एव प्रयोगो, यथा "तालाद्दवी सुसुखसुभसइ जणु" इत्यादौ ॥ १२९ ॥

अभिनव—समुन्नत अर्थात् ऊपर उठा हुआ 'लताहस्त' एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर विलोलित होता है, (ना० शा० ९।१९९) इस प्रकार जो 'करिहस्त' का लक्षण किया गया है उसी को यदि अपने घेरे के भीतर त्रिपताक मुद्रा में अञ्चित क्रिया से आविष्ट करते हैं और पैर दोलापाद चारी में स्थित होता है तो 'गजक्रीडितक' करण होता है । क्रियाविष्ट कहने से यहाँ क्रम से अङ्गो का संचालन लक्षित होता है । इस करण का प्रयोग नाम के अनुसार अभिनय में होता है । जैसे 'अरुणद्रव' इत्यादि में ॥ १२८ ॥

६९—तलसंस्फोटित

अनुवाद—जहाँ पर पैर को शीघ्रता से ऊपर उठाकर आगे की ओर गिराया जाता है और दोनो हाथ 'तलसंस्फोटित' मुद्रा अर्थात् ताली बजाने की स्थिति से युक्त होता है, वह तलसंस्फोटित' करण कहलाता है ॥ १२९ ॥

अभिनव—इस करण में अतिक्रान्ता चारी अथवा दण्डपादा चारी के द्वारा पैरों को ऊपर उठाकर फिर उसी प्रकार आक्षिप्त कर (फेंक कर) आगे की ओर गिराया जाता है । इसी समय दोनों पताक हस्तों को संश्लिष्ट कर शब्द करते हैं अर्थात् दोनों हाथों से बार-बार ताली बजाते हैं । इसलिए उसे 'तलसंस्फोटित' करण कहते हैं । इस करण का प्रयोग तालियों के बजाने के अभिनय में होता है ॥ १२९ ॥

---

१. क-प. तलसंस्फोटिकौ ।
२. ख. ग. घ. स्मृतौ ।

[1]पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ ।
[2]समुन्नतं शिरश्चैव गरुडप्लुतकं भवेत् ॥ १३१ ॥
[3]सूचीपादो नतं पार्श्वमेको वक्षःस्थितः करः ।
द्वितीयश्चाञ्चितो [4]गण्डे गण्डसूची[5] तदुच्यते ॥ १३२ ॥

---

७०. गरुडप्लुतम् ।

वृश्चिकवच्चरणम् । एकोऽलातहस्तः (लताहस्तः) । द्वितीयो रेचितः । प्रयोगोऽस्य नामोचित एव विषये ॥ १३० ॥

७१. गण्डसूची ।

"उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः ।
वामश्चैव स्वभावस्थः ॥" (ना. शा. ९-२८०)

इति सूचीपादः । अञ्चितोऽलपल्लवो गण्डक्षेत्रे । अन्ये तु सूचीपादं गण्डक्षेत्रप्राप्तमिच्छन्ति । अन्ये तु सूचीमुखं नृत्तहस्तं गण्डाञ्चितं पुनः क्रियाविष्टमाहुः ।

७०—गरुड़प्लुतक

अनुवाद—जहाँ पर पैर को पीछे की ओर प्रसारित किया जाय अर्थात्—फैलाया जाय और दोनो हाथों को क्रमशः 'लता' और 'रेचित' मुद्रा में रखा जाय अर्थात् एक हाथ 'लता' मुद्रा में और दूसरा हाथ 'रेचित' क्रिया में रखा जाय अर्थात् तथा शिर समुन्नत हो तो वहाँ 'गरुड़प्लुतक' करण होता है ॥ १३० ॥

अभिनव—इस करण में पैर वृश्चिक के समान पीछे की ओर मुड़ा रहता है। एक हाथ लताहस्त मुद्रा में और दूसरा हाथ रेचित मुद्रा में न्यस्त रहता है। इस करण का प्रयोग नाम के अनुसार किये जाने वाले अभिनय में होता है ॥१३०॥

७१—गण्डसूची

अनुवाद—जहाँ पर पैर 'सूची' मुद्रा में और पार्श्व नत (झुका हुआ) होता है, एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा हाथ अञ्चित मुद्रा में कपोल पर स्थित होता है वहाँ पर 'गण्डसूची' करण होता है ॥ १३१ ॥

---

१. ग. पृष्ठप्रसारितौ पादौ लतारेचितकौ । ख-घ. पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ । क-म. पृष्ठप्रसारितः पादः कुञ्चितौ रेचितौ करौ ।

२. ख. ग. घ. समुन्नतमुरश्चैव गरुडप्लुतके भवेत् ।

३. ख-घ. ग. सूचीपादोन्नतम् । क-म. सूचीपादौ नतौ ।

४. ख. गण्डो । ५. ख. घ. गण्डसूचि ।

[1]ऊर्ध्वापवेष्टितौ हस्तौ सूचीपादो[2] विवर्तितः ।
परिवृत्तत्रिकं[3] चैव परिवृत्तं तदुच्यते ॥ १३३ ॥

"हस्तौ तु सर्पशिरसौ मध्यमाङ्गुष्ठकौ यदा ।
तिर्यक्प्रसारितास्यौ" (ना. शा. ९-१९९) इति ।

अन्ये तु सूच्यास्यमभिनयहस्तमाहुः ।

"खटकाख्ये यदा हस्ते तर्जनी सम्प्रसारिता ।
हस्तः सूचीमुखो नाम ।।" इति (ना. शा. ९-६५)

अत्र पक्षे गण्डसंश्रयप्रधानभूषणाभिनयविषयोऽस्य प्रयोगः यथा । "गंडप्पळी वण्णज्जळ एसो फळके अइदाम" इत्यादौ ॥ १३१ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में सूचीपाद, सूचीमुख नृत्तहस्त तथा अलपल्लव हस्तों का प्रयोग होता है । सूचीपाद का लक्षण है—

"जहाँ पर (दाहिने पैर की) एड़ी उठी हुई हो और अंगूठे के अग्रभाग पर स्थित हो और बायाँ पैर स्वाभाविक स्थिति में हो तो वह 'सूचीपाद' कहा जाता है ।
(ना. शा. ९।२८०) ।

यह सूचीपाद का लक्षण है । गण्डक्षेत्र अर्थात् कपालप्रदेश में 'अलपल्लव' हस्त अञ्चित हो । दूसरे आचार्य तो सूचीपाद को ही गण्डप्रदेश (कपोल) में प्राप्त हुआ मानते हैं । अन्य आचार्य तो सूचीमुख नृत्तहस्त को गण्डप्रदेश में (कपोल पर) अञ्चित फिर क्रियाविष्ट कहते हैं । सूचीमुख का लक्षण है—

जब दोनों सर्पशीर्ष हस्तों की मध्यमा और अङ्गुष्ठ अंगुलियों का मुखभाग तिरछा फैला हुआ हो तो उसे 'सूचीमुख' कहते हैं ।" (ना. शा. ९।१२९) ।

अन्य आचार्य तो 'सूचीमुख' नामक अभिनय हस्तमुद्रा के विषय में कहते हैं ।

"यदि खटकामुख हस्त की तर्जनी अँगुली को फैला दिया जाय तब 'सूचीमुख' नामक हस्त होता है ।" (ना. शा. ९।६५) ।

इस पक्ष में प्रधान रूप से कपोलों के अलङ्करण के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है । जैसे—'गाण्डप्पलीला०' इत्यादि में ॥१३१॥

७२—परिवृत्त

अनुवाद—जहाँ पर दोनो हाथ 'अपवेष्टित' मुद्रा में और पैर 'सूची' चारी से युक्त होकर विवर्तित होता है और त्रिक 'परिवृत्ति' स्थिति में होता है, वह 'परिवृत्त' करण कहलाता है ॥ १३२ ॥

---

१. ख. ऊर्ध्वावचेष्टितौ । थ. ऊर्ध्वाववेष्टितौ ।

२. क-न. सूचीपादोऽपवर्तितः ।

३. ख. घ. परिवृत्तत्रिकश्चैव । क-प. भ. परिवृत्तं त्रिकं चैव ।

[1]एकः समस्थितः पाद ऊरुपृष्ठे स्थितोऽपरः ।
मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः पार्श्वजानु तदुच्यते ॥१३४ ॥

---

७२. परिवृत्तम् ।

"ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तावूर्ध्वदेशविवर्तनात् ।" (ना. शा. ९-२०३) सूचीलक्षणश्च (ना. शा. १०-३४) पादो बद्धाचारी (ना. शा. १०-२१) माश्रित्य विचित्ररूपतया द्वितीयपादे (ना. शा. १०-४५) वर्तितः अन्योन्यजङ्घासंवेधादिति । ततोऽपि भ्रमरिकया त्रिकं परिवर्तितमाहुः ॥ १३२ ॥

७३. पार्श्वजानु ।

उरुपृष्ठजनिस्थितः तस्यैव समस्थितपादस्योरोः द्वितीयोऽस्यापि हस्तः कट्यामर्धचन्द्र इति पार्श्वजानु । पार्श्वं ऊरुपृष्ठः तस्य पादस्य सम्बन्धि जानु येत्रेति । युद्धनियुद्धविषयमेतत् ॥ १३३ ॥

अभिनव—"ऊर्ध्व देश अर्थात् ऊपर की ओर विवर्त्तन होने से 'ऊर्ध्वमण्डी' हस्त होता है" ? (ना. शा. ९।२०४) ।

यदि सूची चारी से युक्त पैर को 'बद्धा' चारी का आश्रय लेकर विचित्र रूप से जङ्घाओं के परस्पर संश्लेष द्वितीय (बायाँ) पैर में वर्त्तित कर दे । फिर भ्रमरी चारी के द्वारा त्रिक को परिवृत्त कहा गया है ॥१३२॥

विमर्श—इस करण में दोनों हाथ ऊर्ध्वमण्डल मुद्रा में विवर्तित होते हैं अर्थात् ऊपर की ओर चक्राकार घूमते हैं । अभिनव के अनुसार इस करण को सूचीपाद और बद्धा चारी की स्थितियों के मिश्रण से माना गया है । इसमें उरु (जङ्घा) परिवृत्त अर्थात् पीछे की ओर घूमा हुआ होता है और पार्श्व विवर्त्तित रहता है । इसमें त्रिक भी भ्रमरी गति में परिवृत्त (घूमा हुआ) होता है ॥१३२॥

७३—पार्श्वजानु

अनुवाद—जहाँ वर पैर सम स्थिति में रहता है और दूसरा पैर उस (जङ्घा) पर रख दिया जाता है तथा एक हाथ मुष्टि मुद्रा में वक्षस्थल पर रख दिया जाता है, वह 'पार्श्वजानु' करण कहा जाता है ॥ १३३ ॥

अभिनव—इस करण में समपाद पैर के जङ्घा के ऊपर दूसरा पैर रखा जाता है । एक हाथ अर्द्धचन्द्र मुद्रा में कटि पर रखा जाता है और दूसरा पैर मुष्टि मुद्रा में वक्षःस्थल पर न्यस्त होता है । उरुपृष्ठस्थित पाद से सम्बद्ध जानु जहाँ हो, उसे 'पार्श्वजानु' कहते हैं । इस करण का प्रयोग युद्ध-नियुद्ध के अभिनय में होता है ॥१३३॥

---

१. ख. एकः समुत्थितः पाद ऊरुपार्श्वस्थितः परः ।
घ. एकः समस्थितः पाद ऊरूपार्श्वे स्थितोऽपरः ।

पृष्ठप्रसारितः पादः किञ्चिदञ्चितजानुकः ।
यत्र प्रसारितौ बाहू तत्स्यात् गृध्रावलीनकम् ॥ १३५ ॥
उत्प्लुत्य चरणौ कार्यावग्रतः स्वस्तिकस्थितौ ।
सन्नतौ च तथा हस्तौ सन्नतं तदुदाहृतम् ॥ १३६ ॥

---

७४. गृध्रावलीनकम्

पाश्वात्प्रसारिपादोऽङ्गुष्ठभूमिसंश्लेषादञ्चितजानुकः । लताहस्तौ च पार्श्वगौ । तत्पक्षिनिरूपणादौ गृध्रावलीनकम् ॥ १३४ ॥

७५. सन्नतम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता सा ज्ञेया हरिणप्लुता ॥" (ना. शा. १०-४३) इत्यनया चार्योत्प्लुत्याग्रदेशे पादं स्वस्तिकं कुर्यात् । सन्नतौ च दोलाहस्तौ ।

"अंसौ प्रशिथिलौ हस्तौ पताकौ तु प्रलम्बितौ" (ना. शा. ९-१४८) एतदधमप्रकीर्तनादुपसर्पणादिषये ॥ १३५ ॥

७४—गृध्रावलीनक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर पीछे की ओर फैलाकर जानु (घुटनों) को कुछ मोड़ दिया जाय और दोनों बाहुओं को प्रसारित कर दे अर्थात् फैला दे तो वहाँ 'गृध्रावलीनक' करण होता है ॥ १३४ ॥

विमर्शः—इस करण में दोनों पैर पीछे की ओर अञ्चित होते हैं, एक पैर का घुटना झुका हुआ रहता है और अँगूठा भूमि का स्पर्श करता है। दोनों हाथ लता हस्त-मुद्रा में प्रसारित होते हैं और पार्श्व प्रसारित चेष्टा में फैला हुआ रहता है ॥१३४॥

७५—सन्नत

अनुवाद—जहाँ पर पैरों को उछालकर आगे की ओर स्वस्तिक मुद्रा में और दोनों हाथों को सन्नत (झुका हुआ या दोला मुद्राओं में) रखे, उसे 'सन्नत' करण कहा जाता है ॥ १३५ ॥

अभिनव—"जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर फिर थोड़ा कूदकर-(उछलकर) नीचे की ओर गिरा दे और जङ्घा को अञ्चित परिक्षिप्त कर दे तो 'हरिण-प्लुता' चारी होती है ।" (ना. शा. १०।४३) ।

इस चारी के द्वारा उछलकर पैर को आगे की ओर स्वस्तिक मुद्रा में रखे, फिर दोनों हाथों को सन्नत अर्थात् दोलाहस्त मुद्रा में रखे। दोलाहस्त का लक्षण निम्न प्रकार है।

जहाँ दोनों कन्धे शिथिल अर्थात् ढीले हों और दोनों पताकहस्त लटकते हुए हों, उसे 'दोलाहस्त' कहते हैं,

इस करण का प्रयोग अधम व्यक्ति के चलने के अभिनय में होता है ॥ १३५ ॥

[1]कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य कुर्यादग्रस्थितं भुवि ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ सा सूची परिकीर्तिता[2] ॥ १३७ ॥
[3]अलपद्मः शिरोहस्तः सूचीपादश्च दक्षिणः ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः ॥ १३८ ॥

७६. सूची ।

अग्रतः स्थितमिति ॥ १३६ ॥

७७. अर्धसूची ।

शिरःक्षेत्रे हस्तः । [4]तच्चार्यामेव करणमेकेनाङ्गेनेत्यर्धसूची[5] ॥ १३७ ॥

७६—सूची

अनुवाद—जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर आगे की ओर पृथ्वी पर स्थापित किया जाय और प्रयोग के अनुसार हाथों का संचालन करे तो वहाँ पर 'सूची' नामक करण होता है ॥ १३६ ॥

अभिनव—आगे की ओर रखे ॥ १३६ ॥

विमर्श—इस करण में कुञ्चित पैर को सूची चारी (ना. शा. १०।३४) में ऊपर उठाकर सामने भूमि पर स्थापित किया जाता है और हाथों की चेष्टाएँ पैरों के अनुसार होती है ॥ १३६ ॥

७७—अर्धसूची

अनुवाद—जहाँ पर हाथ अलपद्म मुद्रा में शिर पर स्थित किया जाय और दायाँ पैर सूची चारी में न्यस्त हो वहाँ 'अर्धसूची' नामक करण होता है ॥ १३७ ॥

अभिनय—'शिर के क्षेत्र में स्थित हाथ शिरोहस्त होता है। पैर सूची चारी में होता है। एक अङ्ग से क्रिया किये जाने के कारण इसे 'अर्धसूची' कहते हैं ॥ १३७ ॥

विमर्श—इस करण में सूचीचारी (ना. शा. १०।३४) के अनुसार दाहिना पैर कुञ्चित कर दूसरे समपाद पर न्यस्त किया जाता है। एक हाथ अलपल्लव मुद्रा में शिर के पार्श्व भाग तथा दूसरा हाथ वक्ष के पास न्यस्त किया जाता है ॥ १३७ ॥

१. क. अञ्चितम् । २. ख-ग. घ. तत्सूचि परिकीर्तितम् ।
३. ख. वामः पादः शिरोदेशे । घ. अलपद्मः शिरोदेशे ।
४. क. (टि०) तच्चार्या एव पादः । ङ.-सूचीचार्या एव पादः ।
५. क-म. इत्यर्धसूचितम् ।

पादसूच्या यदा पादो द्वितीयस्तु प्रविध्यते[1] ।
[2]कटिवक्षःस्थितौ हस्तौ सूचीविद्धं तदुच्यते ।। १३९ ।।
कृत्वोरुवलितं पादमपक्रान्तक्रमं [3]न्यसेत् ।
प्रयोगवशगौ [4]हस्तावपक्रान्तं तदुच्यते ।। १४० ।।

---

७८. सूचीविद्धम् ।

प्रविध्यत इति सूचीपादौ । द्वितीय इति पादः पार्ष्णिस्थः क्रियत इत्यर्थः । कटिस्थितः पक्षवञ्चितकोऽर्धचन्द्रो वा द्वितीयः खटकामुख एव वक्षसि । चिन्ता-विषयेऽस्य प्रयोगः । यथा—"कालीकरमिकस्सकहम्" इत्यादौ ।। १३८ ।।

७९. अपक्रान्तम् ।

"ऊरुभ्यां वलनं कृत्वा कुञ्चितं पादमुद्धरेत् ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैतदपक्रान्ता ।।" (ना. शा. १०-३१)

इत्यपक्रान्तक्रमं कृत्वोरुवलितबद्धा चारीमन्योन्यजङ्घासंयोगात्कृत्वा तु स्वस्तिक-मूरुभ्यां वलनमित्येवंभूतां कुर्यात् ।। १३९ ।।

७८—सूचीबद्ध

अनुवाद—जहाँ पर सूची चारी की प्रक्रिया से एक पैर दूसरे पैर से संश्लिष्ट होता है और दोनों हाथ क्रमशः एक हाथ कटि पर और दूसरा वक्षः-स्थल पर स्थित होता है, उसे 'सूचीविद्ध' करण कहते हैं ।। १३८ ।।

अभिनव—'प्रविध्यते' का अर्थ है कि सूचीपाद की प्रक्रिया से दूसरा पैर एड़ी पर स्थित होता है । (दोनों हाथों में) एक हाथ पक्षवञ्चितक अथवा अर्द्धचन्द्र चेष्टा में कटि पर स्थित होता है और दूसरा हाथ खटकामुख मुद्रा में (खटकामुख हाथ) वक्षःस्थल पर स्थित होता है । इस करण का प्रयोग चिन्ता के अभिनय में किया जाता है ।। १३८ ।।

७९—अपक्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर जङ्घा को वलित करके चरणों को अपक्रान्ता चारी में रखते हैं और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार संचालित किया जाता है, वहाँ पर 'अपक्रान्त' करण होता है ।। १४० ।।

---

१. घ. प्रपीडयते ।

२. क-ख. ग. कटिदेशस्थितौ विद्धौ ।

३. क-ब. नयेत् ।

४. क-त. हस्ताबपक्रान्ते प्रकीर्त्तिते ।

वृश्चिकं [1]चरणं कृत्वा[2] रेचितौ च तथा करौ ।
तथा त्रिकं विवृत्तं च मयूरललितं भवेत् ॥ १४१ ॥
[3]अश्चितापसृतौ पादौ शिरश्च परिवाहितम् ।
[4]रेचितौ च तथा हस्तौ तत्सर्पितमुदाहृतम् ॥ १४२ ॥

---

८०. मयूरललितम् ।

वृश्चिकं पादं विधाय रेचितौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ करौ कृत्वा पादं तमेवोरुदेशे निकुञ्च्य भ्रमरिकां चारीं कुर्यादिति मयूरनृत्तानुकारि मयूरललितम् ।

"अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन भ्रमरी भवेत् ॥" (ना.शा. १०-४५) ॥१४१॥

अभिनव—"जहाँ पर उरुओं (जङ्घाओं) का वलन करके कुञ्चित पैर का उद्धरण करे अर्थात् पैर को ऊपर उठाये, फिर पार्श्व में गिरा दे, वहाँ 'अपक्रान्ता' चारी होती है।" (ना. शा. १०।३१) ।

इस प्रकार अपक्रान्त चारी की क्रिया करके उरुओं का वलन करे फिर जङ्घाओं का वलन करे, इस प्रकार 'अपक्रान्त' करण रचित होता है ॥ १४० ॥

८०—मयूरललित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर को वृश्चिक चेष्टा में तथा दोनों हाथों को रेचित क्रिया में रखा जाता है फिर त्रिक का विवर्त्तन किया जाय तो वहाँ 'मयूरललित' नामक करण होता है ॥ १४१ ॥

अभिनव—इस करण में पैर को वृश्चिक चेष्टा में न्यस्त करके दोनों हाथों को हंसपक्ष मुद्रा में रेचित करे फिर पैर को उरु-प्रदेश में कुञ्चित करके 'भ्रमरी' चारी की रचना करे। इस प्रकार 'मयूरललित' करण है। भ्रमरी चारी का लक्षण इस प्रकार है।

'यदि पैर को अतिक्रान्ता चारी में ऊपर की ओर उठाकर त्रिक का परिवर्त्तन करे और फिर द्वितीय पाद के तलुवे से भ्रमण करने से 'भ्रमरी' चारी कहलाती है।' (ना. शा. १०।४५)

---

१. ख-घ. करणं ।
२. क-ठ. म. रेचितं च पदद्वयं । क-न. करद्वयम् ।
३. क-म. अञ्चितोऽवगतः पादः शिरश्च परिवारितम् ।
क-ख. च. अन्तरापसृतौ पादौ । क-छ. ब. अञ्चितोपगतः पादः ।
४. ख-घ. रेचितौ च करौ यत्र ।

[1]नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ।
[2]क्षिप्राविद्धकरं चैव दण्डपादं तदुच्यते ॥ १४३ ॥

---

८१. सर्पितम् ।

"पार्ष्णी (पार्ष्णिः) यस्य स्थितौ (स्थिता) भूमावुर्ध्वमग्रतलं भवेत् ।

अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः स पादोऽञ्चित उच्यते ॥" (ना. शा. ९-२७५) अञ्चितपादः सन्नपसृतो द्वितीयपादनिकटात्पलायितो यः तत् समकालमेव तत्पार्श्वगं शिरः । तथेति तत्पार्श्वगं एव हस्तो रेचितः । पुनरयं द्वितीयकरपादस्य विधिः । तत्पार्श्वगतमेव च शिरः । अत एव च परिवाहितम् ।

यद्वक्ष्यति—

"पर्यायशः पार्श्वगतं शिरः स्यात्परिवाहितम् ।" (ना. शा. ८-२२७)

एतच्च पादकृतमदोपसर्पणविषयमिति मानं (नाम) बलाद् गम्यते ॥ १४१ ॥

८१—सर्पित

अनुवाद—यदि अञ्चित स्थिति में दोनों पैर अपसृत किये जाँय (हटाये जाँय) तथा शिर परिवाहित हो अर्थात् क्रम से पार्श्वों में घूमता हो और दोनों हाथ रेचित स्थिति में सञ्चालित किये जाँय तो 'सर्पित' नामक करण होता है ॥ १४२ ॥

अभिनव—"जिस पैर की एड़ी भूमि पर स्थित हो, अग्रतल ऊपर की ओर उठा हो और सारी अँगुलियाँ अञ्चित हों, उसे 'अञ्चित' पाद कहते हैं" ।

इस प्रकार एक पैर अञ्चित मुद्रा में होता हुआ अपसृत होता है अर्थात् द्वितीय पैर के निकट से पलायित होता है, उसी समय शिर पार्श्व में स्थित होता है । 'तथा' पद से सूचित होता है कि उसी पार्श्व में रेचित हस्त भी होता है । इसी प्रकार यही क्रम द्वितीय पैर और हाथ से भी किया जाता है । जिस ओर का हाथ-पैर सञ्चालित होता है उसी पार्श्व में शिर भी घूमता है । इसलिए इसे शिर को 'परिवाहित' कहा गया है । परिवाहित का लक्षण इस प्रकार है—

"क्रम से (बारी-बारी) शिर को पार्श्व में ले जाना 'परिवाहित' कहलाता है ।" (ना. शा. ८।२२६)

इस करण का प्रयोग मदमत्त अपसर्पण के अभिनय में होता है ॥१४२॥

---

१. क-न. कुञ्चितं करणम् । क-ब. नूपुरं वलितं ।

२. ख-ब. क्षिप्रविद्धं करं । ग. क्षिप्रविद्धकरं चैव । क-प. म. क्षिप्तं विद्धं करञ्चैव ।

[1]अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता तद्विद्याद्धरिणप्लुतम् ।। १४४ ।।

---

८२. दण्डपादम् ।

"पृष्ठतोऽभ्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु ।
द्रुतं निपातयेद्भमौ चारी नूपुरपादिका ॥" (ना शा. १०-३५)

इत्येतदनन्तरमेव दण्डपादादिपुरश्चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ।

"क्षिप्रापविद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता ।" (ना. शा. १०-४४)

इत्येतत्सहितमेव पादसहितदण्डत्वरितहस्तं न्यसेदिति साटोपपरिक्रमादिविषय-मेतत् ।। १४३ ।।

८३. हरिणप्लुतम् ।

इदृशस्यैव हरिणप्लुता चारी (ना. शा. १०-४३) भविष्यति । तस्यास्तु करणप्रवेशः प्रागेवोक्तः (सन्नतकरणव्याख्यावसरे) ।। १४४ ।।

८२—दण्डपाद

अनुवाद—जहाँ पर पैर को 'नूपुर' चारी में रखकर 'दण्डपाद' चारी की प्रक्रिया में फैलाया जाता है और हाथ आविद्ध मुद्रा में शीघ्रता से सञ्चालित होता है या क्षिप्त होता है, वह 'दण्डपाद' चारी कहलाती है ।। १४३ ।।

अभिनव—"जहाँ पर पैर को पीछे की ओर से अञ्चित करके अग्रतल को शीघ्रता से भूमि पर गिरा दे, वहाँ 'नूपुरपादिका' चारी होती है ।" (ना. शा. १०।४४)

इस चारी के करने के बाद ही दण्डपादा चारी को करके शीघ्रता से पैर को दण्डवत् फैला दे ।

"पैर को शीघ्रता से आविद्ध करना 'दण्डपादा' चारी होती है ।"
(ना. शा. १०।४४)

इस दण्डपादा चारी के साथ ही शीघ्रता से दण्डहस्त का भी विन्यास करे । इस करण का प्रयोग आडम्बरपूर्ण गति के अभिनय में होता है ।। १४३ ।।

विमर्श—इस करण में पहिले अञ्चित पाद को उठाकर पीछे की ओर लेजाया जाता है । फिर दण्डपादा चारी की स्थिति में पैर को शीघ्रता से पार्श्व में घुमाया जाता है, फिर हाथों को आविद्ध मुद्रा में सञ्चालित किया जाता है ।। १४३ ।।

८३—हरिणप्लुत

अनुवाद—'जहाँ पर अतिक्रान्ता चारी का प्रयोग करके उछलकर पैर को नीचे गिरा दे और फिर जङ्घा को अञ्चित करके (सिकोड़ कर) ऊपर की ओर फेंक दे वहाँ 'हरिणप्लुत' करण होता है ।। १४४ ।।

---

१. ख. घ. अतिक्रान्तं क्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य विवर्त्तयेत् ।
ग. अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।

डोलापादक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
[1]परिवृत्तत्रिकं चैव तत्प्रेङ्खोलितमुच्यते ॥ १४५ ॥

[2]भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ हस्तौ[3] चाभिमुखाङ्गुली ।
बद्धा चारी तथा चैव नितम्बे[4] करणे भवेत् ॥ १४६ ॥

---

८४. प्रेङ्खोलितकम्

कुञ्चितं पादं पार्श्वात्पार्श्वं दोला। (ना. शा. १०-३६) तमेकं कृत्वा द्वितीयेनोत्प्लुत्य भ्रमरिकां (ना. शा. १०-४५) कुर्यात् ॥ १४५ ॥

अभिनव—इसी प्रकार की ही 'हरिणप्लुता' चारी आगे कही जायगी । इस चारी का करण में प्रयोग पहिले ही 'सन्नत' नामक करण की व्याख्या के अवसर पर कहा जा चुका है ॥१४४॥

विमर्श—इस करण में अतिक्रान्ता चारी का प्रयोग होता है । पहिले कुञ्चित पैर को ऊपर उछाल कर नीचे गिराते हैं और दूसरे अञ्चित पैर की जङ्घा को ऊपर की ओर क्षिप्त करते हैं । इस करण में हाथों की गति का निर्देश नहीं है किन्तु संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में हस्तक्रिया का निर्देश है । तदनुसार इस करण में खटकामुख हस्तों का प्रयोग होता है ॥१४४॥

८४—प्रेङ्खोलितक

अनुवाद—जहाँ पर दोलापाद नामक चारी का प्रयोग करके फिर उछाल कर पैर को नीचे गिरा दे और फिर त्रिक को परिवृत्त करे अर्थात् घुमा दे वहाँ 'प्रेङ्खोलितक' करण माना जाता है ॥ १४५ ॥

अभिनव—'कुञ्चित पैर को इस पार्श्व से उस पार्श्व में ले जाना 'दोलापाद' कहलाता है ।" (ना. शा. १०।३६) । इस दोलापाद चारी के करने के बाद दूसरे पैर को उछालकर भ्रमरी चारी का प्रयोग करे ।।१४५।।

विमर्श—इस चारी में कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उछालकर इस पार्श्व से उस पार्श्व में घुमाकर भ्रमरी चारी में त्रिक को परिवर्त्तित किया जाता है ।।१४५।।

---

१. ख-ग. घ. परिवृत्तं त्रिकं चैतत् प्रेङ्खोलितकमुच्यते ।

२. क-म. न. भुजादूर्ध्वं ।

३. क. हस्तौ चाधोमुखाङ्गुली । ठ-म. हस्तावभिमुखाङ्गुली ।

४. क-ख. नितान्तकरणे । क-ठ. नितम्बकरणे ।

[1]दोलापादक्रमं कृत्वा हस्तौ तदनुगावुभौ ।
[2]रेचितौ घूर्णितौ वापि स्खलितं करणं भवेत्[3] ॥ १४७ ॥

---

८५. नितम्बम् ।

अभिमुखाङ्गुली । अथोर्ध्वाङ्गुलौ पताकौ व्यावर्तितकरणेन शिरोदेशं नीत्वा ततः परिवर्तितकरणेनोर्ध्वक्षेत्रेण निष्क्रान्तौ बाहू कृत्वा यथासमं देशेऽन्योन्यं वीक्ष्यमाणौ पताकौ स्थापयेत् । ततो देहाभिमुखाङ्गुलिहस्तौ तदनुगावुभौ रेचिताघूर्णितौ चापि नितम्बनृत्तहस्तलक्षणौ कुर्यात् । [4]एतदभिमुखाङ्गुलित्वं निपातद्वयेन द्योतितम् । "बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तौ" (ना. शा. ९-१९७) निवेशात्तद्योगात्करणान्वितम् ॥ १४६ ॥

८६. स्खलितम् ।

दोलापादगमनागमनसमकालं हंसपक्षोपलक्षितौ बाहू गमनागमनयुक्तं पुनरपरेणाङ्गनेति ॥ १४७ ॥

८५—नितम्ब

अनुवाद—जहाँ पर भुजाओं को शिर के ऊपर उठाया जाता है और हाथ की अंगुलियाँ सामने की ओर रहती हैं तथा पैरों की चेष्टा बद्धा चारी के अनुसार होती हैं वहाँ पर 'नितम्ब' करण होता है ॥ १४६ ॥

अभिनव—'अभिमुखाङ्गुली' का अर्थ है कि ऊपर उठी हुई अँगुलियों वाले दोनों पताकहस्तों को व्यावर्त्तित करण के द्वारा (घुमाकर) शिर के पास ले जाकर फिर परिवर्त्तितकरण के द्वारा अर्थात् पलटकर भुजाओं को ऊर्ध्वभाग (ऊपर के क्षेत्र) से निकालकर कन्धे पर आमने-सामने रख दे । उसके बाद उन्हीं के अनुसार शरीर की ओर अभिमुख अङ्गुलियों वाले 'रेचित' और 'घूर्णित' हाथों को 'नितम्ब' हस्तमुद्रा में न्यस्त करे । "नितम्ब हस्तमुद्रा में दोनों पताकहस्तों को स्कन्धप्रदेश से हटाकर नितम्ब पर लाया जाता है" (ना० शा० ९।१९७) । यहाँ पर निपातद्वय से यह सूचित होता है कि हाथों की अङ्गुलियाँ शरीर के सम्मुख (आमने-सामने) होनी चाहिए ॥ १४७ ॥

८६—स्खलित

अनुवाद—जहाँ पर दोलापाद चारी का प्रयोग करके उसके अनुसार (अनुगामी) दोनों हाथों को 'रेचित' और 'घूर्णित' मुद्रा में रखा जाय वहाँ 'स्खलित' करण होता है ॥ १४७ ॥

---

१. ख-घ. दोलपादक्रमं । क-ठ. दोलापादं क्रमं ।
२. क-च. त. रेचिताघूर्णितौ चापि ।
३. ग. न्यसेत् । क-ख. रेचिताघूर्णितं वापि ।
४. क. एतत्त्रिभिर्मुखाङ्गुलित्वं ।

एको[1] वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः[2] ।
[3]अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके[4] ॥ १४८ ॥

८७. करिहस्तकम् ।

प्रोद्वेष्टनक्रियया परः कर्णस्थः त्रिपताकस्तद्दिक्क एव च पादस्तत्प्रोद्वेष्टनसमकालमञ्चितः सम्प्रयोज्य निष्क्रमणीयः । करिहस्तेन नृत्तहस्तेन सदृशमेतदंश इत्येतत्तन्नामा ।

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्त्तितः ॥" (ना.शा. ९-२००) ॥१४८॥

अभिनव—दोलापाद चारी गमनागमन (आने-जाने) के समय में ही हंसपक्ष हस्तमुद्रा से उपलक्षित दोनों भुजाओं का भी गमनागमन उचित है। इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से भी यही क्रिया करनी चाहिये ॥१४७॥

विमर्श—इस करण में दोलापाद चारी का प्रयोग किया जाता है और हाथ 'रेचित' एवं 'घूर्णित' मुद्रा में होते हैं। अभिनव के अनुसार यहाँ पर हंसपक्ष रेचित हस्तमुद्रा स्वीकृत है। घूर्णित कोई विशिष्ट हस्तमुद्रा न होकर चक्रगति से भ्रमण अभीष्ट है। यहाँ पर हाथों का सञ्चालन पैरों की क्रिया के अनुसार होता है ॥१४७॥

८७—करिहस्त

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ वक्षःस्थल पर स्थित होता है और दूसरे हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित होती हैं तथा पैर अञ्चित मुद्रा में होता है वहाँ 'करिहस्त' नामक करण होता है ॥ १४८ ॥

अभिनव—'प्रोद्वेष्टन' क्रिया से यह निर्दिष्ट है कि दूसरा त्रिपताकहस्त कान पर स्थित रहता है और प्रोद्वेष्टन के समय ही उसी दिशा का पैर अञ्चित मुद्रा में प्रयोग करके निकालना चाहिए। प्रोद्वेष्टन का अर्थ है-त्रिपताकहस्त का चारों ओर से घेरता हुआ संचालित होना। अर्थात् कान पर स्थित त्रिपताकाहस्त चारों ओर से घेरता हुआ संचालित होता है और उसी समय चरण भी अञ्चित होता है। करिहस्त नामक नृत्तहस्त के सदृश यह करण होता है इसीलिए इसे (करिहस्त) नाम से कहा गया है।

"जहाँ पर ऊपर उठा हुआ एक लताहस्त इस पार्श्व से उस पार्श्व तक विलोलित होता है अर्थात् झूलता रहता है और दूसरा त्रिपताक हस्त कान पर स्थित रहता है, वह 'करिहस्त' कहा जाता है। "(ना० शा० ९।२००)"

१. ख-ग. ध. बाम। ।
२. क-ठ. प्रवेष्टिततलोऽपरः ।
३. क-न. वृश्चिकचरणश्चैव ।
४. क-ठ. म. करिहस्तकम् ।

एकस्तु रेचितो हस्तो [1]लताख्यस्तु तथा परः।
[2]प्रसर्पिततलौ पादौ प्रसर्पितकमेव तत् ॥ १४९ ॥
[3]अलातं च पुरःकृत्वा द्वितीयं च द्रुतक्रमम्।
हस्तौ पादानुगौ चापि सिंहविक्रीडिते स्मृतौ ॥ १५० ॥

---

८८ प्रसर्पितकम्।

हंसपक्षो द्रुतभ्रम इति रेचितः। अपरो लताख्यो (ना. शा. ९-१९८) नृत्तहस्तः। रेचितकरस्य दिक्पादः पादान्तरान्मन्दं मन्दं भूमिघर्षणाच्चलेत्। एतस्य खेचरसंचारविषये प्रयोगः ॥ १४९ ॥

८९—सिंहविक्रीडितम्।

अलातं चारीमग्रतां द्रुतं निक्षिप्य तदनुसारेणैव च हस्तं (ना. शा. १०-४१) द्वितीयमपि चक्रमेवंभूतं कुर्यादिति सिंहकरघातसाम्यात्सिंहविक्रीडितं रौद्रगतिविषयम् ॥ १५० ॥

८८–प्रसर्पितक

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ 'रेचित' स्थिति में और दूसरा हाथ 'लता-हस्त' प्रक्रिया में स्थित होते हैं तथा दोनों पर पृथ्वी पैर घिसते हुए प्रसर्पित होते हैं वहाँ पर 'प्रसर्पितक' करण होता है ॥ १४९ ॥

अभिनव– यहाँ पर 'हंसपक्ष' नामक 'रेचित' हस्त है। दूसरा हाथ 'लता' नामक नृत्त हस्त के रूप में स्थित रहता है। रेचित हस्त की ओर का पैर दूसरे पैर की अपेक्षा भूमि का घर्षण करता हुआ मन्द गति से (धीरे-धीरे) सञ्चरित होता है। इस करण का प्रयोग आकाशचारी पात्रों की गति के अभिनय में किया जाता है ॥ १४९ ॥

८९—सिंहविक्रीड़ित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर अलात चारी प्रक्रिया में आगे करके द्वितीय पैर को द्रुत गति के साथ हाथों को भी पैरों के अनुसार संचालित किया जाता है, वहाँ 'सिंहविक्रीडित' करण होता है ॥ १५० ॥

---

१. ख. घ. लताख्यश्च तथापरः। ग. लताख्यस्तु तथापरः।
२. ख. घ. संसर्पिततलौ।
३. ख. घ. अलातकं च।

[1]पृष्ठप्रसर्पितः पादस्तथा हस्तौ निकुञ्चितौ[2] ।
[3]पुनस्तथैव कर्तव्यौ सिंहाकर्षितके द्विजाः ॥ १५१ ॥
आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तदेहमाश्रिप्तपादकम्[4] ।
उद्वृत्तगात्रमित्येतदुद्वृत्तं करणं स्मृतम् ॥ १५२ ॥

---

९०. सिंहाकर्षितम् ।

वृश्चिक एकः पादः । निकुञ्चितौ स्वस्तिकेन पद्मकोशोर्णनाभौ (ना. शा. ९-८२-१२०) (दक्षिणहस्तौ) वामहस्तौ । पुनर्द्वितीयेन पादेन यदा वृश्चिकस्तदा तौ क्रियावर्तनावशादपसार्य पुनरपि तादृशावेव हस्ताविति सिंहाद्यभिनयविषयं [5]सिंहाकर्षितकम् ॥ १५१ ॥

अभिनव—अलातचारी में पैर को द्रुतगति से आगे निक्षिप्त कर उसी के अनुसार हाथ को भी निक्षिप्त करे । इसी प्रकार द्वितीय चक्र में भी इसी प्रकार करे । भाव यह है कि अलातचारी में जिस पैर को आगे निक्षिप्त किया जाता है उसी ओर का हाथ भी उसी का अनुसरण करे । इसी प्रकार द्वितीय पैर से भी यही प्रक्रिया की जाती है । इस प्रकार सिंह के हाथ के घात की समानता के आधार पर इस करण का नाम 'सिंहविक्रीडित' है । रौद्र गति के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १५० ॥

९०—सिंहाकर्षित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर पीछे की ओर प्रसारित हो और दोनों हाथ निकुञ्चित मुद्रा में हो और उसी प्रकार फिर करे अर्थात् इसी क्रिया को पुनः बार-बार दुहराया जाय तो 'सिंहाकर्षित' करण कहलाता है ॥ १५१ ॥

अभिनव—इस करण में एक पैर वृश्चिक चेष्टा में रहता है । स्वस्तिक प्रक्रिया से 'पद्मकोश' और 'ऊर्णनाभ' मुद्रा में दायाँ-बायाँ दोनो हाथ निकुञ्चित होते हैं अर्थात् ऊपर-नीचे फैलाये जाते हैं । फिर दूसरे पैर से जब 'वृश्चिक' चेष्टा की जाती है तो दोनो हाथ क्रिया के आवर्त्तन से हटाकर उसी प्रकार फिर किया जाता है, इस प्रकार सिंह आदि के अभिनय में 'सिंहाकर्षित' करण का प्रयोग होता है ॥ १५१ ॥

---

१. ख. पृष्ठप्रसर्पितः । ग. पृष्ठप्रसारितः । क-अ. पृष्ठप्रसर्पितौ पादौ ।
२. ख. घ. कुञ्चिताःवर्तितौ करौ ।
३. घ. पुरस्तथैव कर्त्तव्यं ।
४. ख.घ. ग. आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तपादमाक्षिप्तदेहकम् ।
५. क-भ. म. सिंहाक्षिप्तकम् ।

आक्षिप्तश्चरणश्चैको[1] हस्तौ तस्यैव चानुगौ[2] ।
आनतं च तथा गात्रं तथोपसृतकं भवेत्[3] ॥ १५३ ॥

---

९१. उद्वृत्तम् ।

आक्षिप्तमासारितानीतं हस्तपादं यत्र। कथं सर्वदेहाक्षेपः। आह—उद्वृत्ताचारीयुक्तं कृत्वा—

"पादमाविद्धमावेष्टय समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
परिवृत्य द्वितीयं तु सोद्वृत्ता चार्युदाहृता ॥" (ना शा.१०-३९) इति। अत एवोद्वृत्तं करणम् ॥ १५२ ॥

९२. उपसृतकम् ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्येत्याक्षिप्तां चारीं (ना. शा. १०-३७) वामतो व्यावृत्य करपरिवर्तनेन गात्रमानम्य दक्षिणमरालतां नयेत्। एतद्विनयोपसर्पणे यथा "महादेवी विष्णवेदि" इति ॥ १५३ ॥

९१—उद्वृत्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ, पैर और समस्त शरीर को द्रुत गति से उछालकर संचालित किया जाय तथा शरीर 'उद्वत्त' चारी में स्थित हो तो 'उद्वत्त' करण होता है ॥ १५२ ॥

अभिनव—जहाँ पर हाथ-पैर आक्षिप्त किये जाते है, सारे शरीर को आक्षिप्त किया जाता है, प्रसारित किया जाता है। कहते हैं—उसे 'उद्वृत्ता' चारी से युक्त करके 'एक पैर को आविद्धा चारी से आवेष्टित करके उछालकर नीचे की ओर गिरा दे, फिर दूसरे पैर को भी परिवर्त्तित कर इसी प्रकार करे। इस प्रकार 'उद्वृत्ता' चारो का प्रयोग होने के कारण इस करण का नाम 'उद्वृत्त' करण है ॥ १५२ ॥

९२—उपसृतक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर 'आक्षिप्ता' चारी में हो और उसी के अनुसार दोनों हाथ स्थित हों तथा शरीर आनत (झुका हुआ) चेष्टा में हो तो वहाँ 'उपसृतक' करण होता है ॥ १५३ ॥

अभिनव—कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर आक्षिप्ता चारी का प्रयोग करके बाँये हाथ के व्यावर्तन (घुमाने) से शरीर को झुकाकर दाँये हाथ कौ 'अराल' मुद्रा में रखे। विनयपूर्वक उपसर्पण के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। जैसे—'महादेवी विष्णवेदि' इत्यादि में ॥ १५३ ॥

---

१. ख. घ. आक्षिप्तचरणः कार्यः। क-म. अग्रतश्चरणी कार्यौ।
२. ग. हस्तस्यैव वशानुगः।
३. ख. घ. स्मृतम्।

दोलापादक्रमं कृत्वा तलसङ्घट्टितौ करौ ।
[1]रेचयेच्च करं वामं तलसङ्घट्टिते सदा[2] ॥ १५४ ॥
एको वक्षःस्थितो हस्तो द्वितीयश्च प्रलम्बितः ।
[3]तलाग्रसंस्थितः पादो जनिते करणे भवेत् ॥ १५५ ॥

---

९३. तलसङ्घट्टितम् ।

कुञ्चितं पार्श्वात्पार्श्वंमिति (ना. शा. १०-२६) दोलपादां चारीं कुर्वंस्तत्समकालं पताकौ सम्यग्घट्टितमन्योन्यतलं ययोस्तादृशौ करौ कृत्वा वैष्णवे स्थानके "तौ तालौ" (ना. शा. १०-५२) इत्यत्र स्थित्वा दक्षिणं हस्तं कट्यां च द्वितीयं हंसपक्षद्रुतभ्रमात्मकं रेचकं कुर्यात् । अनुकम्पाप्रधाने वाक्यार्थेऽस्य प्रयोगः । "धाणवगळछिफ......अ० धिअचणारि" इत्यादि ॥ १५४ ॥

९४. जनितम् ।

वक्षसि मुष्टिहस्तः । प्रलम्बितो लताख्यः । अन्यासां क्रियाणामारम्भकाल एव तत्सन्निवेशजननयोगाद्यथोचितचारीवशानीतम् । जातिताचारी यथा—

मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्त्तितः ।
तलसञ्चरपादश्च जनिताचार्युदाहृता ॥ (ना. शा. १०।२५)

९३—तलसंघट्टित

अनुवाद—जहाँ पर दोलापाद चारी का प्रयोग करके फिर दोनों हाथ की हथेलियों को संघटित करे और बाँये हाथ को रेचित करे तो वहाँ 'तलसंघट्टित' करण होता है ॥ १५४ ॥

अभिनव—'कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विलोलित करे' इस प्रकार दोलापाद चारी का प्रयोग करता हुआ उसी समय दो पताक हाथों को 'जहाँ पर दोनों हाथ परस्पर अच्छी तरह संघट्टित (संश्लिष्ट) हों' ऐसा करके वैष्णव नामक स्थानक में स्थित होकर दाहिने हाथ को कटि पर और दूसरे हाथ को 'हंसपक्ष' मुद्रा में द्रुतभ्रमित रूप में रेचित करे। अनुकम्पा-प्रधान वाक्यार्थाभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। जैसे—'धाणवगछलिफ' इत्यादि में ॥ १५४ ॥

९४—जनित

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो और दूसरा हाथ प्रलम्बित (झूलता हुआ) रहे और पैर अग्रतलसंचर चारी की स्थिति में हो तो 'जनित' नामक करण होता है ॥ १५५ ॥

---

१. क-प. त. रेचयेच्चरणं वामं ।
२. ख. घ. तलसंटिते तथा ।
३. क-ठ. म. लताग्रसंस्थितः । क-भ. म. तदाग्रसंस्थितः ।

जनितं [4]करणं कृत्वा हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ।
[5]शनैर्निपतितौ चैव ज्ञेयं तदवहित्थकम् ॥ १५६ ॥

९५. अवहित्थकम् ।

"मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्तते ।
तलसञ्चरपादश्च जनिता चार्युदाहृता ॥"
(ना. शा. १०-२५) इति ।

चारीपादं कृत्वा । तथाप्यभिमुखाङ्गुली [6]इत्यरालालपल्लवतया ललाटवक्षः-क्षेत्रगौ हस्तौ विधाय शनैरिति यथाक्रममुद्वेष्टितकरणावधरोर्ध्वक्रमेण पार्श्वगौ कृत्वा पुनरपवेष्टितपरिवर्तितक्रिययारालालपल्लावावन्योन्यं सम्मुखं वक्षोदेशे कुर्यात् । गोपनप्रधाने वाक्यार्थेऽस्य प्रयोगः । इत्यवहित्थक्रमे तद्यथा—"ऐथगअं गइर्कारं थविफासहसश्व० खे इश्रं बइसं परिहि" ॥ अन्ये तु अवहित्थहस्तेन—

"शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्यभिमुखाञ्चितौ ।
शनैरधोमुखाविद्धौसोऽवहित्थ इति स्मृतः ॥" (ना. शा. ९-१५६)

इत्येतच्चिन्तादौर्बल्यविषयमाहुः ॥ १५६ ॥

अभिनव—इस करण में एक हाथ मुष्टिहस्त मुद्रा में वक्षःस्थल पर स्थित होता है और दूसरा लताहस्त प्रलम्बित रहता है । अन्य क्रियाओं के आरम्भ काल में ही उसके सन्निवेश से गतियाँ उत्पन्न होती है, इसीलिए इसे जनिता चारी कहते हैं, क्योंकि जनिता चारी के कारण ही समस्त गतियाँ उत्पन्न हैं । अतः यह समस्त गतियों की जनिका है ॥ १५५ ॥

९५—अवहित्थक

अनुवाद—जहाँ पर 'जनित' करण का सम्पादन करके एक दूसरे के सामने न्यस्त अंगुलियों वाले हाथों को धीरे-धीरे नीचे को गिराया जाता है, उसे 'अवहित्थक' करण कहते हैं ॥ १५६ ॥

अभिनव—"जहाँ पर एक मुष्टिहस्त वक्षःस्थल पर स्थित हो और दूसरा हाथ प्रलम्बित रहता है और पैर अग्रतलसंचर चारी में होता है तो 'जनिता' चारी कही जाती है ।" (ना० शा० १०।२५) ।

४. क-ख. चरणं ।
५. ख. शनैर्निपातितौ ।
६. क-भ. म. इत्यलपल्लवतया ।

करौ वक्षःस्थितौ कार्यावुरो निर्भुग्नमेव च ।
मण्डलस्थानकं[1] चैव निवेशं करणं तु तत् ॥ १५७ ॥

९६. निवेशम् ।
[2]"स्तब्धं च निम्नपृष्ठं च निर्भुग्नांसं समुन्नतम् ।
उरो निर्भुग्नमेतद्धि···॥" (ना. शा. ९-२२७)
ऐन्द्रे मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ । गजवाहनादिविषयेऽनेन निवेशयेत् । गात्रस्याविश्रमणान्निवेशाख्यम् ॥ १५७ ॥

इस प्रकार जनिता चारी का प्रयोग करके सन्मुख अंगुलियों वाले हाथों को अराल और अलपल्लव मुद्रा क्रमशः ललाट और वक्षःस्थल पर न्यस्त कर फिर क्रम से उद्वेष्टित करण के साथ ऊपर-नीचे करते हुए पार्श्व (बगल) में लाये फिर उसके बाद अपवेष्टित एवं परिवर्त्तित क्रिया के द्वारा 'अराल' और 'अलपल्लव' दोनो हाथों को परस्पर एक दूसरे के सामने वक्षःस्थल पर विन्यस्त करे। गोपनप्रधान वाक्यार्थाभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। जैसे—'ऐथगअं०' इत्यादि वाक्य में।

अन्य आचार्य तो 'अवहित्थ' हस्तमुद्रा के द्वारा इस करण की निष्पत्ति मानते हैं—

"जहाँ पर शुकतुण्ड हस्तों को वक्षःस्थल पर अभिमुख (सामने) अञ्चित कर धीरे-धीरे अधोमुख रूप में आविद्ध करे, वह 'अवहित्थ' हस्त कहलाता है"
(ना० शा० ९।१५६)

इस प्रकार चिन्ता और दुर्बलता का भाव प्रकट करने में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १५६ ॥

९६–निवेश

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर रखा जाय और उरःस्थल निर्भुग्न चेष्टा में रखा जाय तथा मण्डल नामक स्थानक का प्रयोग हो वहाँ 'निवेश' नामक करण होता है ॥ १५७ ॥

अभिनव—"जहाँ पर वक्षःस्थल स्तब्ध, पीछे झुकी हुई और कन्धे निर्भुग्न तथा समुन्नत (उठा हुआ) होता है उसे 'निर्भुग्न' वक्षःस्थल कहते हैं।"
(ना० शा० ९।२२७)

इसमें ऐन्द्र मण्डल में पैर चार ताल की दूरी पर स्थित होते हैं। हाथी तथा घोड़े पर चढ़ने के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। शरीर को विश्राम न मिलने के कारण इसे 'निवेश' कहा जाता है ॥ १५७ ॥

१. ख. ग. घ. मण्डलं स्थानकं चैव निवेशकरणं तु तत् ।
२. क-भ. म. निम्नमुन्नतपृष्ठम् ।

तलसञ्चरपादाभ्यामुत्प्लुत्य [1]पतनं भवेत् ।
सन्नतं वलितं गात्रमेलकाक्रीडितं तु तत् ॥ १५८ ॥
करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठेऽञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ह्यूरूद्वृत्तं तु तद्भवेत्[2] ॥ १५९ ॥

---

९७. एलकाक्रीडितम् ।

पतनकाले गात्रस्य नमनं ततो वलनम् । एवं नामैकरूपाचारी (ना. शा. १०-२०) भविष्यति । अधमप्रकृतिगतिविषयमेतत् ॥ १५८ ॥

९८. ऊरूद्वृत्तम् ।

"तलसञ्चरपादस्य पार्ष्णिर्बाह्योन्मुखी यदा ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ऊरूद्वृत्तेति सा स्मृता ॥" इति ।
(ना. शा. १०-२२)

अनया चार्या सह व्यावर्तितकरणेनारालं खटकं चोरुदेशे पृष्ठे च क्षिपेत् । प्रणयकोपेर्ष्याप्रार्थनादिविषयमेतत्करणम् ॥ १५९ ॥

९७–एलकाक्रीडित

अनुवाद—यदि 'तलसंचर' अर्थात् अग्रतलसंचर पैरों से उछल कर फिर भूमि पर आ जाय और शरीर को झुकाकर घुमाये तो 'एलकाक्रीडित' करण होता है ॥ १५८ ॥

अभिनव—पतन अर्थात् गिरने के समय शरीर का नमन अर्थात् झुकना फिर वलन होता है। इसमें 'एलकाक्रीडिता' चारी होती है। अधम प्रकृति के पात्रों की गति के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता हैं ॥ १५९ ॥

९८–उरूद्वृत्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ को आवर्त्तित करके ऊरू (जंघा) के पृष्ठभाग पर अञ्चित रूप में रखा जाता है और जङ्घा अञ्चित (किञ्चित् झुकी हुई) तथा उद्वृत होती है वहाँ 'ऊरूद्वत्त' करण होता है ॥ १५९ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में 'उरूद्वृत्ता' चारी का प्रयोग होता है। 'उरूद्वृत्ता' चारी का लक्षण है—

"जहाँ पर 'तलसञ्चर' पाद की एड़ी बाहर की ओर उन्मुख हो और जङ्घाएँ अञ्चित (थोड़ी झुको हुई) तथा उद्वृत्त (ऊपर की उठी हुई) हो वहाँ 'ऊरूद्वृत्ता' चारी होती है" । (ना० शा० १०।२२) ।

१. ख. ग. ध. पतनं तु यत् ।

२. ख. तदूरुद्वृत्तमुच्यते । ग. ह्यूरूद्वृत्तं तदुच्यते । घ. तदूरुद्वृत्तमुच्यते ।

करौ प्रलम्बितो कार्यौं शिरश्च परिवाहितम् ।
पादौ च वतिलाविद्धौ मदस्खलितके द्विजाः ॥ १६० ॥
[1]पुरः [2]प्रसारितः पादः कुञ्चितो [3]गगनोन्मुखः ।
करौ च रेचितौ यत्र विष्णुक्रान्तं तदुच्यते ॥ १६१ ॥

---

९९. मदस्खलितकम् ।

करौ दोलौ । पर्यायशः पार्श्वगतं शिरः । वलिताविद्धौ अवनतावनन्तरं स्वस्तिकापसृतौ पादौ पर्यायेणेति । मद्यमदविषयमेतत् ॥ १६० ॥

१००. विष्णुक्रान्तम् ।

विष्णोरित्थं क्रमणमत्र । तत्तद्विषय एवास्य प्रयोगः ॥ १६१ ॥

इस उरूद्वृत्ता चारी के साथ हाथों को व्यावर्त्तित करने अर्थात् चक्राकार घुमाने से क्रमशः 'अराल' हस्त को उरुप्रदेश पर और 'खटकामुख' हस्त को पीठ पर झुका कर रखा जाता है। भाव यह कि जंघाओं के अञ्चित होने से घुटने झुके होंगे और जंघाओं के ऊपर व्यावर्त्तित करके रखा जायगा। प्रणय में होने वाले कोप, ईर्ष्या, प्रार्थना आदि के भावों के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १५९ ॥

९९—मदस्खलितक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ प्रलम्बित अर्थात् नीचे लटकते हुए हों और शिर परिवाहित चेष्टा में हो तथा दोनों पैर आविद्धा चारी में वलित हो वहाँ पर 'मन्दस्खलित' करण होता है ॥ १६० ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार मदस्खलितक चारी में दोनों हाथ 'दोला' प्रक्रिया में झूलते हुए होते हैं। शिर क्रम से (बारी-बारी) से एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में घुमाया जाता है। 'वालिताविद्धौ' से तात्पर्य है कि पैर क्रम से पहिले वलित अर्थात् अवनत बाद में स्वस्तिक स्थिति में अपसृत अर्थात् फैलाये जाते हैं। मद्य-जनित मद के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १६० ॥

१००—विष्णुक्रान्त

अनुवाद—जहां पर पैर गगनोन्मुख अर्थात् आगे जाने के लिए उन्मुख कुञ्चित पैर आगे की ओर प्रसारित किये जाँय (फैलाये जाँय) और दोनों हाथ 'रेचित' मुद्रा में स्थित हों तो वहाँ 'विष्णुक्रान्त' नामक करण होता है ॥ १६१ ॥

अभिनव—यहाँ इसी प्रकार विष्णु का क्रमण होता है। विष्णु के पाद-क्रमण के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १६१ ॥

---

१. क-ठ. उरः । २. क. ख. प्रसर्पितः । ३. ख. ग. घ. गमनोन्मुखः ।

करमावर्तितं कृत्वा [1]ह्यूरुपृष्ठे निकुञ्चयेत् ।
ऊरुश्चैव [2]तथाविद्धः [3]सम्भ्रान्तं करणं तु तत् ॥ १६२ ॥
अपविद्धः करः सूच्या पादश्चैव [4]निकुट्टितः ।
वक्षःस्थश्च करो वामो विष्कम्भे करणे भवेत ॥ १६३ ॥

---

१०१. सम्भ्रान्तम् ।
आविद्धायां चार्यां सत्यामूरुस्तथा ।

"स्वस्तिकस्याग्रतः पादः कुञ्चितश्च प्रसारितः ।
निपतेदञ्चिताविद्ध आविद्धा नाम सा स्मृता ॥" (ना. शा. १०-३८)

तच्चारीप्रयोगकाले च व्यावर्तितपरिवर्तितकरणेनालपल्लवमूरुपृष्ठे न्यसेत् । सम्भ्रमपरिक्रमविषयमेतत् ॥ १६२ ॥

१०१–सम्भ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ को आवर्त्तित करके जङ्घा के पृष्ठभाग पर निकुञ्चित मुद्रा में रख दिया जाय और ऊरु उसी प्रकार आविद्धा चारी में स्थित हो तो वहां 'सम्भ्रान्त' करण होता है ॥ १६२ ॥

अभिनव—आविद्धा चारी के होने पर ऊरू उसी प्रकार आविद्ध होता है ।

"जहाँ पर स्वस्तिक पैर के आगे की ओर कुञ्चित पैर को फैला दिया जाता है और फिर अञ्चित पैर को आविद्ध (संश्लिष्ट) करके नीचे गिरा दिया जाता है, वहाँ 'आविद्धा' चारी होती है । (ना. शा. १०।३८)

आविद्धा चारी के प्रयोग के समय हाथों को व्यवर्त्तित एवं परिवर्त्तित चेष्टा (क्रिया) के द्वारा 'अलपल्लव' मुद्रा में ऊरु (जङ्घा) के पृष्ठभाग पर स्थापित किया जाता है । घबराहट से चलने के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥१६२॥

१०२–विष्कम्भ

अनुवाद—जहाँ पर हाथ अपविद्ध चेष्टा (क्रिया) में और पैर सूची पाद चारी की स्थिति में निकुट्टित हो तथा बांया हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो, उसे 'विष्कम्भ' करण कहते हैं ॥ १६३ ॥

---

१. ख. उरुपृष्ठे ।
२. ख. संभ्रान्तकरणं ।
३. ख. घ. तदाविद्धः ।
४. क-ठ. निकुञ्चितः ।

[1]पादावुद्घट्टितौ कार्यौ तलसङ्घट्टितौ करौ।
नतञ्च पार्श्वं कर्तव्यं[2] बुधैरुद्घट्टिते सदा ॥ १६४ ॥

१०२. विष्कम्भम्।

वामः करो दक्षिणेन हस्तेन सूचीमुखं (ना. शा. ९-१६१) नृत्तहस्तात्मनापगमपूर्वकं विद्धः। स एव पादो निकुट्टितः। चकरात् द्वितीयोनैवाङ्गेन। एवकारेणेदमाह पुनः सूच्या (ना. शा. १०-३४) चार्योपलक्षितः पादः। परश्च निकुट्टितोऽलपल्लवोऽन्यस्तु वामः। एवं पुनःकरणे सति क्रियाविष्कम्भनाद्विस्तारणाद्विष्कम्भाख्यं करणम् ॥ १६३ ॥

१०३. उद्घट्टितम्।

"स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णी भूमौ निपात्यते।" इति (ना. शा. ९-२६६) पादः। अन्योन्यमनेन तालिकादानोद्यतौ करौ पुनर्द्वितीयपाद उद्घट्टितः पर्यायेण च तथैव [3]पार्श्वयोर्नमनमिति। प्रमोदविषमेतत् ॥ १६४ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में 'सूची' पद से सूचीमुख हस्तमुद्रा अभिप्रेत है। तदनुसार बाँया हाथ सूचीमुख नृत्तहस्त चेष्टायें दाहिने हाथ से अलग होकर सिद्ध होता है और उसी समय वही बाँया पैर निकुट्टित होता है। 'चकार' के प्रयोग से वह सूचित होता है कि दूसरे अङ्ग से भी उसी प्रकार की चेष्टाएँ की जानी चाहिए। 'एवकार' के द्वारा यह कहा गया है कि पुनः (फिर) सूची चारी से उपलक्षित पैर कुट्टित होता है और बाँया हाथ अलपल्लव मुद्रा में न्यस्त होता है। इस प्रकार बार-बार करने पर क्रिया के विष्कम्भन अर्थात् विस्तारण से 'विष्कम्भ' नामक नामक करण होता है ॥ १६३ ॥

१०३—उद्घट्टित

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर 'उद्घट्टित' स्थित में हों और दोनों हाथ 'तलसंघट्टित' चेष्टा में हो तथा पार्श्व नत (झुका हुआ) हो वहां पर 'उद्घट्टित' करण होता है ॥ १६४ ॥

अभिनव— 'यदि पैर का तलवे के अग्रभाग अर्थात् पञ्जे के सहारे खड़े होकर एड़ी से भूमि का स्पर्श करे तो उसे 'उद्घट्टित' पाद होता है।' (ना. शा. ९।२६६)

इस क्रिया से परस्पर एक हाथ से दूसरे हाथ पर ताली बजाये फिर दूसरे पैर को भी उसी प्रकार उद्घट्टित करे और उसी के साथ पार्श्व को भी नत चेष्टा में रखे। इस करण का प्रयोग प्रमोद के भावाभिनय में होता है ॥ १६४ ॥

१. क-ख. पादावुद्घाटितौ कार्यौ तलसंघटितौ करौ।

२. ख. घ. नितम्बपार्श्वे कर्त्तव्यौ। ग. नितम्बपार्श्वं कर्तव्यम्। क-म. ततश्च पार्श्वं कर्त्तव्यम्। क-म. भ. दण्डं च पार्श्वं कर्त्तव्यम्।

३. क. पार्श्वयोर्गमनमिति।

[1]प्रयुज्यालातकं पूर्वं हस्तौ चापि हि रेचयेत् ।
कुञ्चितावञ्चितौ चैव वृषभक्रीडितं सदा[2] ॥ १६५ ॥
रेचितावञ्चितौ हस्तौ लोलितं वर्तितं शिरः ।
उभयोः पार्श्वयोर्यत्र तल्लोलितमुदाहृतम्[3] ॥ १६६ ॥

---

१०४. वृषभक्रीडितम् ।

अलातचारीं (ना. शा. १०-४१) कुर्वन्हस्तौ रेचितौ कुर्यात् । ततः कुञ्चितौ व्यावर्तितकरणेन कृत्वा ततो बाहुशिरस्यलपल्लवाकृती अञ्चितौ विधेयाविति वृषभमङ्गद्वारद्वयप्रयोगात्[4] वृषभक्रीडितम् ॥ १६५ ॥

१०५. लोलितम् ।

वैष्णवे स्थाने आदौ रेचितं हंसपक्षद्रुतभ्रमरूपं हस्तद्वितीयं चाञ्चितं वक्षस्यलपल्लवाकारं कुर्यात् । शिरश्च लोलितम् । सर्वतो लोलितमपि चोभयोः पार्श्वयोर्वर्तितं विभ्रमितम् ॥ १६६ ॥

१०४–वृषभक्रीडित

अनुवाद—जहाँ पर पहिले अलात चारी का प्रयोग करके फिर दोनों हाथों को रेचित करे फिर दोनों को 'कुञ्चित' एवं 'अञ्चित' मुद्रा में रखे तो 'वृषभक्रीडित' करण होता है ॥१६५ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में अलातचारी का अभिनय करते हुए दोनों हाथों को रेचित किया जाता है। फिर हाथों को व्यवर्त्तित करके अर्थात् गोलाकार घुमाते हुए कुञ्चित करके फिर बाहुशीर्ष पर अलपल्लव मुद्रा में अञ्चित किया जाता है अर्थात् वृत्ताकार मोड़ा जाता है। इस प्रकार बैल के समान दो अङ्गो के प्रयोग के कारण इस करण का नाम 'वृषभक्रौडित' है ॥१६५॥

१०५–लोलित

अनुवाद—जहाँ पर दोनों अञ्चित हाथ रेचित चेष्टा में और शिर को लोलित चेष्टा में दोनों पार्श्वों में विवर्त्तित किया जाय तो वहाँ पर 'लोलित' करण कहा जाता है ॥ १६६ ॥

---

१. ख. घ. प्रयुज्यालातकं पादं हस्तौ द्वावपि रेचितौ ।
२. ख. घ. स्मृतौ ।
३. ख. घ. ज्ञेयं लोलितकं बुधैः ।
४. क-म. द्वारद्वययोगात् ।

[1]स्वस्तिकापसृतौ पादौ शिरश्च परिवाहितम् ।
रेचितौ च तथा हस्तौ स्यातां नागापसर्पिते ॥ १६७ ॥
निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम्[2] ।
[3]उद्वाहितमुरः कृत्वा [4]शकटास्यं प्रयोजयेत् ॥ १६८ ॥

---

१०६. नागपसर्पितम् ।

परिवाहितं पर्यायशः पार्श्वगतं कुटिलगतियोगान्नागापसर्पितम् । इदं तरुण-मदविषवम् ॥ १६७ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में पहिले वैष्णव स्थानक में स्थित होकर दाहिने हंसपक्ष हाथ को द्रुत गति से घुमाते हुए रेचित किया जाता है, फिर अञ्चित दूसरे हाथ को अलपल्लव हस्तमुद्रा में वक्षःस्थल पर रखे और लोलित शिर को दोनों पार्श्वों में विश्रान्त करे अर्थात् स्थिर करे ।। १६६ ॥

१०६—नागासर्पित

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर स्वस्तिक स्थिति में हटाये जाते हैं और शिर परिवाहित होता है तथा दोनों हाथ 'रेचित' मुद्रा में सञ्चालित किया जाता है, उसे 'नागपसर्पित' करण कहते हैं ॥ १६७ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में शिर को क्रम से पार्श्व में परि-वाहित किया जाता है अर्थात् घुमाया जाता है । कुटिल गति के कारण इस करण का नाम 'नागापसर्पित' है । तरुण मद के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १६७ ॥

१०७—शकटास्थ

अनुवाद—जहाँ पर शरीर को निषण्ण अर्थात् स्थिर कर पैर को 'तल-संचर' चारी की प्रक्रिया में फैलाया जाता है और वक्षःस्थल को उद्वट्टित चेष्टा में रखा जाता है, उसे 'शकटास्य' या 'शकटमुख' करण कहते हैं ॥ १६८ ॥

---

१. ख. घ पुस्तकयोः—
स्खलितासर्पितौ पादौ तथा हस्तौ च रेचितौ ।
परिवाहितं शिरश्चैव कुर्यान्नागापसर्पिते ॥
इति श्लोको लभ्यते ।

२. क. ख. तलसंचयम् ।

३. ग. उद्घाटितमुरः कृत्वा ।

४. क-ख. शकटाख्यं ।

[1]ऊर्ध्वाङ्गुलितलौ पादौ त्रिपताकावधोमुखौ ।
हस्तौ शिरस्सन्नतं च गङ्गावतरणं[2] त्विति ॥ १६९ ॥

१०७. शकटास्यम् ।

निषण्णं निस्सीमीकृतमङ्गं येन तेन तज्जानुसमस्थिते पदे पुरो गुल्फदेशे कुञ्चितो न तु जानुरेव पादः स एवाध्यर्धतालान्तरसञ्चरः प्रसार्यः । तत्सहितोऽपि हस्तो द्वितीयो वक्षसि खटकः । ईदृश्येवेयं चारी (ना. शा. १०-१६) भविष्यति । अनेन सन्निवेशेन शकटस्यासनं क्षेप इति । तथाविधबालक्रीडादिविषये भाणिकादिविषयेऽस्य प्रयोगः ॥ १६८ ॥

अभिनव—अभिनव ने निषण्ण का अर्थ निःसीमीकृत माना है। तदनुसार निषण्ण अर्थात् जिसके द्वारा अङ्ग निःसीमीकृत कर दिया गया है, उसके जानु के समस्थित पद में पहिले गुल्फ प्रदेश में कुञ्चित (वक्र) पैर को ही, न कि जानु को फैलाना चाहिए, क्योंकि वहीं पैर अध्यर्धतालान्तरसञ्चर अर्थात् डेढ़ ($1\frac{1}{2}$) ताल के अन्तर पर सञ्चरित होता है। उसके साथ दूसरा खटकामुख हाथ वक्षःस्थल पर न्यस्त होता है, इसी प्रकार यहाँ 'शकटास्या' चारी भी होती है। इस सन्निवेश से शकट का असन अर्थात् क्षेपण होता है। शकटास्या चारी का लक्षण है—

'जहाँ पर शरीर को स्थिर करते हुए पैर को अग्रतलसञ्चर मुद्रा में फैलाया जाता है तथा वक्षःस्थल को उद्वाहित स्थिति में रखा जाता है वहाँ 'शकटास्या' चारो होती है।' (ना॰ शा. १०।१६)।

इस प्रकार शकटास्या चारी और शकटास्य करण का लक्षण एक समान है। जो लक्षण (स्वरूप) चारी का है वही करण का है। इस करण का प्रयोग बालक्रीडा आदि के अभिनय में भाणिका आदि में किया जाता है ॥१६८॥

१०८—गङ्गावतरण

अनुवाद—जहाँ पर पैरों की अंगुलियों के तल ऊपर की ओर उठे हुए हों और दोनों हाथ त्रिपताक हस्तमुद्रा में अधोमुख स्थित हों तथा शिर सन्नत अर्थात् झुके हुए स्थिति में हो तो उसे 'गङ्गावतरण' कहते हैं ॥ १६९ ॥

अभिनव—अभिनव ने अभिनवभारती में इस करण के सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किया है। तदनुसार कुछ आचार्य 'ऊर्ध्वाङ्गुलितल' पद से समपाद का अञ्चित रूप में अवस्थान कहा है। किन्तु यह कथन किसी शब्द का अर्थ न होने से ठीक नहीं है। इसलिए पाद (पैर) अञ्चित नहीं होता।

१. ग. ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादः ।
२. ख. घ. गङ्गावतरणं च तत् । क-ख. रङ्गावतरणं त्विति ।

[1]यानि स्थानानि याश्चार्यो व्यायामे कथितानि[2] तु ।
पादप्रचारस्त्वेषां तु करणानामयं भवेत् ।। १७० ।।

१०८. गङ्गावतरणम् ।

अत्र केचिदूर्ध्वाङ्गुलितल इत्यनेन [3]समपादाञ्चितावस्थानमुक्तमित्याहुः । एतच्चायुक्तमशब्दार्थत्वात् । तस्मादञ्चितो न पादः । अन्ये त्वाहुः—अनेन क्रमेणाग्रतलसञ्चारो [4]वृश्चिकहस्तपाद इति । अपरे तु—चकारेण च पादस्य त्रिपताकहस्तयोश्शिरसश्च सन्नतत्वात्तेन प्रथमं पादोद्धारं स्थित्वा पादमूर्ध्वं विधाय तदुपरि च पताकाहस्तौ तं पादं क्रमेणाग्रतलसञ्चारो वृश्चिकपादं[5] सन्नमयेत् अवरोधयेत् । तदनुसारेण च त्रिपताकाहस्तं सन्नमयेत् । तथैव क्रमेण शिरः । एवमेव त्रिविक्रमपादप्रसरणपूर्वकं गङ्गादेव्या अवतरणमिति नाम्नैवास्य करणस्य विषयो दर्शितः । इतिशब्दः समाप्तौ ।। १६९ ।।

[इत्यष्टोत्तरशतकरणनिरूपणं समाप्तम्]

दूसरे आचार्य कहते हैं कि इस क्रम से अग्रतलसञ्चर पाद से यहाँ वृश्चिक पाद का ग्रहण होता है।

अन्य आचार्यों का कथन है कि यहाँ (सन्नतं च में) चकार भिन्न क्रम का बोधक है, अतः पैर के त्रिपताक हस्तों और शिर के सन्नत होने से पहिले पैर को ऊपर की ओर उठाकर उसके ऊपर पताक हस्तों को रखकर उस पाद को क्रम से अग्रतलसञ्चर वृश्चिकपाद को झुका दे। उसी के अनुसार त्रिपताक हस्तों को झुका दे और उसी क्रम से शिर को भी झुका दे। इसी प्रकार तीन विक्षेप वाले पैरों को फैलाने के समान गङ्गादेवी का अवतरण होता है। इसलिए इसी नाम से इस करण का विषय दिखाया गया है। यहाँ पर 'इति' शब्द समाप्ति का सूचक है ॥ १६९ ॥

इस प्रकार १०८ करणों का निरूपण समाप्त हुआ।

---

१ इतः परं श्लोकचतुष्टयं 'ख' पुस्तके (काशीसंकरणे) नास्ति ।

२. क-अ. गदितानि तु ।

३. क-म. भ. संवादं भूमावस्था ।

४. क-म. भ. वृश्चिकपादः ।

५. क-भ.म. [अपरे तु चकारेण भिन्नक्रमेण च तदास्य त्रिपत्ताकाहस्तयोः शिरसश्च सन्नतत्वात्तेन प्रथमः पादोद्धारः । स्थित्वा पादमूर्ध्वं विधाय तदुपरि च त्रिपताकहस्तौ तं पादं क्रमेण] इति कोष्ठकान्तर्गतं वाक्यमधिकं दृश्यते । किन्त्वयं भागः पुनरुक्तः ।

ये चापि [1]नृत्तहस्तास्तु गदिता [2]नृत्तकर्मणि ।
तेषां समासतो योगः करणेषु विभाव्यते ॥ १७१ ॥
प्रायेण करणे कार्यों वामो वक्षःस्थितः करः ।
चरणश्चानुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत्करः ॥ १७२ ॥
चार्यश्चैव तु याः प्रोक्ता नृत्तहस्तास्तथैव च ।
सा मातृकेति विज्ञेया तद्भेदात्करणानि तु ॥ १७३ ॥

अनुवाद—इस नृत्त रूप व्यायाम में जिन स्थानों और जिन चारियों का उल्लेख किया गया है उन करणों के सम्बन्ध में यह पाद-प्रचार (व्यवस्थित) है और नृत्त (नृत्य) कर्म में जो नृत्तहस्त कहे गये हैं, करणों में संक्षेप में उनका योग समझा जाता है। इन करणों में बांया हाथ प्रायः बक्षःस्थल पर स्थित रहता है और दाहिना हाथ पैर का अनुगत होता है अर्थात् दाहिना हाथ पैर का अनुसरण करता है । जो चारियां कही गई हैं और उसी प्रकार जो नृत्तहस्त कहे गये हैं उन्हीं को मातृका समझनी चाहिए अर्थात् वे ही मातृकाएँ हैं । उनके भेद से करणों की रचना होती है ॥ १७०-१७३ ॥

विमर्श—यहाँ पर 'यानि स्थानानि' यहाँ से लेकर 'तद्भेदात्करणानि तु' यहाँ तक चार श्लोक कुछ संस्करणों में नहीं हैं और अभिनवगुप्त ने इन चार श्लोकों की व्याख्या भी नहीं की है । सम्भवतः इसीलिए कुछ संस्करणों में ये श्लोक नहीं पाये जाते । मैंने इन श्लोकों को प्रक्षिप्त न मानकर मूलगत पाठ माना है और उनका हिन्दी-अनुवाद भी किया है ।

इन चारों श्लोकों का भावार्थ यह है कि नृत्त, नृत्य अथवा अभिनय के प्रकरण में जो स्थानक, चारियाँ, नृत्तहस्त आदि कहे गये हैं, करणों में उनका प्रयोग होता है । खड़े होने की चेष्टा को स्थानक, पाद-संचालन की प्रक्रिया को चारी, नृत्त में हाथों के संचालन एवं न्यास की प्रक्रिया को 'नृत्तहस्त' कहते हैं । करणों के प्रयोग में प्रायः बायाँ हाथ वक्ष पर होता है किन्तु सब जगह यह स्थिति नहीं पायी जाती । इसी प्रकार दाहिने हाथ का चरणानुगत होने की बात भी सब जगह नहीं पायी जाती । दो करणों के मेल से 'मातृका' होती है । स्थान, चारी, नृत्तहस्तों में मातृका का प्रयोग कहा गया है । मातृकाओं के भेद से करण बनते हैं ॥ १७०-१७३ ॥

१. क-ब. नृत्यहस्तास्तु ।
२. क-अ. नृत्यकर्मणि ।

अङ्गहारलक्षणम्

अष्टोत्तरशतं ह्येतत्करणानां मयोदितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्यङ्गहारविकल्पनम् ॥ १७४ ॥

अङ्गहारलक्षणम् ।

तलपुष्पपुटस्य पूर्वनिर्देशात्सर्वत्र वर्तनाप्राधान्येनोपक्रम इति सूचितं परं प्रयोगमाह । उक्तमुपसंहरन् क्रमप्राप्तानङ्गहारान्यथोद्देशं लक्षणीयत्वेन प्रतिजानीते—अष्टोत्तरशतमित्यादिना । हि यस्मात्करणानामष्टोत्तरशतमुदितं ततो हेतोः परं विशिष्टमङ्गहारो विकल्प्यते परस्परतो भेद्यते येन तदङ्गहारेष्वेव विशेषलक्षणं वक्ष्यामीति सम्बन्धः । जातावेकवचनम् ॥ १७३ ॥

अङ्गहार का लक्षण

करणों के निरूपण के प्रसङ्ग में 'तलपुष्पपुट' नामक करण का प्रथम निर्देश होने के कारण सब जगह करणों में वर्त्तना (हस्ताभिनय में शोभाधायक तत्त्व) का मुख्य रूप से उपक्रम होता है, यह सूचित किया गया है। इसके बाद प्रयोग को कहते हैं। अपने कथन का उपसंहार करते हुए क्रम प्राप्त अङ्गहारों का यथोद्देश लक्षण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—'अष्टोत्तरशतमित्यादि ।

अनुवाद—इस प्रकार मैंने इन एक सौ आठ (१०८) करणों को कहा है। अर्थात् निरूपण किया है। अब मैं अङ्गहारों का विकल्प कहूँगा ॥ १७४ ॥

अभिनव— जिन करणों से मैंने एक सौ आठ करणों को कहा है, उनसे विशिष्ट अङ्गहारों का विकल्प अर्थात् परस्पर भेद को कहते हैं, जिससे उन अङ्गहारों में ही विशेष लक्षणों को कहूँगा, यह सम्बन्ध है। यहाँ पर 'जाति' में एकवचन है ॥ १७४ ॥

विमर्श—एक सौ आठ करणों का निरूपण करने के बाद अब अङ्गहारों का विवेचन किया जाता है। इसके पूर्व १०८ करणों का विवेचन किया गया है अब उन करणों से विशिष्ट अङ्गहारों का निरूपण करते हैं। यतश्च समस्त अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती है, इसलिए अङ्गहारों के विवेचन के पहिले करणों का विवेचन किया गया है। यहाँ पर 'विकल्प' पद से दो अर्थ निकलते हैं—एक भेद और दूसरा विशेष लक्षण। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। अङ्गहार के भेदों का अलग-अलग लक्षण करना विशेष लक्षण है। अतः अब अङ्गहारों के भेद एवं विशेष लक्षणों का निरूपण करेंगे।

अङ्गहार बत्तीस हैं—(१) स्थिरहस्त (२) पर्यस्तक (३) सूचीविद्ध (४) अपविद्ध (५) आक्षिप्तक (६) ऊद्घट्टित (६) विष्कम्भक (८) अपराजित (९) विष्कम्भापसृत (१०) मत्ताक्रीड़ (११) स्वस्तिक रेचित (१२) पार्श्वस्वस्तिक (१३) वृश्चिकापसृत (१४) भ्रमर (१५) मत्तस्खलितक (१६) मत्तविलसित (१७) गतिमण्डल (१८) परिच्छिन्न (१९) परिवृत्तकरेचित (२०) वैशाखरेचित (२१) परावृत्त (२२) अलातक (२३) पार्श्वच्छेद (२४) विद्युद्भ्रान्त (२५) उद्वृत्तक (२६) आलीढ़ (२७) रेचित (२८) आच्छुरित (२९) आक्षिप्तरेचित (३०) सम्भ्रान्त (३१) अपसर्पित (३२) अर्धनिकुट्टक ।

१—स्थिरहस्तः

प्रसार्योत्क्षिप्य च [1]करौ समपादं प्रयोजयेत् ।
व्यंसितापसृतं [2]सव्यं हस्तमूर्ध्वं प्रसारयेत् ॥ १७५ ॥
प्रत्यालीढं ततः कुर्यात्[3] तथैव च निकुट्टकम् ।
ऊरूद्वृत्तं ततः [4]कुर्यादाक्षिप्तं स्वस्तिकं ततः ॥ १७६ ॥
नितम्बं करिहस्तं[5] च कटिच्छिन्नं च [6]योगतः ।
स्थिरहस्तो भवेदेष[7] त्वङ्गहारो हरप्रियः ॥ १७७ ॥

१. स्थिरहस्तः ।

तत्रोद्देशक्रमेण स्थिरहस्तं लक्षयति—प्रसार्येत्यादिना हरप्रिय इत्यन्तेन।
तत्र प्रसार्योत्क्षिप्य च कराविति त्रिपताकाञ्जलि वक्षःस्थमिति लक्षितस्य लीनाख्यस्य करणस्य (ना. शा. ४-६६) प्रथमेतिकर्तव्यतानिरूपणेनोपलक्षितम् । एतच्च तल्लक्षण एवोक्तमस्माभिः पताकशब्दस्य प्रयोजनं वदद्भिः । इदमिदं करणं योगतोऽन्यादौ ह्यनया जिघृक्षतीत्यक्षिप्तकरणगतहस्तपादाद्यौचित्य-

१—स्थिरहस्त

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथों को फैलाकर फिर ऊपर की ओर ले जाकर पैर को समपाद स्थिति में रखा जाता है, फिर दाहिने हाथ को व्यंसित एवं अपसृत करके अर्थात् कन्धे के ऊपर ले जाकर फैलाया जाता है। फिर प्रत्यालीढ़ स्थिति (खड़े होने की एक मुद्रा) में खड़े होकर उसी प्रकार निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, स्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों के योग से जो प्रयोग (अभिनय या नृत्य) किया जाता है वह शिव को प्रिय लगने वाला 'स्थिरहस्त' नामक अङ्गहार कहलाता है ॥ १७५-१७७ ॥

अभिनव—अब उद्देशक्रम से 'प्रसार्य' इत्यादि से लेकर 'हरप्रियः' यहाँ तक 'स्थिरहस्त' का लक्षण करते से—

१. क-ब. चरणौ ।
२. ख-घ. सव्यमूर्ध्वं हस्तं ।
३. ख-ग. घ. कृत्वा ।
४. क-त. कुर्यात्स्वस्तिकाक्षिप्तमेव च ।
५. ख-घ. करिहस्तश्च । क-ब. कटिहस्तश्च ।
६. ख-घ. तथैव च ।
७. क-च. त. ब. भवेदेवमङ्गहारो हरप्रियः ।

युक्तवर्तनाचारीयोजनया यदि भवति तत एव चाविच्छिन्ना शुभा च। प्रबन्धादलातचक्रवदेकबुद्ध्यनुसंहार्यं तदलम्। स्थिरहस्तो नामाङ्गहार इति सम्बन्धः। एवं सर्वत्र योगत इति सर्वाङ्गहारेषु सम्बध्यते।

अन्ये तु योगात्समाधेरप्ययं भगवतः प्रीतय इति व्याचक्षते।

समपादमिति समनखं करणम्।

"श्लिष्टौ समनखौ पादौ करौ चापि प्रलम्बितौ।

देहः स्वाभाविको यत्र भवेत्समनखं तु तत्"। इति (ना. शा. ४-६५)।

व्यंसिते—

"आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ।

ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत्॥" (ना. शा. ४-१०८)

इति लक्षिते करणेऽपसृतौ विप्रकीर्णौ यौ हस्तौ तौ द्वावप्यूर्ध्वस्थानस्थितौ कृत्वा आलीढ़स्य परिवर्तनेन (ना. शा. १०-७०) प्रत्यालीढं स्थानकं कुर्यात्। ततो निकुट्टिते "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" ना. शा. ४-६९) इति नवमं करणम्।

अभिनव–यहाँ पर "दोनों हाथों को फैलाकर, ऊपर की ओर उठाकर त्रिपताक अञ्जलि को वक्षस्थल पर रखे" इससे यह लक्षित होता है कि यहाँ पर सबसे पहिले 'लीन' नामक करण का सम्पादन करना चाहिए। इस बात को हमने पताक शब्द का प्रयोजन बताते हुए 'लीन' करण के लक्षण में ही कह दिया है। इस प्रकार यदि इस करण का प्रयोग योग से अर्थात् आक्षिप्त करण गत हस्त-पादादि के औचित्य से युक्त वर्त्तना चारी की योजना से होता है तो वह अविच्छिन्न रूप से शुभ होती है। प्रबन्ध के अनुसार अलात चक्र की तरह इसका अनुपसंहार करना चाहिए। 'स्थिर-हस्त' नामक अङ्गहार है, यह सम्बन्ध है। इस प्रकार सब जगह सभी अङ्गहारों में 'योगतः' (योग) से सम्बन्ध है।

कुछ आचार्य तो योग से समाधि अर्थ लेते हैं, तदनुसार भगवान् की प्रसन्नता के लिए समाधि में इसका उपयोग हो सकता है, इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

'समपाद' का अर्थ 'समनख' करण है। "जहाँ पर दोनों पाद श्लिष्ट होते हैं वहाँ समनख करण होता है" (ना० शा० ४।६५)।

व्यंसित करण का लक्षण है—

"जहाँ पर 'आलीढ़' नामक स्थानक का प्रयोग हो और दोनों हाथ वक्षःस्थल पर रेचित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण स्थिति में हों वहाँ 'व्यंसित' करण होता है"

(ना० शा० ४।१०८)

ततोऽपि "करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठ" (ना. शा. ४-०५९) इत्यष्टनवतितमम् । ततः स्वस्तिकं हस्ताभ्यामथ पादाभ्यामिति (ना. शा. ३-७५) पञ्चदशम् । तत "आक्षिप्तं हस्तपादं चेति" (ना. शा. ४-००५) पञ्चपञ्चाशत् । "भुजावूर्ध्वं विनिष्क्रान्तौ हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली" (ना. शा. ४-१४६) इति नितम्बगतिः । ततः करिहस्तम्—"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोपरि" (ना. शा. ४-०४८) इति सप्ताशीतितमम् । ततः "पर्याशः कटिश्छिन्ना बाहू शिरसि" (ना. शा. ४-७२) इत्येकादशम् ।

इत्येवं करणग्रामसम्यग्योजनया कृतं स्थिरहस्तमङ्गहारं निर्वर्तयति । अतः[1] सर्वेष्वङ्गहारेषु करणद्वयवर्गं सर्वं करणजातं चतुर्दिङ्मुखेषु प्रयोज्यमिति नाट्याचार्या मन्यन्ते । अनागतातीतवेदी मुनिस्तदयुक्तं मन्यमान एकान्नविंशतितमे हि परिवृत्तकरेचितेऽङ्गहारे (ना. शा. ४-२९९) वक्ष्यति पराङ्मुखविधिर्भूय

इस प्रकार के लक्षण से लक्षित 'व्यंसित' करण में 'अपसृत' और 'विप्रकीर्ण' नामक जो दोनों हाथ हैं, उन दोनों को ही ऊपर की ओर ले जाकर आलीढ़ स्थान के परिवर्त्तन से प्रत्यालीढ़ स्थानक (ना० शा० १०।७०) इसके बाद 'निकुट्टितौ यदा करणौ' (ना० शा० ४।६९) इत्यादि लक्षण वाले 'निकुट्टक' नामक नवें (नवम) करण का प्रयोग करे, फिर उसके बाद 'करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठम्' (ना० शा० ४।५९) इत्यादि लक्षण से युक्त 'उरूद्वृत्त' नामक करण का प्रयोग करे, फिर 'हस्ताभ्यामथ पादाभ्याम्' (ना० शा० ४।७५) इत्यादि लक्षण वाले 'स्वस्तिक' नामक पन्द्रहवें करण का प्रयोग करे, फिर 'आक्षिप्तं हस्तपादं च' (ना० शा० ४।११५) इत्यादि लक्षण से युक्त ५५वें 'आक्षिप्त' नामक करण का प्रयोग करे। तदनन्तर "जहाँ पर दोनों भुजाएँ ऊपर की ओर उठी हुई हों तथा अंगुलियाँ सामने की ओर हों" (ना०शा० ४।१४६) । इत्यादि लक्षण से युक्त 'नितम्ब' नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद "जहाँ पर बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो और दाहिना हाथ प्रोद्वेष्टित हो' (ना० शा० ४।१४८) इत्यादि लक्षण वाले 'करिहस्त' नामक ८७वें करण का प्रयोग करना चाहिए ।फिर 'जहाँ पर कटि छिन्न मुद्रा में हो और दोनों बाहु शिर पर अलपल्लव मुद्रा में हो' (ना० शा० ४।७२) इत्यादि लक्षण वाले 'कटिच्छिन्न' नामक ११वें करण का प्रयोग करना चाहिए।

१. क. अत्र हारेषु करणावयववर्गं ।

एवमेव भवेत्' इत्यङ्गहारविधावित्यर्थायोगात्। तदाङ्गिकेष्वेव वक्ष्यामः। उद्वेष्टितकरणस्वरूपं निरूपयतः प्रयोगश्चैषामदृष्टार्थ एव। प्रयोगे च [1]तत्तद्वाक्यार्थादूनं विप्रकर्षानुसारेण। एतच्च पूर्वरङ्गे (अ-५) यथोपदेशं वक्ष्यामः। 'युद्धे नियुद्धे च' इत्यादौ (ना. शा. ४-५६)। [2]विशेषेणैतेषाम् कदाचित्प्रयोगः। एवं स्थिरहस्त एव नानिर्वर्तनं लक्ष्यत इति न वृथा तन्निर्देशेनायासः ॥११५-११७॥

इस प्रकार करणों की सम्यक् योजना से किया गया अङ्गहार 'स्थिरहस्त' नामक अङ्गहार बनता है। इसलिए सभी अङ्गहारों में करणों के सभी अङ्गों, सभी करणों का चतुर्मुख (चारों ओर) प्रयोग करना चाहिए, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। भूत और भविष्य के वेत्ता मुनि (भरतमुनि) उसे उचित मानते हुए 'परिवृत्तक-रेचित' नामक उन्नीसवें अङ्गहार के निरूपण के प्रसङ्ग में कहेंगे "पराङ्मुख होकर अर्थात् मुख फेरकर फिर से इसी प्रकार सभी करणों का प्रयोग करे" इस प्रकार 'अङ्गहार की विधि में सभी करणों का प्रयोग करना चाहिए, यह अर्थ ध्वनित होता है। उस विधि को आङ्गिक अभिनय के प्रसङ्ग में कहेंगे। उद्वेष्टित करण के स्वरूप का निरूपण करते हुए इनका प्रयोग अदृष्टार्थ अर्थात् अदृष्ट करण वाला कहा गया है। इनके प्रयोग में विप्रकर्ष के अनुसार उन-उन वाक्यार्थों से न्यून होता है। इसे पूर्वरङ्ग के निरूपण के अवसर पर उपदेश के अनुसार कहेंगे। अर्थात् पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त अङ्गहार दृष्ट फल वाला होता है। नृत्य में, युद्ध में, नियुद्ध में, बाहुयुद्ध में इन अङ्गहारों का विशेष रूप से प्रयोग होता है। इस प्रकार स्थिरहस्त अङ्गहार में निवर्त्तन नहीं ज्ञात होता, इसलिए उनका निर्देश करने का आयास करना व्यर्थ है ॥ १७५-१७७ ॥

विमर्श—यहाँ पर 'दोनों हाथों को फैलाकर, ऊपर उठाकर' (प्रसार्योत्क्षिप्य च करौ) यह अंश 'त्रिपताक हस्त की अञ्जलि को वक्षःस्थल पर रखे' इत्यादि लक्षण से लक्षित 'लीन' नामक करण का इस 'स्थिरहस्त' अङ्गहार में सर्वप्रथम प्रयोग करना चाहिए, इस बात को 'त्रिपताक' शब्द का प्रयोजन बताते हुए 'लीन' करण के लक्षण में ही हम कह चुके हैं। यदि लीन करण का प्रयोग हस्त-पादादि औचित्य के साथ वर्तना चारी की योजना के द्वारा किया जाता है तो वह शुभ होता है।

'समपाद' एक स्थानक है, खड़े होने की एक चेष्टा, जिसमें दोनों पैर एक ताल की दूरी पर स्वाभाविक स्थिति में रखे जाते हैं। अभिनवगुप्त ने इस अङ्गहार में 'समनख'

१. क-भ. म. तद्व्याख्यार्थादूनं।

२. विषयेणैतेषाम्।

करण के प्रयोग का उल्लेख किया है, क्योंकि इस करण में दोनों पैर श्लिष्ट होकर स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं। इस करण के प्रयोग के बाद फिर 'व्यंसित' करण का प्रयोग होता है। इस करण में 'आलीढ़' नामक स्थानक का प्रयोग होता है और दोनों हाथ वक्षःस्थल पर रेचित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं। फिर इस करण में विप्रकीर्ण (अपसृत) दोनों हाथों को ऊपर-नीचे करके 'आलीढ़' नामक स्थानक का परिवर्त्तन करके 'प्रत्यालीढ़' स्थानक की योजना करे। इसके बाद 'निकुट्टित' करण का प्रयोग करना चाहिए। 'निकुट्टित' करण में दोनों हाथ शिर और बाहु के बीच में निकुट्टित (संचालित) होते हैं और उसी प्रकार दोनों पैर भी निकुट्टित होते हैं। तदनन्तर 'ऊरूद्वृत्त' नामक करण का प्रयोग करे अर्थात् हाथ को व्यावर्त्तित करके (चक्राकार घुमाते हुए) ऊरू के पृष्ठभाग पर अञ्चित रूप में अर्थात् झुकाकर रखे और जङ्घाओं को अञ्चित तथा उद्वृत्त (ऊपर की ओर घूमी हुई) मुद्रा में रखे। तत्पश्चात् 'स्वस्तिक' करण का प्रयोग करे अर्थात् दोनों हाथों और पैरों को 'स्वस्तिक' मुद्रा में रखे। इसके बाद 'आक्षिप्त' करण की योजना करे अर्थात् हाथ और पैरों को वेग से उठाकर आक्षिप्त करना चाहिए। फिर 'नितम्ब' करण की योजना में अभिमुख (या अधोमुख) अंगुलियों वाले दोनों पताक हाथों को व्यावर्त्तित करके शिर के ऊपर शीघ्रता से ले जाया जाय और पैरों को बद्धाचारी में रखे। इसके बाद 'कटिहस्त' करण की योजना करे। इसमें एक हाथ अर्थात् बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखे और दाहिने हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित मुद्रा में रखे तथा पैर अञ्चित (झुकी हुई) स्थिति में रखे। इसके बाद 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग करे अर्थात् कटि के मध्यभाग को बारी-बारी से चालित करे और हाथों को बारी-बारी पल्लव चेष्टा में रखे। इस प्रकार इन दस (१०) करणों का क्रम से प्रयोग करने से 'स्थिरहस्त' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है। यह अङ्गहार शिव को अधिक प्रिय है। कुछ संस्करणों में 'हरप्रियः' के स्थान पर 'हरिप्रियः' पाठ मिलता है। किन्तु यहाँ 'हरप्रियः' पाठ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि नृत्त तथा अङ्गहारों के प्रयोग का सम्बन्ध शिव से है उन्होंने अङ्गहारों का प्रयोग-विधान तण्डु को बताया था और तण्डु ने भरत को सिखाया था। नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट ये बत्तीस अङ्गहार शिव की देन है ॥ १७५–१७७ ॥

अभिनव—कुछ आचार्य तो 'प्रसार्य' इत्यादि अंश से लेकर 'प्रत्यालीढं ततः कुर्यात्' पर्यन्त अंश का सभी अङ्गहारों में पहिले योजना करते हैं, तो प्रथम अङ्ग की सङ्गति करण का योग कैसे होगा? इस अभिप्राय से कहते हैं। दूसरे आचार्य तो 'प्रत्येक अङ्गहार में समुचित योजना स्वयं समझ कर करनी चाहिए, इस प्रकार कहते हैं। अन्य आचार्य कहते हैं कि श्रुत अर्थात् जैसा कथित है, उसकी हानि अर्थात् उसका त्याग करने से क्या लाभ है? इसलिए जैसा है वैसा रहने दीजिये।

२—अथ पर्यस्तकः

तलपुष्पापविद्धे द्वे[1] वर्तितं सनिकुट्टकम्[2] ।
[3]ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ॥ १७८ ॥
[4]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
एषः पर्यस्तको नाम [5]ह्यङ्गहारो हरोद्भवः ॥ १७९ ॥

केचित्प्रसार्येत्यादिना प्रत्यालीढं ततः कुर्यादित्यन्तं सर्वेष्वङ्गहारेषु प्रथममितिकर्तव्यतां योजयन्ति प्रथमाङ्गसङ्गतिकरणयोगः कथमित्यभिप्रायेण । अन्ये तु प्रत्यङ्गहारसमुचिताः साधारणाः स्वयमूह्या इत्याहुः । श्रुतहानौ को गुण इत्यपरे ।

२. पर्यस्तकः ।

तलपुष्पपुटेत्यादि । तत्र "वामे पुष्पपुट" (ना. शा. ४-६१) इति प्रथमम् । "आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे" "वामहस्तश्च वक्षस्थः", (ना. शा. ४-६४) इत्यपविद्धम् । "कुञ्चितौ मणिबन्धे तु" इति (ना. शा. ४-६२) वर्तितम् । "निकुट्टिताविति" (ना. शा. ४-६९) निकुट्टकम् । "करमावृत्तकरणम्" इति (ना. शा. ४-१५९) ऊरूद्वृत्तम् । [तत[6] "आक्षिप्तं हस्तपादम्" (४-११६) इत्याक्षिप्तम् । "स्वस्तिकापसृता" विति (४-११५) उरोमण्डलम् । ततो "भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्ता" विति (४-१४६) नितम्बकरणम् । अनन्तरं "वामो वक्षःस्थित" इति (४-१४८) करिहस्तम् । ततः "पर्यायश" इति (४-७२) कटिच्छिन्नम् । एतेन करणदशकेन पर्यस्तकः ॥] ॥ १७८-१७९ ॥

२—पर्यस्तक

अनुवाद—पर्यस्तक अङ्गहार में सर्वप्रथम 'तलपुष्प' तथा 'अपविद्ध' नामक करणों का प्रयोग होता है। तत्पश्चात् 'वर्त्तित' तथा 'निकुट्टक' करणों का प्रयोग किया जाता है। फिर 'ऊरूद्वृत्त' और 'आक्षिप्त' तथा 'उरोमण्डल' करण प्रयुक्त होते हैं, फिर 'नितम्ब', करिहस्त' तथा 'कटिच्छिन्न' नामक करणों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार शिव के द्वारा आविष्कृत 'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार होता है ॥१७८-१७९ ॥

---

१. ख-घ. 'च' २. ख-घ. संप्रसारयेत् । ग. सनिकुट्टकम् ।
३. क-ङ. म. ऊरुवृत्तं ततः कुर्यादुरोमण्डलमेव च ।
४. ख. नितम्बं करिहस्तश्च । क-न. भ. नितम्बः करिहस्तश्च ।
५. ख-घ. त्वङ्गहारो ।
६. क-म. कोष्ठकान्तर्गतो भागो नास्ति ।

अभिनव—'पर्यस्तक' नामक करण में सबसे पहिले पुष्पपुट (ना० शा० ४।६१) नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् 'आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे' तथा 'वामहस्तश्च वक्षस्थः' (ना०शा० ४।६४) लक्षण वाला 'अपविद्ध' करण का प्रयोग करे। फिर 'कुञ्चिते मणिबन्धे तु' (ना० शा० ४।६२) इत्यादि लक्षणों वाला 'वर्त्तित' करण प्रयुक्त करे। तदनन्तर 'निकुट्टिताविति' (ना० शा० ४।६९) इत्यादि लक्षण से युक्त 'निकुट्टक' नामक करण का प्रयोग करे। तत्पश्चात् 'करमावृत्तकरणम्' (ना० शा० ४।१५९) इत्यादि लक्षणों वाला 'ऊरूद्वृत' करण का प्रयोग करे। फिर 'आक्षिप्तं हस्तपादं' (ना० शा० ४।११६) इत्यादि लक्षण से समन्वित आक्षिप्त करण का प्रयोग करना चाहिए। फिर 'स्वस्तिकापसृताविति' (ना० शा० ४।११५) इत्यादि लक्षणों वाला 'उरोमण्डल'करण का प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद 'भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ' (ना० शा० ४।१४६) इत्यादि लक्षण वाला 'नितम्ब' करण का प्रयोग करे। तदनन्तर 'वामो वक्षःस्थितः' (ना० शा० ४।१४८) लक्षण वाले 'करिहस्त' करण का प्रयोग करे। फिर 'पर्यायशः' (ना० शा० ४।७२) इत्यादि लक्षणयुक्त 'कटिच्छिन्न' नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार दश करणों के योग से 'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १७८-१७९ ॥

विमर्श—'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार में सबसे पहिले 'पुष्पपुट' नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। पुष्पपुट करण का लक्षण है—'जहाँ पर बाँये पार्श्व में पुष्पपुट हस्त अर्थात् संश्लिष्ट अंगुलियों वाले हाथों को परस्पर संश्लिष्ट करे और पैर अग्रतलसंचर मुद्रा में स्थित हो तथा पार्श्व नत हो वहाँ 'पुष्पपुट' नामक करण होता है'' (ना० शा० ४।६२)। पुष्पपुट करण के प्रयोग करने के पश्चात् 'अपविद्ध' नामक करण का प्रयोग करे अर्थात् शुकतुण्ड हस्त को आवर्त्तित करके ऊरू (जङ्घा) के पृष्ठभाग पर गिराये, फिर बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखना चाहिए। इसके बाद 'वर्त्तित' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् मणिबन्ध में आश्लिष्ट हाथों को व्यावृत्त एवं परिवर्त्तित करके जङ्घाओं के ऊपर रख दिया जाय। इसके बाद 'निकुट्टक' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् दोनों हाथों को अपने बाहु और शिर के बीच में संचालित (निकुट्टित) करे और उसी प्रकार पैरों का भी संचालन करे। तदनन्तर 'ऊरूद्वृत' करण का प्रयोग करे अर्थात् हाथों को व्यावर्त्तित करके जङ्घा के ऊपर कुछ झुका हुआ रखे और जङ्घाएँ झुकी हुई तथा ऊपर की ओर घूमी हुई स्थिति में होनी चाहिए। इसके बाद 'आक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् हाथ और पैरों को वेग के साथ आक्षिप्त करे। तदनन्तर 'उरोमण्डल' करण का प्रयोग करे, अर्थात् तब पैरों को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखे तथा एक हाथ को ऊपर की ओर उठाए हुए तथा दूसरे हाथ को नीचे की ओर लटकाए हुए वक्षःस्थल के समीप घुमाते हुए रखे। तदनन्तर 'नितम्ब' करण का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर 'करिहस्त' करण का प्रयोग करे अर्थात् एक हाथ वक्षःस्थल पर

३—अथ सूचीविद्धः

[1]अलपल्लवसूचीं च कृत्वा विक्षिप्तमेव च ।
आवर्तितं ततः कुर्यात्तथैव च निकुट्टकम् ॥ १८० ॥
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव[2] च ।
करिहस्तं कटिच्छिन्नं सूचीविद्धो भवेदयम् ॥ १८१ ॥

---

३. सूचीविद्धः ।

[3]अलपल्लवसूचीं चेति । "अलपद्मः [4]शिरोहस्तः सूचीपादश्च दक्षिणः ।" इति (ना.शा. ४-१३८) अलपल्लवोपलक्षितमर्धसूच्याख्यं सप्तसप्ततितमं करणम् ।

"विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्" ॥ इति (ना. शा॰ ४-११९)

इति विक्षिप्तम् । एकान्नषष्टितमं यदावर्ताख्यं करणं—

"प्रसार्यं कुञ्चितं पादं [5]पुनरावर्त्तयेद् द्रुतम् ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ तदावर्त्तमुदाहृतम्" ॥ इति (ना. शा. ४-१२०)

तदेवावर्तितशब्देनोक्तम् । ततो निकुट्टकादीनि षट् करणान्युक्ताङ्गहारवदेव स्थिरहस्त इव ॥ १८०–१८१ ॥

रखे और दूसरा हाथ प्रोद्वेष्टित (चारों ओर से घेरे हुए) रखना चाहिए । फिर 'कटिच्छिन्न' करण की योजना में कटि को बार-बार चालित कर तथा हाथों को बारी-बारी से पल्लवमुद्रा में रखे । इस प्रकार दस करणों के योग से 'पर्यस्तक' करण बनता है । ॥ १७८-१७९ ॥

३—सूचीविद्ध

अनुवाद—सूचीविद्ध अङ्गहार में सर्वप्रथम अलपल्लव हस्त तथा सूचीमुख पाद की योजना के बाद 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए । तदनन्तर 'आवर्त्तित' करण का प्रयोग करे, फिर उसी प्रकार 'निकुट्टक' करण का प्रयोग करे । उसके बाद ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय । इस प्रकार सूचीविद्ध अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १८०-१८१ ॥

---

१. क-त. अलपद्मं च सूचीश्च ।
२. ख-घ. उरोमण्डलकं तथा
३. क. अर्धपल्लवसूचीं इति पाठान्तरमपि ।
४. शिरोदेशे इति पाठान्तरम् ।
५. क. पुनस्त्वावर्त्तयेद् द्रुतम् ।

४—अथापविद्धः

अपविद्धं तु करणं सूचीविद्धं [1]तथैव च ।
उद्वेष्टितेन हस्तेन त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ १८२ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर 'अलपल्लव हस्तमुद्रा शिरःप्रदेश में हो और सूचीपाद की स्थिति हो' इस कथन से अलपल्लव से उपलक्षित 'अर्धसूची' नामक ७७वें करण का संकेत मिलता है।

'जहाँ पर हाथ और पैर पीछे और बगल में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाँय, वहाँ 'विक्षिप्त' करण होता है" (ना० शा० ४।११९)।

इत्यादि लक्षणों ये युक्त 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग होता है। तत्पश्चात् 'आवर्त्त' नामक ५९वें करण का प्रयोग करे।

"जहाँ पर कुञ्चित पैर को फैलाकर फिर शीघ्रता से घुमाकर आवर्त्तित करे और हाथों को प्रयोग के अनुसार संचालित करे तो वहाँ 'आवर्त्त' करण होता है।"

(ना० शा० ४।१२०)

इसी को 'आवर्त्तित' करण भी कहते है। इसके बाद निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न आदि छः करणों का प्रयोग स्थिरहस्त अङ्गहार में उक्त विधि के अनुसार करे ॥ १८०-१८१ ॥

विमर्श—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम हाथ को अल्लपल्लव मुद्रा में तथा पैर को 'सूची' प्रक्रिया में रखना चाहिए। यह स्थिति 'अर्धसूची' नामक करण में होती है, अतः यहाँ पर 'अर्धसूची' करण का प्रयोग होना चाहिए, ऐसी अभिनवगुप्त की मान्यता है। इसके बाद 'विक्षिप्त' नामक करण का प्रयोग करे अर्थात् हाथ पैर को पीछे तथा बगल में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाँय। इसके बाद 'आवर्त्त या आवर्त्तित' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् कुञ्चित पैर को फैलाकर फिर शीघ्रता से घुमाकर आवर्त्तित करना चाहिए। तदनन्तर निकुट्टक करण की योजना में दोनों हाथों की भुजाओं और शिर के बीच में संचालित करे और उसी प्रकार पैर का भी संचालन करें। फिर ऊरूद्वृत्त करण अर्थात् हाथों को आवर्त्तित करके जङ्घा के ऊपर सिकुड़ा हुआ रखे और जङ्घाएँ सिकुड़ी हुई तथा ऊपर की ओर मुड़ी हुई स्थित हों। फिर आक्षिप्त करण अर्थात् हाथ और पैरों को वेग के साथ आक्षिप्त करे, तदनन्तर उरोमण्डल अर्थात् पैर को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखे, फिर करिहस्त अर्थात् एक हाथ को वक्षःस्थल पर और दूसरे हाथ को प्रोद्वेष्टित मुद्रा में तथा पैर को अञ्चित चेष्टा में रखना चाहिए, इसके बाद कटिच्छिन्न करण अर्थात् कटि मध्यभाग को बार-बार चालित करे तथा हाथों को बारी-बारी अलपल्लव मुद्रा में शिर पर रखे। इस प्रकार नौ करणों के योग से 'सूचीविद्ध' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १८०-१८१ ॥

---

१. ख-घ. पुनर्भवेत् ।

उरोमण्डलकौ हस्तौ कटिच्छिन्नं तथैव च ।
[1]अपविद्धोऽङ्गहारश्च विज्ञेयोऽयं प्रयोक्तृभिः ॥ १८३ ॥

४. अपविद्धः ।

अपविद्धन्त्वित्यादि ।

"[2]आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे निपातयेत् ।
वामहस्तश्च वक्षःस्थोऽप्यपविद्धं तु तद्भवेत् ॥ (ना. शा. ४-६४)
"पादसूच्या यदा पादो द्वितीयश्च प्रविध्यते ।
कटिवक्षःस्थितौ हस्तौ सूचीविद्धं तदुच्यते ॥" (ना. शा. ४-१३९)

एवं करणद्वयं कृत्वोद्वेष्टितेन करणेन (ना. शा. ९-२१६) बद्धया चार्या त्रिकं वलितं कृत्वोरोमण्डलहस्तोपलक्षितमुरोमण्डलकरणं ततोऽपि कटिच्छिन्नं विदध्यात् ।

"स्वस्तिकापसृतौ पादावपविद्धक्रमौ यदा ।
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलकं तु तत् ॥" (ना. शा. ४-११५)

४—अपविद्ध

अनुवाद—जहाँ पर सर्वप्रथम अपविद्ध तथा फिर सूचीविद्ध करणों का संयोजन किया जाय और फिर उद्वेष्टित हस्त के साथ त्रिक (कटिप्रदेश) को परिवर्त्तित किया जाय अर्थात् घुमाया जाय, फिर उरोमण्डलक करण में हाथों को न्यस्त करके कटिच्छिन्न करण का प्रयोग करे वहाँ पर प्रयोक्ताओं को 'अपविद्ध' नामक अङ्गहार समझना चाहिए ॥ १८२-१८३ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त ने इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'अपविद्ध' करण का प्रयोग स्वीकार किया है । अपविद्ध करण का लक्षण है—

"जहाँ पर शुकतुण्ड नामक हाथ को आवर्त्तित करके (घुमाकर) जङ्घा के ऊपर रखा जाय और बाँया हाथ वक्षस्थल पर रखा जाय, वहाँ पर 'अपविद्ध' करण होता है ।" (ना० शा० ४।६५)

सूचीविद्ध करण का लक्षण—

"जहाँ पर एक पैर को सूचीपाद मुद्रा में रखकर दूसरे पैर से आविद्ध करे और दोनों हाथों को क्रमशः कटि और वक्षस्थल पर स्थित हो वहाँ पर 'सूचीविद्ध' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१३९) ।

१. ख-घ. अपाविद्धाङ्गहारस्तु विज्ञेयस्तत्प्रयोक्तृभिः ।
क-अ. द. अपविद्धस्तु विज्ञेयो ह्यङ्गहारः प्रयोक्तृभिः ।

२. क-म. आपत्य ।

प्रयोक्तृभिरिति ये प्रयोगकुशलास्तैः। स्वयमङ्गस्य गतिः सम्यग्विद्वद्भिर्ज्ञातुं न शक्य इत्यनेनेदमाह। एतेषु करणेषु यदा मध्यवर्तनशिरोभ्रूनेत्रादिकर्मसहितापि या योजना च सा अंशश्च स्वरूपतत्त्वविदा स्वयमङ्गीकर्तुं शक्यः। अन्यस्य तूक्तापि प्रयोक्तुमशक्या न चापि निरूपयितुं शक्या। गीतवाद्यलययतिवाक्यार्थभेदेन च तस्या एव योजना। योजने चानन्त्यम्। नहि सुशिक्षितोऽपि लक्षणकारो वाक्यानां प्रतिपदं लक्षणं कर्तुं शक्नोति। अस्य पश्चादिदं प्रयोज्यमिति [1]ज्ञापितेन किञ्चदात्मनो योजना च संहिता कार्या। नियमनमग्रे वक्ष्याम इत्युक्तम्। तेन मण्डलादिस्थाननिरूपणमिह कैश्चित्कृतं निरुपयोगमेवेत्यास्ताम्॥ १८३॥

इस प्रकार 'अपविद्ध' और 'सूचीविद्ध' नामक दोनों करणों का प्रयोग करने के पश्चात् उद्वेष्टित हाथ से बद्धाचारी के द्वारा त्रिक का वलन करे। अर्थात् कटिदेश को घुमाया जाय, फिर उरोमण्डल हस्त से उपलक्षित उरोमण्डल करण का प्रयोग करे, फिर उसके बाद कटिच्छिन्न करण का संयोजन करे। उरोमण्डलक करण का लक्षण है—

"जहाँ पर पैरों को स्वस्तिक स्थिति से युक्त करके अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और एक हाथ को ऊपर उठाये हुए तथा दूसरे हाथ को नीचे लटकाये हुए वक्षःस्थल के पास घुमाया जाता है वहाँ 'उरोमण्डलक' करण होता है।"

(ना० शा० ४।११५)

'प्रयोक्तृभिः' का अर्थ है जो नाट्यप्रयोग तथा नृत्यप्रयोग में कुशल है उनके द्वारा। अङ्ग की गति (अङ्गहार की गति) को विद्वान् लोग स्वयं अच्छी तरह नहीं जान सकते, इसीलिए 'प्रयोग में कुशल विद्वानों को समझना चाहिए' यह कहा गया है। इन करणों में जब बीच में शिर, भौंह, नेत्र आदि के साथ जो योजना की जाती है, उसको तथा उसके अंश को स्वरूपतत्त्व के जानकार विद्वानों को स्वयं स्वीकारकर लेना चाहिए। अन्य का तो बताये जाने पर भी योजना का प्रयोग नहीं किया जा सकता है और न निरूपण किया जा सकता है। गीत, वाद्य, लय, यति के प्रतिपादक वाक्यार्थं के भेद से उसी की योजना की जा सकती है। इस प्रकार योजना के प्रकार अनन्त हैं। सुशिक्षित लक्षणकार भी वाक्यों का प्रतिपद लक्षण नहीं कर सकता। 'इसके बाद इसका प्रयोग करना चाहिए' इस ज्ञापन के साथ कुछ अपनी भी योजना का अनुसन्धान करना चाहिए, इसका नियमन आगे कहेंगे, यह कहा गया है। इसलिए यहाँ पर मण्डलादि स्थानको का निरूपण जो किसी ने किया है वह निरुपयोग है अर्थात् उसका कोई उपयोग नहीं है, इस प्रकार वे परास्त हो गये॥ १८२-१८३॥

१. क. दयापितेन।

५—अथाक्षिप्तकः

करणं नूपुरं कृत्वा विक्षिप्तालातके पुनः ।
पुनराक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकं तथा ॥ १८४ ॥
[1]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
[2]आक्षिप्तकः स विज्ञेयो ह्यङ्गहारः प्रयोक्तृभिः ॥ १८५ ॥

---

५. आक्षिप्तकः ।

करणं नूपुरमित्यादि ।

त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ"।
नूपुरं च तथा पादः करणे नूपुरे भवेत् ॥ (ना. शा. (४-६७)
विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम् ॥ (ना. शा. ४-११६)

इति विक्षिप्तम् ।

"अलातं चरणं कृत्वाऽप्यंसयोर्दक्षिणं करम् ।
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम् ॥" (ना. शा. ४-७८)

यत्र यत्र पुनर्ग्रहणं तत्र तत्र केचित् द्वियोगमाहुः । द्वितीयाङ्गहारोक्तमाक्षिप्तादिकरणपञ्चकम् ॥ १८४-१८५ ॥

५—आक्षिप्तक

अनुवाद—जहाँ पर 'नूपुर' करण का प्रयोग करने के बाद 'विक्षिप्त' एवं 'अलातक' करणों का प्रयोग किया जाय, फिर उसके बाद 'आक्षिप्तक' करण और 'उरोमण्डलक' करणों का प्रयोग करे, फिर इसी प्रकार नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो अङ्गहार-प्रयोक्ताओं द्वारा उसे 'आक्षिप्तक' अङ्गहार समझना चाहिए ॥ १८४-१८५ ॥

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'नूपुर' करण का प्रयोग होता है जिसमें त्रिक (कटिदेश) को वलित करके (घुमाकर) दोनों हाथों को लतारेचित मुद्रा में रखा जाता है और पैर नूपुरपादिका चारी में रखा जाता है (ना० शा० ४।९७) ।

इसके बाद 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए जिसमें हाथ और पैर को पीछे और बगल की ओर एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाते हैं ।
(ना० शा० ४।११९) ।

---

१. ख-घ नितम्ब; करिहस्तश्च । क-द. म. नितम्बकरिहस्तश्च कटिच्छेदं तथैव च ।
२. ख-घ. आक्षिप्तकस्तु विज्ञेयौ ।

६. अथोद्धट्टितः

उद्वेष्टितापविद्धस्तु करः पादो [1]निकुट्टितः ।
पुनस्तेनैव योगेन वामपार्श्वे भवेदथ ॥ १८६ ॥
उरोमण्डलकौ हस्तौ [2]नितम्बं करिहस्तकम् ।
[3]कर्तव्यं सकटिच्छिन्नं नृत्ते तूद्धट्टिते सदा ॥ १८७ ॥

---

६. उद्घट्टितः ।

उद्वेष्टितापविद्धस्त्विति । अनेन प्रथमश्लोकेन पर्यायशोऽङ्गद्वयप्रयोगं निकुट्टकं करणमाह—

"निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ।
पादौ निकुट्टितौ चैव ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम्" ॥
(ना. शा. ४-६९) इति ।

उरोमण्डलकादिकरणचतुष्कं द्वितीयाङ्गहारवदेव ॥ १८७ ॥

तदनन्तर 'अलातक' करण का प्रयोग करे जिसमें एक पैर को पीछे की ओर फैलाया जाता है और फिर घुमाकर भीतर की तरफ करके दूसरे पैर की एड़ी के पास गिराया जाता है, फिर दाहिने हाथ को कन्धे से हटाकर नितम्ब पर लाया जाता है।

यहाँ पर जहाँ जहाँ 'पुनः' शब्द का प्रयोग है वहाँ वहाँ उन करणों को दुहराया जाता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। इसके बाद द्वितीय 'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार में निर्दिष्ट आक्षिप्त आदि पाँच करणों का प्रयोग करना चाहिए ॥१८४-१८५॥

६—उद्धट्टित

अनुवाद—जहाँ पर दाहिने हाथ को 'उद्वेष्टित' और 'अपविद्ध' मुद्रा में रखा जाता है और दाहिने पैर को 'निकुट्टित' चेष्टा में रखते हैं। फिर उसी प्रकार बाँये पार्श्व में बाँये हाथ को 'उद्वेष्टित' तथा अपविद्ध मुद्रा में तथा बाँये पैर को 'निकुट्टित' चेष्टा में रखते हैं फिर इसके बाद दोनों हाथों को 'उरोमण्डल' स्थिति में रखे। फिर इसके बाद नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'उद्धट्टित' अङ्गहार कहा जाता है ॥ १८६-१८७ ॥

---

१. क-ठ. ब. निकुञ्चितः ।
२. ख-घ. नितम्बः करिहस्तकः ।
३. ख-घ. कर्तव्यः स कटिच्छेदो नृत्ते तूद्घट्टिते बुधैः ।
ग. कर्त्तव्यं सकटिच्छिन्नं नृत्ते तद्घटिते सदा ।

७. अथ विष्कम्भः

पर्यायोद्वेष्टितौ हस्तौ पादौ चैव निकुट्टितौ ।
कुञ्चितावञ्चितौ [1]चैव ह्यूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ १८८ ॥
चतुरश्रं करं कृत्वा पादेन च निकुट्टकम्[2] ।
[3]भुजङ्गत्रासितं चैव करं चोद्वेष्टितं पुनः ॥ १८९ ॥
[4]परिच्छिन्नं च कर्तव्यं त्रिकं भ्रमरकेण तु ।
[5]करिहस्तं कटिच्छिन्नं विष्कम्भे परिकीर्तितम् ॥ १९० ॥

अभिनव—'उद्वेष्टितापविद्धौ' अर्थात् 'उद्वेष्टित और अपविद्ध' इस प्रथमश्लोक के द्वारा क्रम से दो अङ्गों के प्रयोगवाला 'निकुट्टक' करण को कहते हैं—"जहाँ पर दोनों हाथ बाहु और शिर के बीच संचालित होते हैं और उसी प्रकार दोनों पैर भी निकुट्टित हों वहाँ 'निकुट्टक' करण होता है।" (ना० शा० ४।७०) । उरोमण्डलक, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न ये चार करण द्वितीय 'पर्यस्त' नामक अङ्गहार में निर्दि ट विधि के अनुसार संयोजित करने चाहिए ॥ १७६-१८७ ॥

विमर्श—यहाँ पर उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न इन चार करणों को द्वितीय अङ्गहार में बताये गये लक्षण के अनुसार प्रयुक्त करने चाहिए। द्वितीय अङ्गहार के निरूपण के अवसर पर बताया गया है। उरोमण्डल करण के प्रयोग में पैरों को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखते हैं और एक हाथ को ऊपर की ओर उठाए हुए तथा दूसरे को नीचे की ओर लटकाए हुए वक्षःस्थल के समीप घुमाते हुए रखते हैं। तत्पश्चात् 'नितम्ब' करण के हाथों को कन्धे से हटाकर नितम्ब पर लाकर रखते हैं और 'करिहस्त' करण के प्रयोग में एक हाथ को वक्षस्थल पर और दूसरे को प्रोद्वेष्टित रखते हैं, फिर 'कटिच्छिन्न' करण के प्रयोग में कटि को बार-बार चालित कर हाथों को बारो-बारी से पल्लव मुद्रा में रखा जाता है। इस प्रकार निकुट्टक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न नामक पांच करणों के योग से 'उद्वेष्टित' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १८६-१८७ ॥

---

१. ख-घ. कुञ्चितावञ्चितौ च ऊरूद्वृत्तं तथैव च ।
२. क-न. निकुट्टितम् ।
३. ख-घ. भुजङ्गत्रासकं ।
४. क-अ. परिक्षिप्तं ।
५. ख. घ. ग. करिहस्तं कटिच्छिन्नं विष्कम्भः परिकीर्तितः ।
क-ठ. करिहस्तः कटिच्छेदो विष्कम्भः परिकीर्त्तितः ।

७. विष्कम्भः ।

पर्यायोद्वेष्टिताविति । अनेनार्धेनानन्तराङ्गहारवदेव प्रथममण्डलद्वयेन निकुट्टितं करणमित्याह । कुञ्चिताविति । हस्तौ पादौ चेति सम्बन्धः । तेन कुञ्चितस्य करणस्याञ्चितस्य चाङ्गद्वयपर्यायेण प्रयोज्यत्वमुक्तम् ।

"वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ।
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु निकुञ्चितम् ॥" (ना. शा. ४-८७)
"स्वस्तिकौ चरणौ कृत्वा करिहस्तं च दक्षिणम् ।
वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत्" ॥ (ना. शा. ४-८३)

इत्यनन्तरं

"व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ।
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम् ॥" (ना. शा. ४-८४)

७—विष्कम्भक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ बारी-बारी से 'उद्वेष्टित' किये जाँय अर्थात् चक्राकार घुमाये जाँय तथा दोनों पैरों को 'निकुट्टित' किया जाय, फिर इसी प्रकार क्रम से हाथों को 'कुञ्चित' तथा पैरों को 'अञ्चित' करण में प्रयुक्त किया जाय। तत्पश्चात् उसी प्रकार 'ऊरूद्वृत' करण के प्रयोग में न्यस्त हाथों को चतुरस्र स्थिति में रखकर पैर से 'निकुट्टक' करण का प्रयोग करे, फिर 'भुजङ्गत्रासित' करण के अभिनय में हाथ को उद्वेष्टित स्थित में रखे, फिर 'भ्रमर' करण के प्रयोग से त्रिक (कटिप्रदेश) को वलित अर्थात् छिन्न किया जाय, फिर अन्त में 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' करणों का संयोजन किया जाय, वहाँ पर 'विष्कम्भक' नामक अङ्गहार होता है ॥ १८८-१९० ॥

अभिनव—'पर्यायेणोद्वेष्टितौ' अर्थात् क्रम से (बारी-बारी) उद्वेष्टित होता है। इस अर्धश्लोक से पूर्व कथित अङ्गहार के समान ही प्रथम मण्डलद्वय से 'निकुट्टित' करण का प्रयोग करे, यह कहा गया है। 'कुञ्चितौ' पद से हाथ और पैर दोनों का सम्बन्ध है। इससे कुञ्चित और अञ्चित करणों का प्रयोग बारी-बारी से दोनों अङ्गों से करना चाहिए, यह कहा गया है ॥

"जहाँ पर 'वृश्चिक' करण में पैरों को रखकर हाथ को पार्श्व में निकुञ्चित करे और दाहिने हाथ को नासिका के अग्रभाग पर निकुञ्चित रखे तो वहाँ 'निकुञ्चित' करण होता है।" (ना० शा० ४।८८)।

"जहाँ पर दोनों पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखा जाय और दाहिना हाथ करिहस्त मुद्रा में रखा जाय तथा बाँया हाथ वक्षःस्थल पर निहित किया जाय वहाँ 'अर्धस्वस्तिक' करण होता है।" (ना० शा० ४।८३)।

चतुरश्रमिति अनेनार्धेनार्धनिकुट्टकं दशमं करणमाह—

"अञ्चितो बाहुशिरसि हस्तस्त्वभिमुखाङ्गुलिः ।
निकुञ्चितार्धयोगेन भवेदर्धनिकुट्टकम्"॥(ना. शा. ४-७१) इति ।

द्वितीयो हि तत्र प्राङ्मुखं खटकरूपं चतुरश्रो हस्तः ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यश्रमूरुं विवर्त्तयेत् ।
कटिजानुविवर्तश्च भुजङ्गत्रासितं भवेत् ॥" (ना. शा. ४-८५)

भुजङ्गत्रासितं चतुर्विंशम् । अत्रैवकारेण हस्तप्रयोगमनुक्तं निरूपयति—करं चोद्वेष्टितमिति । तत्समकालं च भ्रमरकेणाष्टात्रिंशेन (ना. शा. ४ ९६) करणेन परित इत्युभयाङ्गप्रयोगेण छिन्नत्रिकं कुर्यात् । कटिमध्यस्य वलनाच्छिन्ना । यतः—

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ।
त्रिकस्य वलानाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत्" (ना. शा. ४।९९)

इति भ्रमरकम् । ततः करिहस्तः कटिच्छिन्नश्च पूर्वाङ्गहारवदेव ॥ १८९-१९० ॥

इसके बाद—

"यदि 'अर्धस्वस्तिक' करण में 'करिहस्त' मुद्रा में निहित हाथों को क्रमशः 'व्यावर्त्तित' (गोलाकार घुमाकर) और 'परिवर्त्तित' (दूसरी ओर घुमाकर) करके नासिका के अग्रभाग पर यदि अञ्चित किया जाय अर्थात् झुका दिया जाय तो 'अञ्चित' करण होता हैं।" (ना० शा० ४।८४) ।

'चतुरस्र' इस अर्धश्लोक के कथन से 'अर्धनिकुट्टक' नामक दसवें करण को कहते हैं—

"यदि सामने की हुई अंगुलियों वाला हाथ कन्धे पर झुका हुआ हो तो निकुट्टित करण के आधे योग से 'अर्धनिकुट्टक' करण होता है।" (ना० शा० ४।७१) ।

दूसरा हाथ प्राङ्मुख 'खटकामुख' रूप में चतुरस्र होना चाहिए ।

"यदि कुञ्चित (सिकुड़े हुए) पैर को ऊपर उठाकर जङ्घा को त्र्यस्र चेष्टा विवर्त्तित कर दिया जाय और कटि एवं जानु को भी उसी प्रकार विवर्त्तित कर दिया जाय तो 'भुजङ्गत्रासित' करण होता है।" (ना० शा० ४।८५) ।

'भुजङ्गत्रासित' २४वाँ करण है । यहाँ पर एवकार के द्वारा सूचित होता है कि जिन हस्तप्रयोगों को नहीं कहा गया है उनका भी निरूपण करते हैं—'करं चोद्वेष्टितम्' इति । उसी समय 'भ्रमरक' नामक ३८वें करण के द्वारा दोनों अङ्गों के प्रयोग से त्रिक को छिन्न (वलन) कर दे अर्थात् झुका दे । क्योंकि कटि के मध्य का वलन होने से छिन्न कटि होती है । जैसे—

८. अथापराजितः

[1]दण्डपादं करं चैव विक्षिप्याक्षिप्य चैव हि ।
व्यंसितं वामहस्तं च सह पादेन सर्पयेत् ॥ १९१ ॥
निकुट्टकद्वयं कार्यमाक्षिप्तं मण्डलोरसि[2] ।
[3]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपराजिते ॥ १९२ ॥

"जहाँ पर आक्षिप्त चारी से युक्त पैर स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित होते हैं और त्रिक का वलन होता है, वहाँ 'भ्रमरक' करण होता है।" (ना० शा० ४।९९)।

यह 'भ्रमरक' करण का लक्षण है। इसके बाद 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' करणों का प्रयोग पहिले कहे हुए दूसरे अङ्गहार में वर्णित विधि के अनुसार होगा ॥ १८८-१९० ॥

विमर्श—इस अङ्गहार में जिन करणों का प्रयोग होता है उनमें 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' नामक करणों को छोड़कर शेष करणों के संयोजन का स्वरूप अभिनव-भारती व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। 'करिहस्त' और कटिच्छिन्न' करणों का संयोजन उद्वेष्टित' अङ्गहार में प्रतिपादित विधि के अनुसार होगा। तदनुसार करिहस्त' करण में एक साथ वक्षःस्थल पर और दूसरा हाथ प्रोद्वेष्टित रखा जाता है तथा 'कटिच्छिन्न' करण में कटि को बार-बार चालित कर हाथों को बारी-बारी से पल्लव मुद्रा में रखते हैं ॥ १८८-१९० ॥

८—अपराजित

अनुवाद—अपराजित अङ्गहार में 'दण्डपाद' नामक करण का प्रयोग करके दाहिने हाथ को विक्षिप्त और आक्षिप्त क्रिया से युक्त करे, फिर 'व्यंसित' करण का प्रयोग करे जिसमें पैर के साथ बाँये हाथ को सर्पित करे अर्थात् चालित करे फिर 'निकुट्टक' तथा 'अर्द्धनिकुट्टक' करणों के संयोजन के साथ 'आक्षिप्त' और 'उरोमण्डल' करणों का संयोजन करे। अन्त में 'करिहस्त' और कटिच्छिन्न' करणों का प्रयोग किया जाता है ॥ १९१-१९२ ॥

अभिनव—इस अङ्गहार के प्रयोग में सर्वप्रथम 'दण्डपाद' करण का प्रयोग किया जाता है। दण्डपाद करण का लक्षण है—

---

१. क-अ. करणं दण्डपादं च। क-न. दण्डपादं करं कृत्वा।

२. ख-घ. मण्डलोरसा।

३. ख-घ. करिहस्तः कटिच्छेदः कर्त्तव्यस्त्वपराजिते।

८. अपराजितः ।

दण्डपादमित्यादि ।

'नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ।
क्षिप्राविद्धकरं चेति दण्डपादं तदुच्यते ॥" (ना. शा. ४-१४३)

यदत्र करणे निरूपितं तदेवेह भङ्क्त्वा दर्शितं विक्षिप्येत्यादिना । "आलीढ-स्थानकं यत्र" (ना. शा. ४-१०९) इति व्यंसितं प्रथमाङ्गहारोक्तम् । वामहस्ते-त्यादिना प्रसर्पितमष्टाशीतितमकरणमाह ।

"एकस्तु रेचितो हस्तः लताख्यश्च तथापरः ।
प्रसर्पिततलौ पादौ प्रसर्पितकमेव ॥" इति (ना. शा. ४-१४९)

निकुट्टकद्वयमिति । निकुट्टमर्धनिकुट्टं च (ना. शा. ४-६९-७०) "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" इति । "अञ्चितो बाहुशिरसि हस्तस्तु" इति । मण्डलोरसीत्युरो-मण्डले करणे (ना. शा. ४-११५) सतीत्यर्थः । आक्षिप्तादीनि कटिच्छिन्नान्तानि चत्वारि द्वितीयाङ्गहारवदेव ॥ १९१-१९२ ॥

"जहाँ पर पैर को 'नूपुर' चारी की स्थिति ने रखकर फिर 'दण्डपाद' चारी की स्थिति में फैलाया जाता है और हाथ को शीघ्रता से आविद्ध चेष्टा में संचालित किया जाता है, वहाँ 'दण्डपाद' करण होता है।" (ना० शा० ४।१४३)।

इस करण में जिनका निरूपण किया गया है यहाँ उन्हें तोड़कर 'विक्षिप्य' इत्यादि के द्वारा दिखाया गया है। "आलीढ़ स्थानकं यत्र" इत्यादि लक्षण से विशिष्ट प्रथम अङ्गहार में कथित 'व्यंसित' करण का प्रयोग करना चाहिए। 'वामहस्त' इत्यादि के द्वारा 'प्रसर्पित' नामक ८८वें करण को कहा गया है। प्रसर्पित करण का लक्षण है—

"जहाँ पर एक हाथ रेचित चेष्टा में होता है और दूसरा हाथ 'लताहस्त' प्रक्रिया में न्यस्त होता है, वहाँ 'प्रसर्पित' करण होता है।" (ना० शा० ४।१४९)।

'निकुट्टद्वय' से 'निकुट्ट' और 'अर्धनिकुट्ट' दोनों का ग्रहण होता है। जहाँ पर दोनों हाथ बाहु और शिर के मध्य निकुट्टित (संचालित) होते हैं और उसी प्रकार पैरों को भी निकुट्टित किया जाता है, वहाँ 'निकुट्टक' करण होता है और जब सामने की हुई अंगुलियों वाला हाथ कन्धे पर झुका हुआ होता है तो 'अर्धनिकुट्टक' करण होता है।" (ना० शा० ४।७०-७१), 'मण्डलोरसि' पद से 'उरोमण्डल' करण का ग्रहण होता है, 'आक्षिप्त' करण से 'कटिछिन्न' पर्यन्त चार करणों का द्वितीय अङ्गहार में निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार संयोजन करना चाहिए ॥ १९१-१९२ ॥

९. अथ विष्कम्भापसृतः

[1]कुट्टितं करणं कृत्वा भुजङ्गत्रासितं तथा ।
रेचितेन तु [2]हस्तेन [3]पताकं हस्तमादिशेत् ॥ १९३ ॥
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत [4]ह्युरोमण्डलकं तथा ।
लताख्यं [5]सकटिच्छिन्नं विष्कम्भापसृते भवेत् ॥ १९४ ॥

विमर्श—'अपराजित' अङ्गहार में सर्वप्रथम 'दण्डपाद' करण का प्रयोग किया जाता है। इस करण में पैर को 'नूपुर' चारी में रखकर फिर 'दण्डपाद' चेष्टा में रखा जाता है। हाथ को पहिले बाहर की ओर फेंक कर फिर भीतर की ओर आकृष्ट किया जाता है। इस प्रकार 'विक्षिप्त' और 'आक्षिप्त' करणों के प्रयोग के बाद 'व्यंसित' करण का संयोजन किया जाता है। इसमें आलीढ़ स्थानक के प्रयोग के बाद हाथ को वक्षःप्रदेश से रेचित कर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण किया जाता है। इसके बाद बायें पैर के साथ बाँये हाथ को सर्पित किया जाता है। अभिनव के अनुसार सर्पित (प्रसर्पित) एक करण है जिसमें हाथ-पैर के संचालन का निर्देश है। इसके बाद निकुट्टक और अर्धनिकुट्टक करणद्वय का संयोजन होता है जिसमें दोनों हाथ बाहु और शिर के मध्य संचालित होते हैं और पैर भी उसी प्रकार संचालित होता है और अभिमुखाङ्गुलिहस्त कन्धे पर झुका हुआ विन्यस्त होता है। इसके बाद आक्षिप्त करण में हाथ और पैरों को वेग के साथ आक्षिप्त किया जाता है और उरोमण्डल करण के प्रयोग द्वारा पैरों को स्वस्तिक चेष्टा से हटाकर अपविद्ध प्रक्रिया में रखकर एक हाथ को उठाये हुए तथा दूसरे को लटकाए हुए वक्षःस्थल के समीप घुमाते हुए रखा जाता है। तत्पश्चात् करिहस्त करण के द्वारा एक हाथ को वक्षःस्थल पर और दूसरे को प्रोद्वेष्टित अर्थात् चारों ओर से घेरे हुए रखा जाता है। अन्त में कटिच्छिन्न करण के प्रयोग के द्वारा कटि को बार-बार चालित करके हाथों भी बारी-बारी से पल्लव चेष्टा में रखा जाता है ॥ १९१-१९२ ॥

९—विष्कम्भापसृत

अनुवाद—जहाँ पर 'कुट्टित' और 'भुजङ्गत्रासित' करणों के प्रयोग करने के बाद रेचित हस्त के साथ पताकहस्त की योजना की जाय। उसके पश्चात् आक्षिप्तक तथा उरोमण्डल करणों का संयोजन करके कटिच्छिन्न करण के साथ लताहस्त का प्रयोग किया जाय वहाँ पर 'विष्कम्भापसृत' नामक अङ्गहार होता है ॥ १९३-१९४ ॥

---

१. क-ढ़. ब. कुञ्चितं च करं कृत्वा । घ. कुट्टितं करणे कृत्वा ।
२. क-त. पादेन ।
३. ख-घ. पताकाहस्तमादिशेत् ।
४. ख-घ. उरोमण्डलकं तथा ।
५. ख-घ. सकटिच्छेदम् ।

९. विष्कम्भापसृतः ।

कुट्टितमित्यादि । निकुट्टकमर्धनिकुट्टकं चेति द्वे कुट्टितशब्देन साधारण्यात्सङ्गृहीते । "कुञ्चितं पादम्" (ना. शा. ४-८४) इत्यादि भुजङ्गत्रासितं चतुर्विंशतितमम् । रेचिते तेनेत्यादिनार्धेन पञ्चत्रिंशकं (ना. शा. ४-९६) दर्शयतीति ।

"भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ ।
वामपार्श्वस्थितौ हस्तौ भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ॥" (ना. शा. ४-९६)

अस्य चाङ्गपर्यायेण प्रयोग इति पताकाग्रहणेनाह । आक्षिप्तकादित्रयं पूर्वाङ्गहारवदेव । केवलमत्र कटिच्छिन्ने करणे (ना. शा. ४-७१) पर्यायेणैको लताहस्तः ॥ १९३-१९४ ॥

अभिनव—'कुट्टितम्' इत्यादि । यहाँ कुट्टित शब्द से साधारण रूप से निकुट्टक और अर्धनिकुट्टक करणों का ग्रहण होता है । 'कुञ्चितं पादं' (ना० शा० ४।८४) इत्यादि लक्षण वाला 'भुजङ्गत्रासित' २४वाँ करण है । 'रेचितेन' इत्यादि श्लोकार्द्ध से भुजङ्गत्रस्तरेचित' नामक ३५वें करण को दिखाते हैं—

"जहाँ पर पैर को भुजङ्गत्रासित चारी में रखकर दोनों हाथों को रेचित हस्तमुद्रा में वाम पार्श्व में न्यस्त किया जाता है वहाँ 'भुजङ्गत्रासितरेचित" करण होता है । (ना० शा० ४।९६) ।

इस करण का प्रयोग अङ्गों के क्रम से करना चाहिए, यह पताका शब्द के ग्रहण से कहा गया है । आक्षिप्त आदि तीन करण अर्थात् आक्षिप्त, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न का प्रयोग पहिले अङ्गहार में बताई गई प्रक्रिया के अनुसार होगा । यहाँ पर केवल 'कटिच्छिन्न' करण में एक लताहस्त का क्रम से (बारी-बारी) संयोजन करना चाहिए ॥ १९३–१९४ ॥

विमर्श—इस करण में सर्वप्रथम कुट्टित करण के प्रयोग का निर्देश है । किन्तु कुट्टित नामक कोई करण नहीं होता । अभिनवगुप्त ने कुट्टित शब्द से निकुट्टक और अर्धनिकुट्टक दोनों करणों को स्वीकार किया है । उन्होंने इसी प्रकार रेचित शब्द भुजङ्गत्रस्त रेचित करण को स्वीकार किया है । इसके बाद आक्षिप्तक, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों के संयोजन का निर्देश किया है । अभिनव ने यहाँ पर केवल 'कटिच्छिन्न' करण के प्रयोग में क्रम से 'लताहस्त' के प्रयोग का निर्देश दिया है । इस प्रकार 'कटिच्छिन्न' करण में लताहस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १९३-१९४ ॥

१०. अथ मत्ताक्रीडः

[1]त्रिकं सुवलितं कृत्वा [2]नूपुरं करणं तथा ।
भुजङ्गत्रासितं सव्यं [3]तथा वैशाखरेचितम् ॥ १९५ ॥
आक्षिप्तकं ततः कृत्वा परिच्छिन्नं तथैव च ।
बाह्यभ्रमरकं कुर्यादुरोमण्डलमेव च ॥ १९६ ॥
[4]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
मत्ताक्रीडो भवेदेष [5]ह्यङ्गहारो हरप्रियः ॥ १९७ ॥

---

१०. मत्ताक्रीडः ।

[त्रिकं सुवलितं कृत्वेति । भ्रमरकं करणम् "आक्षिप्तः स्वस्तिकः पाद इत्यादि (ना. शा. ४-९९)। ततो नूपुराख्यं करणं "त्रिकं सुवलितम् -इति (ना. शा. ४-९७), "कुञ्चितं पादम्" इति (ना. शा. ४-८४) भुजङ्गत्रासितम् । सव्यमिति दक्षिणाङ्गेनैव वैशाखरेचितम् (३-९८)। "आक्षिप्तं हस्तपादम्" इति (ना. शा. ४-११६) आक्षिप्तकरणम् । परिच्छिन्नमिति –

१०—मत्ताक्रीड़

अनुवाद—जहाँ पर त्रिक को सुन्दर ढंग से वलित करके (घुमाव देकर) फिर नूपुर करण का प्रयोग किया जाता है, फिर भुजङ्गत्रासित और वैशाख-रेचित करणों का संयोजन किया जाय, फिर आक्षिप्त और छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय, तत्पश्चात् बाह्यभ्रमरक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का संयोजन किया जाता है वहाँ पर शंकर को प्रिय लगने वाला 'मत्ताक्रीड़' नामक अङ्गहार होता है ॥ १९५-१९७ ॥

अभिनव—'त्रिकं सुवलितं कृत्वा' अर्थात् 'त्रिक को सुन्दर ढंग से वलित करके' इस कथन से यहाँ 'भ्रमरक' करण के प्रयोग का संकेत मिलता है । 'भ्रमरक' करण का लक्षण है—

"यदि स्वस्तिक चेष्टा में स्थित पैर को आक्षिप्त किया जाय और दोनों हाथों को उद्वेष्टित अर्थात् चक्राकार गति से घुमाकर त्रिक का वलन किया जाय तो 'भ्रमरक' करण होता है ।" (ना० शा० ४।९९) ।

---

१. ख-घ. त्रिकं तु वलितं कृत्वा ।
२. क-न. भ. चरणं चैव नूपुरं । क-अ. ठ. करणं चैव नूपुरम् ।
३. ख-घ. चरणं चैव रेचितम् ।
४. ख-घ. ग. नितम्बः करिहस्तं च कटिच्छेदं तथैव च ।
५. घ. अङ्गहारो भवेत् प्रियः । ध. अङ्गहारो भव प्रियः ।

"अलपद्मः कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी"।

इति छिन्नं करणम् (ना. शा० ४-१०६) बाह्यभ्रमरकमिति वामभ्रमरकम्। ततो व्यंसितम् "आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः" इति (ना. शा. ४-९९) भ्रमरकम्। व्यंसितं "आलीढं स्थानकं यत्रेति (४-१०६)। उरोमण्डलम्—"स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इति (ना. शा. ४-११५) नितम्बं—"भुजावूर्ध्वौ विनिष्क्रान्तौ" इति (ना. शा. ४-१४६) करिहस्तं "वामो वक्षःस्थितो हस्तः" इति (ना. शा. ४-१४८)। कटिच्छिन्नम् "पर्यायशः कटी छिन्ना" इति (ना. शा. ४-४१)। एतानि द्वादश करणानि ॥ १९५-१९७ ॥

इसके बाद नूपुर करण का प्रयोग करे अर्थात् त्रिक को सुन्दर ढंग से वलित करके (घुमाकर) दोनों हाथों को क्रम से लता और रेचित चेष्टा में तथा पैर को नूपुर पादचारी में रखना चाहिए। (ना० शा० ४।९७)।

तदनन्तर 'भुजङ्गत्रासित' करण के संयोजन के द्वारा कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उठाकर ऊरु को विवर्त्तित करके जानु को स्तन के बराबर लाकर न्यस्त करना चाहिए (ना० शा० ४।८५)। फिर दाहिने हाथ से 'वैशाखरेचित' करण का विनियोग करे जिसमें हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा को रेचित किया जाता है और वैशाखस्थानक की स्थिति होती है (ना० शा० ४।९८)। तत्पश्चात् 'छिन्न' करण में अलपद्म हाथों को कटि पर रख कर कमर को क्रमशः घुमाये तथा वैशाखस्थानक में खड़ा होना चाहिए। (ना० शा० ४।१०६) तदनन्तर भ्रमरक करण का बायें अङ्ग से प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद 'व्यंसित' करण का प्रयोग करे जिसमें आलीढ़ स्थानक के प्रयोग के बाद दोनों हाथों को रेचित चेष्टा में वक्ष पर रखकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण किया जाता है (ना० शा० ४।१०९)।

इसके बाद 'उरोमण्डल' करण का संयोजन करे जिसमें पैर को स्वस्तिक चेष्टा से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और हाथ 'उरोमण्डल' हस्तमुद्रा में प्रयुक्त किया जाता है (ना० शा० ४।११५) फिर 'नितम्ब' करण का प्रयोग करे जिसमें दोनों भुजाएँ ऊपर की ओर उठो हुई होती है और हाथ की अंगुलियाँ सामने की ओर रहती है तथा पैर बद्धाचारी में होते हैं (ना० शा० ४।१४६)। इसके बाद 'करिहस्त' करण में बाँये हाथ को वक्षःप्रदेश में रखा जाता है और दाहिने हाथ उद्वेष्टित किया जाता है तथा पैर को अञ्चित चेष्टा में रखा जाता है (ना० शा० ४।१४८)। फिर अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें कटि को बार-बार चालित कर हाथों को बारी-बारी 'पल्लव' चेष्टा में रखा जाता है। इस प्रकार बारह करणों के योग से 'मत्ताक्रीड़' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १९५-१९७ ॥

११. अथ स्वस्तिकरेचितः

रेचितं हस्तपादं च[1] कृत्वा वृश्चिकमेव च ।
पुनस्तेनैव योगेन वृश्चिकं[2] सम्प्रयोजयेत् ॥ १९८ ॥
निकुट्टकं तथा चैव [3]सव्यासव्यकृतं क्रमात् ।
[4]लताख्यः सकटिच्छेदो भवेत्स्वस्तिकरेचिते ॥ १९९ ॥

---

११. स्वस्तिकरेचितः ।

रेचितमिति । रेचितं हस्तपादं चेति वैशाखरेचितम् (ना. शा. ४-९८) । वृश्चिकं "बाहुशीर्षाञ्चितौ" इति (ना. शा. ४-१०८) पुनरिति वैशाखरेचित-वृश्चिके प्रयोजयेत् । निकुट्टकं "निकुट्टतौ यदा हस्तौ" इति (ना. शा. ४-६९) वामदक्षिणकृतौ लताख्यौ नृत्तहस्तौ (ना. शा. ९-१९८) । ततः कटिच्छिन्नं "पर्यायशः कटी छिन्ना" इति (ना. शा. ४-७४) षट् करणानि ॥ १९८-१९९॥

११—स्वस्तिकरेचित

अनुवाद—स्वस्तिक रेचित करण में हाथ और पैर को रेचित करके 'वृश्चिक' करण का प्रयोग किया जाता है, फिर उसी प्रकार उन्हीं हाथ-पैरों के योग से 'वृश्चिक' करण का पुनः प्रयोग किया जाता है । फिर दायें और बाँये दोनों अङ्गों से 'निकुट्टक' करण का संयोजन किया जाता है । फिर दोनों हाथों से 'लता' नामक नृत्तहस्त के साथ 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है ॥ १९८-१९९ ॥

अभिनव—'रेचितं हस्तपादं च' अर्थात् 'हाथ और पैर को रेचित करके' इस कथन से यहाँ 'वैशाखरेचित' करण अभिप्रेत है जिसमें हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा रेचित होते हैं और वैशाख' स्थानक की स्थिति होतो है (ना० शा० ४।९८) । फिर 'वृश्चिक' करण का प्रयोग होता है जिसमें दोनों हाथ कन्धे पर अञ्चित चेष्टा में स्थित रहते हैं और पैर पीछे की ओर अञ्चित होता है और पीठ अधिक नत (झुकी हुई) होती है। (ना० शा० ४।१०८) । फिर इसी प्रकार 'वैशाखरेचित' करण के साथ 'वृश्चिक' करण के प्रयोग को दुहराया जाता है। तत्पश्चात् दोनों हाथों से निकुट्टक करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें दोनों हाथ शिर और भुजाओं के मध्य में संचालित होते हैं और दोनों पैर निकुट्टित होते हैं। (ना० शा० ४।७०) । फिर अन्त में लताहस्त मुद्रा के साथ 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है

---

१. ग. तु । २. ख-घ. कृत्वा वृश्चिकमेव तु ।
३. ख-घ. सव्यासव्यकृतैः क्रमैः । ४. क-अ. लताख्यं सकटिच्छिन्नं ।

१२. अथ पार्श्वस्वस्तिकः

[1]पार्श्वे तु स्वस्तिकं बद्ध्वा कार्यं त्वथ निकुट्टकम् ।
[2]द्वितीयस्य च पार्श्वस्य विधिः स्यादयमेव हि ॥ २०० ॥
[3]ततश्च करमावर्त्य ह्यूरुपृष्ठे निपातयेत् ।
ऊरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षिप्तं पुनरेव हि ॥ २०१ ॥
[4]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
पार्श्वस्वस्तिक इत्येष ह्यङ्गहारः प्रकीर्तितः ॥ २०२ ॥

---

१२. पार्श्वस्वस्तिकः ।

पार्श्वयोः स्वस्तिक इति दिक्स्वस्तिकं करणम् । पार्श्वयोरग्रतश्चैव" इति (ना. शा. ४-७७)। एकाङ्गेनार्धनिकुट्टकम्—"अञ्चितौ बाहुशिरसि" इति (ना. शा. ४-७०)। पुनर्दिक्स्वस्तिकं कृत्वा द्वितीयपार्श्वेनार्धनिकुट्टकं योजयेत् । "करमावर्त्य" इत्यपविद्धम् । "आवर्त्य शुकतुण्डाख्यम्" इति (ना. शा. ४-६४)। ऊरूद्वृत्तम्—"करमाविद्धकरणम्" इति (ना. शा. ४-१५९) । "आक्षिप्तं हस्तपादम्" इति (ना. शा. ४-११६) आक्षिप्तम् । नितम्बादिकरणत्रयं पूर्ववत ॥ २०९-२०२ ॥

जिसमें कटि को बार-बार चालित कर फिर हाथों को बारी-बारी से पल्लव मुद्रा में रखा जाता है। (ना० शा० ४।७२)। इस प्रकार छः करणों के योग से 'स्वस्तिक रेचित' अङ्गहार निष्पन्न होता है। १९८-१९९ ॥

१२—पार्श्वस्वस्तिक

अनुवाद—जहाँ पर पार्श्व में स्वस्तिक मुद्रा बनाकर 'निकुट्टक' करण का प्रयोग किया जाय, फिर दूसरे पार्श्व में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया (विधि) की जाय और फिर हाथ को आवर्तित करके ऊरुपृष्ठ अर्थात् जङ्घा के ऊपर गिरा दिया जाय, फिर 'ऊरूद्वृत' करण का प्रयोग किया जाय, फिर आक्षिप्त, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय, वहां 'पार्श्व-स्वस्तिक' अङ्गहार होता है । २००-२०२ ॥

---

१. ग. पार्श्वस्वस्तिकपादौ च कार्यं त्वर्धनिकुट्टकम् ।
ख. पार्श्वं तु स्वस्तिकं बुद्ध्वा कार्यं त्वथ निकुट्टकम् ।
घ. पार्श्वे तु स्वस्तिकं बध्वा कार्यं त्वर्धनिकुट्टकम् ।

२. ख. घ. द्वितीयस्तु पार्श्वस्य विधिः स्यादेष एव हि ।

३. ख. घ. ततश्च करमावृत्य ऊरूपृष्ठे निपातयेत् ।

४. ख. घ. नितम्बः करिहस्तश्च कटिच्छेदं तथैव च ।

१३. अथ वृश्चिकापसृतः

वृश्चिकं [1]करणं कृत्वा लताख्यं हस्तमेव च ।
[2]तमेव च करं भूयो नासाग्रे [3]सन्निकुञ्चयेत् ॥ २०३ ॥
तमेवोद्वेष्टितं कृत्वा [4]नितम्बं परिवर्तयेत् ।
[5]करिहस्तं कटिच्छिन्नं वृश्चिकापसृते भवेत् ॥ २०४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर दोनों पार्श्वों में स्वस्तिक' इससे दिक्स्वस्तिक' करण का ग्रहण होता है। जिसमें पार्श्व में तथा आगे की ओर हाथ श्लिष्ट रहता है और हाथ-पैर स्वस्तिक स्थिति में होते हैं (ना० शा० ४।७८)। फिर एक अङ्ग से 'निकुट्टक' करण के निर्देश होने से यहाँ 'अर्धनिकुट्टक' करण का स्पष्ट उल्लेख है। अर्धनिकुट्टक करण में अभिमुखाङ्गुलि हस्त बाहुशीर्ष (कन्धे पर) पर झुका हुआ होता है (ना० शा० ४।७१)। इसके बाद फिर इसी प्रकार दूसरे पार्श्व से भी 'दिक्स्वस्तिक' करण का प्रयोग करके फिर 'अर्धनिकुट्टक' करण का प्रयोग करे, फिर हाथ को घुमाकर नीचे की ओर लाकर जङ्घा पर स्थापित करे (अपविद्धकरण ४।६४)। इसके बाद 'ऊरुद्वृत्त' करण का प्रयोग करे जिसमें हाथों को घुमाकर ऊरुपृष्ठ पर अञ्चित रूप में रखा जाता है और जङ्घाएँ अञ्चित एवं उद्वृत्त होती हैं। (ना० शा० ४।१५९)। फिर 'आक्षिप्त' करण का अभिनय करें, इसमें हाथ और पैरों को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद नितम्ब, करिहस्त और 'कटिच्छिन्न' करणों का संयोजन पूर्व अङ्गहार में प्रतिपादित प्रक्रिया (विधि) के अनुसार करना चाहिये ॥ २००-२०२॥

विमर्श—'पार्श्वस्वस्तिक' अङ्गहार के लक्षण में 'पार्श्वे तु स्वस्तिकं बद्ध्वा' के स्थान पर 'पार्श्वे तु स्वस्तिकं कृत्वा' पाठ मिलता है जिससे 'पार्श्व में स्वस्तिक करण को करके अर्थात् स्वस्तिक करण के संयोजन का संकेत मिलता है। एक भिन्न पाठ के अनुसार पार्श्व में पैरों के स्वस्तिक मुद्रा में रखने का स्पष्ट निर्देश है। इसी प्रकार 'कार्यं त्वथ निकुट्टकम्' के स्थान पर 'कुर्यादर्धनिकुट्टकम्' पाठ मिलता है जिसमें 'अर्धनिकुट्टक' का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार 'ऊरूद्वृत्तम्' के स्थान पर 'ऊरुवृत्त' और 'कटिच्छिन्न' के स्थान पर 'कटिच्छेद' पाठ मिलता है, किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता है। इस प्रकार आठ करणों के योग से यह अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २००-२०२ ॥

१. क. न. त. चरणं ।
२. क. अ. न. तथैव च ।
३. ख. घ. सन्निवेशयेत् ।
४. ख. घ. नितम्बमथ वर्तयेत् ।
५. ख. घ. कटिहस्तं कटिच्छेदं वृश्चिके सम्प्रयोजयेत् ।

१३. वृश्चिकापसृतः ।

वृश्चिकमिति । वृश्चिकचरणलताहस्तत्वात् लतावृश्चिकम्—
"अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।
लताख्यश्च करो वामः लतावृश्चिकं भवेत् ॥" (ना. शा ४।१०५)
नासाग्र इति निकुञ्चितम्—
'वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ।
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु निकुञ्चितम् ॥' इति (ना.शा ४-८७) ।
तमेवोद्वेष्टितमिति मत्तल्लि—
"वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्युदाहृतम् ॥" इति (ना. शा. ४-८८) ।
नितम्बादित्रयं पूर्ववत् । केचिन्नितम्बस्य भ्रमरमाहुः ॥ २०३-२०४ ॥

१३—वृश्चिकापसृत

अनुवाद—जहाँ पर 'वृश्चिक' करण को करके 'लता' नामक हस्तमुद्रा का प्रयोग किया जाता है और फिर उसी हाथ को नासिका के अग्रभाग पर झुका कर रखा जाय, फिर उसी हाथ को उद्वेष्टित कर अर्थात् चक्राकार घुमाकर 'नितम्ब' करण के रूप में परिवर्त्तित कर दिया जाय और फिर क्रमशः 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' करणों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'वृश्चिकापसृत' अङ्गहार कहते हैं ॥ २०३-२०४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार वृश्चिक चरण के साथ लताहस्त के प्रयोग का निर्देश होने से यहाँ पर 'लतावृश्चिक' करण का प्रयोग अभिप्रेत है। 'लता-वृश्चिक' करण में पैर वृश्चिक मुद्रा में रहता है अर्थात् एक पैर सामने की ओर झुका हुआ पीछे की ओर अञ्चित होता है और दूसरा पैर पीछे की ओर मोड़कर ऊपर ले जाया जाता है और बांया हाथ लताहस्त मुद्रा में स्थित रहता है (ना० शा० ४।१०५)। इसी प्रकार उसी हाथ को नासिका अग्रभाग पर निकुञ्चित करने से 'निकुञ्चित' करण का बोध होता है जिसमें पैर को वृश्चिक चेष्टा में करके बांये हाथ का पार्श्व में निकुञ्चित किया जाता है और दाहिने हाथ को नासिका के अग्रभाग पर रखा जाता है (ना० शा० ४।८७)। 'तमेवोद्वेष्टितं कृत्वा' अर्थात् उसी हाथ को उद्वेष्टित करके इस निर्देश से यहाँ पर 'मत्तलि' करण के प्रयोग निर्देश किया गया है, जिसमें दोनों पैर घूमते हुए पीछे की ओर अपसर्पित होते हैं और हाथ उद्वेष्टित और अपविद्ध स्थित में रहते हैं। (ना० शा० ४।८८)। इसके बाद नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न तीनों करण पूर्व अङ्गहार में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। कुछ आचार्य 'नितम्ब-परिवर्त्तन' का अर्थ 'नितम्ब-भ्रमण' करते हैं ॥ २०३-२०४ ॥

१४. अथ भ्रमरः

कृत्वा नूपुरपादं तु तथाक्षिप्तकमेव च।
[1]परिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीपादं तथैव च॥ २०५॥
[2]नितम्बं करिहस्तं चाप्युरोमण्डलकं तथा।
कटिच्छिन्नं[3] ततश्चैव भ्रमरः स तु संज्ञितः॥ २०६॥

---

१४. भ्रमरः।

कृत्वेति। नूपुरपादं कृत्वेति नूपुरं करणम्—"त्रिकं सुवलितं कृत्वा" इति (ना. शा. ४-९७)। आक्षिप्तकं "आक्षिप्तहस्तपादम्" इति (ना. शा. ४-११६)। परिच्छिन्नम्—

१४—भ्रमर

अनुवाद—जहाँ पर पैर को नूपुर पादचारी में रखकर आक्षिप्तक करण का प्रयोग किया जाता है, फिर छिन्न करण का प्रयोग किया जाय, फिर सूचीपाद चारी के प्रयोग के द्वारा 'सूचीविद्ध' करण का प्रयोग किया जाय, फिर क्रमशः नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'भ्रमर' अङ्गहार कहते हैं॥ २०५-२०६॥

अभिनव—यहाँ पर 'कृत्वा नूपुरं पादं' अर्थात् 'नूपुरपादचारी का प्रयोग करके' इस कथन के द्वारा 'नूपुर' करण का प्रयोग अभीष्ट है जिसमें त्रिक को वलित करके दोनों हाथों को 'लता' और 'रेचित' हस्तमुद्राओं में रखा जाता है तथा पैर नूपुर पादचारी में स्थित किया जाता है (ना० शा० ४।९७)। इसके बाद 'आक्षिप्तक' करण का प्रयोग करे, जिसमें हाथ और पैरों को शीघ्रता से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद 'छिन्न' करण का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें अलपद्म हस्त को कटि पर रखा जाता है और कटि छिन्न स्थिति में रहती है (ना० शा० ४।१०६) तदनन्तर 'सूचीविद्ध' करण का प्रयोग होता है जिसमें एक पैर सूचीपाद चारी में स्थित होकर दूसरे पैर से विद्ध होता है और दोनों हाथ कटि और वक्षःस्थल पर स्थित होते हैं (ना० शा० ४।१३९), फिर 'नितम्ब' करण का प्रयोग करके दोनों भुजाओं को ऊपर उठाया जाता है और हाथों को अभिमुखाङ्गुलि रखा

---

१. ग. कटिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीविद्धं तथैव च।
ख. कटिच्छिन्नं तु कर्त्तव्यं सूचीपादे तथैव च।

२. ख. घ. नितम्बः करिहस्तश्च उरोमण्डलकं तथा।

३. ख. घ. कटिच्छेदं।

१५. अथ मत्तस्खलितकः

मत्तल्लिकरणं कृत्वा करमावर्त्य[1] दक्षिणम् ।
कपोलस्य प्रदेशे तु [2]कार्यं सम्यङ् निकुञ्चितम् ॥ २०७ ॥
[3]अपविद्धं द्रुतं चैव तलसंस्फोटसंयुतम् ।
[4]करिहस्तं कटिच्छिन्नं मत्तस्खलितके भवेत् ॥ २०८ ॥

"अलपद्मः शिरोदेशे च्छिन्ना पर्यायशः कटी"

इति (ना. शा. ४-१०६)। सूचीपादम्—'पादसूच्या यदा' इति (ना. शा. ४-१३६)। नितम्बं "भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ" इति (ना. शा. ४-१४६)। करिहस्तं "वामो वक्षःस्थितो हस्तः" इति (ना. शा. ४-१४८) उरोमण्डलं "स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इति (ना. शा. ४-११५)। कटिच्छिन्नं "पर्यायशः कटी च्छिन्ना" इति (ना. शा. ४-७२)—॥२०५-२०६ ॥

जाता है तथा पैर बद्धा चारी में स्थित रहते हैं (ना० शा० ४।१४६) फिर 'करिहस्त' करण में बायें हाथ को वक्षःस्थल पर और दाहिने हाथ प्रोद्वेष्टित किया जाता है तथा पैर को अञ्चित चेष्टा में रखते हैं (ना० शा० ४।१४८)। इसके बाद 'उरोमण्डल' करण में पैरों को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध भ्रम में रखा जाता है और हाथ उरोमण्डल हस्त मुद्रा में निहित होता है (ना० शा० ४।११५)। तदनन्तर 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें क्रमशः कटि छिन्न चेष्टा में तथा पल्लव हस्त को कन्धे पर रखा जाता है। (ना० शा० ४।७२)। यहाँ पर 'कटिच्छिन्न' के स्थान पर 'कटिच्छेद' पाठ मिलता है। इन चार करणों के योग से 'भ्रमर' अङ्गहार बनता है ॥ २०५-२०६ ॥

१५—मत्तस्खलितक

अनुवाद—'मत्तस्खलितक' अङ्गहार में 'मत्तल्लि' करण का प्रयोग करके दाहिने हाथ को आवर्त्तित करके (गोल घुमाकर) कपोल-प्रदेश पर अच्छी तरह निकुञ्चित कर दे, फिर 'अपविद्ध' करण के साथ 'तलसंस्फोट' करण का प्रयोग करना चाहिए, तदनन्तर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करे ॥ २०७-२०८ ॥

---

१. ख. ग. करमावृत्य । क–त, करमाविष्टच ।
२. ख. घ. कर्तव्यं तु निकुञ्चितम् ।
३. ख. घ. अपविद्धं तथा चैव तलसंस्फोटितंम तथा ।
४. ख. करिहस्तः कटिच्छेदो मत्तस्खलितकं भवेत् । घ. करिहस्तं कटिच्छेदं ।

१५. मत्तस्खलितः ।

मत्तल्लीति—

"वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्ल्युदाहृतम्" ॥ (ना. शा. ४-८८) ।

कपोलस्येति गण्डसूची—

"सूचीपादोन्नतं पार्श्वमेको वक्षःस्थितः करः ।
द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे गण्डसूची तदुच्यते" ॥ इति (ना. शा. ४-१३२) ।

सम्यङ् निकुञ्चितमिति लीनं नाम करणम्—

"पताकाञ्जलिवक्षःस्थं प्रसारितशिरोधरम् ।
निकुञ्चितांसकूटं च तल्लीनं करणं स्मृतम् ।" (ना. शा. ४-६७)

अपविद्धम् "आवर्त्य शुकतुण्डाख्यम्" इति (ना. शा. ४-६५), अपविद्धगतेनैव तलसंस्फोटितं "द्रुतं विक्षिप्य चरणम्" इति (ना. शा. ४-१३०) । करिहस्तादिद्वयं पूर्ववत् ॥ २०७-२०८ ॥

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'मत्तल्लि' करण का प्रयोग किया जाता है। इस करण में दोनों हाथ घुमाते हुए ऊपर फेंके जाते हैं और हाथों को 'उद्वेष्टित' और 'अपविद्ध' चेष्टा में रखा जाता है (ना० शा० ४।८८)। अभिनव के अनुसार हाथ के आवर्त्तन तथा उसके कपोल प्रदेश पर सम्यक् निकुञ्चन से 'गण्डसूची' और 'लीन' करणों के प्रयोग का निर्देश है। 'गण्डसूची' करण के प्रयोग में पैर सूचीपाद स्थिति में, पार्श्व झुका हुआ और एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा अञ्चित होकर गण्डस्थल पर निहित होता है, (ना० शा० ४।१३२) और 'लीन' करण के प्रयोग में अञ्जलिबद्ध पताकहस्त वक्षःस्थल पर निहित होता है और गरदन अपसारित रहती है और कन्धे उठे हुए तथा गरदन झुकी हुई होती है। (ना०शा० ४।६७)। इसके बाद 'अपविद्ध' करण का प्रयोग करना चाहिए जिसमें 'शुकतुण्ड' नामक हाथ को मोड़कर जङ्घा के पृष्ठभाग पर न्यस्त किया जाता है और बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखा जाता है। (ना० शा० ४।६५)। 'अपविद्ध' करण से प्रयोग के बाद 'तलस्फोटित' करण का संयोजन करना चाहिए, इससे पैर को शीघ्रता से उठाकर सामने की ओर गिराया जाता है और हाथों को ताली बजाने की प्रक्रिया में रखा जाता है। (ना० शा० ४।१३०)। इसके बाद 'करिहस्त' और कटिच्छिन्न' नामक करणों का प्रयोग पूर्व में अर्थात् द्वितीय अङ्गहार में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त करना चाहिए। इस प्रकार सात करणों के योग से 'मत्तस्खलितक' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २०७-२०८ ॥

१६. अथ मदविलसितः

दोलैः करैः प्रचलितैः स्वस्तिकापसृतैः पदैः ।
अञ्चितैर्वलितैर्हस्तैस्तलसङ्घट्टितैस्तथा[1] ॥ २०९ ॥
[2]निकुट्टितं च कर्तव्यमूरूद्वृत्तं तथैव च ।
[3]करिहस्तं कटिच्छिन्नं मदाद्विलसिते भवेत् ॥ २१० ॥

---

१६. मदविलसितः ।

दोलैरिति । दोलैः करैरिति मदस्खलितमेकोनशततमं करणम् । स्वस्तिकापसृतैः पदैर्मत्तल्लि सूचितम् । ततस्तलसंघट्टितैरिति तलसंस्फोटितमूनसप्ततिकरणम् । वलितशब्देन त्रीण्यपि करणानि बहुविधचित्रगुम्फानीति । ततो निकुट्टकादिकरणचतुष्कम् । अत्र केचिद् दोलादिकरणानां त्रयाणां त्रिरभ्यासात् त्रयोदश करणानि वाऽऽहुः । अन्ये तु करणसप्तकस्यापि त्रिरभ्यासादेकविंशतीति ॥ २०९-२१० ॥

१६—मदविलसित

अनुवाद—'मदविलसित' अङ्गहार में दोला नृत्तहस्त को संचालित किया जाता है और पैरों को स्वस्तिक चेष्टा से अपसृत किया जाता है अर्थात् हटाया जाता है तथा अञ्चित एवं वलित हाथों से 'तलसंट्टित' क्रिया की जाती है। फिर क्रमशः निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है ॥ २०९-२१० ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर दोलाहस्तों के संचालन का उल्लेख होने से 'मदस्खलितक' नामक ९९वें करण के प्रयोग का संकेत मिलता है। इसी प्रकार 'स्वस्तिक पैरों के अपसरण' के उल्लेख से 'मत्तल्लि' करण का प्रयोग सूचित होता है। इसके बाद अञ्चित एवं वलित हाथों के संघट्टित करने से 'तलसंघट्टित' करण के प्रयोग का निर्देश है। अभिनवगुप्त ने 'तलसंघट्टित' पद से 'तलसंस्फोटित' नामक ६९वाँ करण स्वीकार किया है। ये तीनों करण अनेक प्रकार से चित्रित किये जाते हैं। इसके बाद निकुट्टक आदि चार करणों का प्रयोग किया जाता है।

---

१. ख. तलसंघटितैस्तथा ।

२. क. ख. निकुञ्चितं च ।

३. क.-न. म. करिहस्तः कटिच्छेदो ।

१७. अथ गतिमण्डलः

[1]मण्डलं स्थानकं कृत्वा तथा हस्तौ च रेचितौ ।
उद्वृत्तेन पादेन [2]मत्तल्लिकरणं भवेत् ॥ २११ ॥
[3]आक्षिप्तं करणं चैव ह्युरोमण्डलमेव[4] च ।
[5]कटिच्छिन्नं तथा चैव भवेत्तु गतिमण्डले ॥ २१२ ॥

---

१७. गतिमण्डलः ।

मण्डलमिति । मण्डलस्थानकेन मण्डलस्वस्तिकनिवेशे करणे उद्दिष्टे । तत उन्मत्तं रेचिताविव्याह । पादेनोद्धट्टिताख्यं त्र्युत्तरशतम् । आक्षिप्तादीनि त्रीणि चाष्टौ करणानि गतिमण्डले ॥ २११-२१२ ॥

यहाँ पर कुछ आचार्य आरम्भ के दोला, मत्तल्लि और तलसंस्फोटित तीन करणों को तीन बार तिहराने से नौ तथा आगे के चार करणों के योग से तेरह करणों का प्रयोग माना गया है। अन्य आचार्य तो सातों करणों के तीन बार आवृत्ति करने से इक्कीस करणों के प्रयोग को स्वीकार करते हैं ॥ २०९-२१० ॥

१७—गतिमण्डल

अनुवाद—'गतिमण्डल' नामक अङ्गहार में प्रथम मण्डल नामक स्थानक का प्रयोग करके दोनों हाथों को रेचित किया जाता है, फिर उद्धट्टित पैर से मत्तल्लि करण का प्रयोग किया जाता है, उसके बाद आक्षिप्त, उरोमण्डल और कटिच्छन्न करणों का प्रयोग किया जाता है ॥ २११-२१२ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर मण्डलस्थानक के उल्लेख से 'मण्डलस्वस्तिक' और 'निवेश' करणों के प्रयोग का निर्देश किया गया है। उसके बाद रेचितहस्त द्वारा 'उन्मत्त' करण का संकेत है। इसी प्रकार उद्धट्टित पाद के निर्देश से 'उद्धट्टित' करण के प्रयोग का संकेत है। इसके बाद आक्षिप्त, मत्तल्लि, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों के प्रयोग का निर्देश किया गया है। इस प्रकार कुल आठ करणों के योग से यह 'गतिमण्डल' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २११-२१२ ॥

---

१. ख. ग. घ. मण्डलस्थानकं ।
२. ख. मत्तल्लीकरणं भवेत् । क-अ. ब. द. मत्तल्लीं सम्प्रयोजयेत् ।
३. ख. आक्षिप्तकरणं ।
४. ख. घ. उरोमण्डलकं तथा ।
५. ख. घ. कटिच्छेदं ।

१८. अथ परिछिन्नः

समपादं प्रयुज्याथ [1]परिच्छिन्नं त्वनन्तरम् ।
आविद्धेन तु पादेन [2]बाह्यभ्रमरकं तथा ॥ २१३ ॥
[3]वामसूच्या त्वतिक्रान्तं भुजङ्गत्रासितं तथा[4] ।
[5]करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिच्छिन्ने विधीयते ॥ २१४ ॥

१८. परिच्छिन्नः ।

समपादमिति । "श्लिष्टौ समनखौ पादौ" (ना. शा. ४-६५) इति समनखं प्रथमं कुर्यात् । ततश्छिन्नं पञ्चचत्वारिंशत् । आविद्धपादेनाविद्धचार्यां संभ्रान्तमेकोत्तरशतम् । ततो भ्रमरकमष्टत्रिंशत् । वामसूच्यार्धसूची वामपादेन । ततोऽतिक्रान्तं षट्षष्टितमम् । भुजङ्गत्रासितादीनि त्रीणि च नवभिः परिच्छिन्नः ॥ २१३-२१४ ॥

१८—परिच्छिन्न

अनुवाद—जहाँ पर समपाद स्थानक के प्रयोग के बाद छिन्न करण का प्रयोग किया जाता है और आविद्ध चारी में स्थित पैर के अभिनय के साथ बाह्य भ्रमरक करण का प्रयोग किया जाता है, फिर बाँये पैर के द्वारा अर्धसूची करण का तथा उसके बाद अतिक्रान्त और भुजङ्गत्रासित करण का प्रयोग किया जाता है, फिर अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ 'परिच्छिन्न' नामक अङ्गहार होता है ॥ २१३-२१४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त ने इस अङ्गहार में समपाद स्थानक से 'समनख' करण को स्वीकार किया है। समनख करण में दोनों पाद एक दूसरे से सटे हुए (श्लिष्ट) होते हैं और दोनों हाथ उसी स्थिति में प्रलम्बित होते हैं। (ना० शा० ४।६५)। परिच्छिन्न का प्रयोग 'छिन्न' करण का द्योतक है जो ४५वाँ करण है। पैर का आविद्धचारी के साथ निर्देश होने से 'सम्भ्रान्त' नामक १०१वें करण का संकेत है। फिर भ्रमरक नामक ३८वें करण के प्रयोग का निर्देश है। बाँये पैर से सूचीचारी के द्वारा अर्धसूची करण का निर्देश है। उसके बाद अतिक्रान्त और भुजङ्गत्रासित करण का प्रयोग होता है और अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार नौ करणों के योग से 'परिच्छिन्न' अङ्गहार निर्माण होता है ॥ २१३-२१४ ॥

१. ख. परिच्छिन्नस्त्वनन्तरम् ।
२. क-अ. बाह्भ्रमरकं तथा । क-प. वात्याभ्रमरकं तथा । ३. ख. घ. वामं सूच्या ।
४. इतः परं श्लोकत्रयं 'ख' पुस्तके नास्ति । ५. क-न. म. करिहस्तः कटिच्छेदः ।

१९. अथ परिवृत्तकरेचितः

शिरसस्तूपरि स्थाप्यौ स्वस्तिकौ [1]विच्युतौ करौ ।
ततः सव्यं करं चापि गात्रमानम्य रेचयेत् ॥ २१५ ॥
[2]पुनरुत्थापयेत्तत्र गात्रमुन्नम्य रेचितम् ।
[3]लताख्यौ च करौ कृत्वा वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत् ॥ २१६ ॥
रेचितं करिहस्तं च भुजङ्गत्रासितं तथा ।
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत स्वस्तिकं [4]पादमेव च ॥ २१७ ॥
[5]पराङ्मुखविधिर्भूय एवमेव भवेदिह ।
[6]करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिवृत्तकरेचिते ॥ २१८ ॥

१९—परिवृत्तकरेचित

अनुवाद—जहाँ पर विच्युत अर्थात् विप्रकीर्ण हुए दोनों हाथों को स्वस्तिक मुद्रा में शिर पर रखा जाता है। फिर शरीर को झुकाकर दाहिने हाथ को रेचित करे। फिर शरीर को उन्नत करके रेचित हाथ को ऊपर उठाये, तदनन्तर दोनों हाथों 'लताहस्त' मुद्रा में रखकर 'वृश्चिक' करण का प्रयोग किया जाय। फिर इसके बाद रेचित, करिहस्त, भुजङ्गत्रासित, आक्षिप्त करणों का प्रयोग किया जाय, तदनन्तर पैर को स्वस्तिक प्रक्रिया में रखकर पराङ्मुख अर्थात् मुख फेरकर फिर इन्हीं विधियों को करे, फिर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो वहाँ पर 'परिवृत्तक-रेचित' नामक अङ्गहार होता है ॥ २१५-२१८ ॥

१. क-अ. ङ. ब. विधुतौ करौ ।
२. क-ब. पुनः संस्थापयेत् तत्र गात्रमुन्नम्य रेचयेत् ।
क-त. पुनरुत्थापयेत्तत्—गात्रमुन्नाम्य रेचयेत् ।
३. क-न. म. लताख्यं च करं कृत्वा ।
४. ख. पदमेव च ।
५. ख. पराङ्मुखीविधिर्भूयादेवमेव भवेदिह ।
घ. पराङ्मुखौ विधियर्भू एवमेव भवेदिह ।
क-ल. न. म. पराङ्मुखी विधिर्भूय एष एव भवेदिह ।
६. ख. करिहस्तः कटिच्छेदः । घ. करिहस्तं कटिच्छेदं ।

१९. परिवृत्तकरेचितः ।

शिरसस्त्विति । शिरस उपरीति नितम्बं पञ्चाशीतितमम्—

"भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ।

बद्धाचारी तथा चैव नितम्बे करणे भवेत्" ॥ (ना. शा.४-१४६) ।

इति नितम्बम् । ततः स्वस्तिकरेचितं सप्तमम् (ना.शा. ४-६८) । गात्रस्यानमनेन विक्षिप्ताक्षिप्तकमेकविंशम् (ना. शा. ४-८२) । पुनः पुनरिति लताख्यावित्य-नेनार्धेन लतावृश्चिकम् (ना. शा. ४-१०५)

"अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।

लताख्यश्च करो वामस्तल्लतावृश्चिकं भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१०५)

इति लतावृश्चिकम् ।

"एको वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ।

अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके" ॥ इति । (ना. शा. ४-१४९)

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर शिर पर हाथों को स्वस्तिक प्रक्रिया में रखने से 'नितम्ब' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है जिसमें दोनों भुजाओं को ऊपर उठाया जाता है और हाथों को सामने अंगुलियाँ वाला रखा जाता है (ना० शा० ४।१४६) । उसके बाद 'विप्रकीर्ण दोनों हाथों को स्वस्तिक प्रक्रिया में रखे' इस कथन से सातवें 'स्वस्तिकरेचित' करण के प्रयोग का संकेत मिलता है जिसमें रेचित और आविद्ध दोनों हाथों को स्वस्तिक प्रक्रिया में अलग-अलग कटि-प्रदेश में रखा जाता है। (ना० शा० ४।६८) । इसके बाद शरीर के आनमन से दाहिने हाथ से रेचित क्रिया करने से 'विक्षिप्ताक्षिप्त' नामक इक्कीसवें करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है जिसमें ऊपर फेंके हुए हाथ और पैरों को फिर उसी प्रकार आक्षेपण किया जाता है (ना० शा० ४।८२) । फिर शरीर को उन्नत करके रेचित चेष्टा में हाथ को उठाने तथा हाथों को 'लता' प्रक्रिया में न्यस्त करने के निर्देश द्वारा 'लतावृश्चिक' करण के प्रयोग की सूचना मिलती है जिसमें एक पैर जिसका तल और अंगुलियाँ ऊपर की ओर सिकुड़ी होती है, उसे पीछे की ओर अञ्चित होता है और बाँया हाथ 'लता' चेष्टा में होता है। (ना० शा० ४।१०५) । इसके बाद हाथों के रेचित प्रयोग द्वारा 'उन्मत्त' करण के प्रयोग का निर्देश है जिसमें पैर अञ्चित चेष्टा में और रेचित प्रक्रिया में न्यस्त किया जाता है (ना० शा० ४।७५) । फिर 'करिहस्त' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा हाथ प्रोद्वेष्टित मुद्रा में स्थित रहता है और पैर अञ्चित रहता है (ना० शा० ४।१४९) ।

२०. अथ वैशाखरेचितः

रेचितौ सह गात्रेण ह्यपविद्धौ करौ यदा[1]।
पुनस्तेनैव [2]देशेन गात्रमुन्नम्य रेचयेत् ।। २१९ ।।
[3]कुर्यान्नूपुरपादं च भुजङ्गत्रासितं तथा।
रेचितं मण्डलं चैव [4]बाहुशीर्षं निकुञ्चयेत् ।। २२० ।।

रेचितमित्युन्मत्तकरणम्। "अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ" इति (ना. शा. ४-७४)। "एको वक्षःस्थितो हस्तः" इति करिहस्तकम्। "कुञ्चितं पादम्" इति (ना. शा. ४-८५) भुजङ्गत्रासितम्। "आक्षिप्तं हस्तपादम्। इत्याक्षिप्तकम् (ना. शा. ४-११६)। स्वस्तिकं पादमित्यस्यैव पादस्वस्तिकपर्यन्ततया बद्धां चारीं सूचयन्नितम्बकरणमाह—"भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ" (ना. शा. ४-१४६)। पराङ्‌मुखेति। अङ्गहारेषु मध्ये परिभाषमाणो मुनिरेतदाह—सर्वेष्वेव चाङ्गहारेषु पाश्चात्यं करणद्वयं वर्जयित्वा वर्तनीयानि करणानि। तानि चतुर्दिङ्‌मुखेषु प्रयुज्य संमुखमन्त्ये करणद्वयेन पूरयेदिति ।। २१५-२१८ ।।

इसके बाद 'भुजङ्गत्रासित' करण का संयोजन करना चाहिए, जिससे कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर त्र्यस्र ऊरु को विवर्त्तित किया जाता है और कटि और जानु का भी विवर्त्तन किया जाता है। (ना० शा० ४।८५) फिर 'आक्षिप्तक' करण के प्रयोग द्वारा हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद पैरों की स्वस्तिक क्रिया से बद्धा चारी को सूचित करने वाले 'नितम्ब' करण के प्रयोग का निर्देश किया जाता है जिसमें दोनों भुजाएँ ऊपर उठी हुई होती हैं और हाथ की अंगुलियाँ सामने की ओर होती है तथा पैर बद्धा चारी में होता है।
(ना० शा० ४।१४६)।

पराङ्मुखेति—अङ्गहारों के विषय में परिभाषित करते हुए मुनि यह कहते हैं कि सभी अङ्गहारों में पीछे के दो करणों को छोड़कर शेष सभी करणों का प्रयोग करना चाहिए, उन करणों को चारों ओर संमुख से प्रयोग कर लेने के बाद अन्त में उन दोनों करणों (करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों) के प्रयोग के द्वारा इस अङ्गहार को पूर्ण करना चाहिए। इस प्रकार 'परिवृत्तक-रेचित' अङ्गहार निष्पन्न होता है ।। २१५-२१८ ।।

---

१. ख-घ. तथा।
२. क-त. योगेन।
३. ख-घ. कार्यम्।
४. क. ग. बाहुशीर्षे।

[1]ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ।
करिहस्तं [2]कटिच्छिन्नं कुर्याद्वैशाखरेचितौ ॥ २२१ ॥

२०. वैशाखरेचितः ।

रेचिताविति । अनेन श्लोकेन क्रमेण वैशाखरेचितमङ्गमङ्गद्वयेन प्रयोज्यमित्याह ।

"रेचितं हस्तपादं च कटी ग्रीवा च रेचिता" ।
वैशाखस्थानकेनैतद्भवेद्वैशाखरेचितम् ॥ (ना. शा. ४-९८)
वैशाखरेचितं करणम् ।

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ।
नूपुरं च तथा पादकरणे नुपूरे भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-९७)

इति नूपुरोर्ध्वपादम् । कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्येति (ना. शा. ४-८५) भुजङ्गत्रासितम् । रेचितमित्युन्मत्तकरणम् । "अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ" इति (ना. शा. ४-७४) मण्डलमिति मण्डलस्वस्तिकम्—

२०—वैशाखरेचित

अनुवाद—जहाँ पर शरीर के साथ दोनों हाथों को रेचित कर 'अपविद्ध' चेष्टा में रखा जाय और फिर शरीर को ऊपर उठाकर फिर उसी प्रकार रेचित करे, फिर नूपुर, भुजङ्गत्रासित, रेचित और मण्डल करणों के संयोजन के साथ भुजा एवं शिर अथवा कन्धे को निकुञ्चित किया जाय, फिर इसके बाद ऊरूद्वृत आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो वहाँ पर 'वैशाखरेचित' नामक अङ्गहार होता है ॥ २१९-२२१ ॥

अभिनव—'वैशाखरेचित' अङ्गहार में शरीर के साथ हाथों को रेचित प्रक्रिया में अपविद्ध करने तथा पुनः शरीर को उन्नत करके दूसरे पार्श्व से भी ऐसा ही करने के निर्देश के द्वारा 'वैशाखरेचित' करण को संपादित करने का संकेत है। इस श्लोक के द्वारा क्रम से 'वैशाखरेचित' करण दोनों अङ्गों से प्रयुक्त करना चाहिए, यह कहा गया है। 'जहाँ पर हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा आदि रेचित होते हैं वैशाखस्थानक की स्थिति होती है वहाँ 'वैशाखरेचित' करण होता है। (ना० शा० ४।९८) इसके बाद 'नूपुर' करण का प्रयोग किया जाता है। 'जहाँ पर त्रिक को वलित करके दोनों हाथों को 'लतारेचित' प्रक्रिया में रखा जाता है और पैर 'नूपुर' पादचारी में होता है वहाँ 'नूपुर' करण होता है (ना० शा० ४।९७)। फिर 'भुजङ्गत्रासित' करण का प्रयोग करना चाहिए किसमें कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जङ्घा को त्र्यस्र विवर्त्तित किया जाता है और कटि तथा जानु को भी विवर्त्तित किया जाता है (ना० शा० ४।८५)।

१. क-त. ऊरुवृत्तम् । २. ख-घ. कटिच्छेदं ।

२१. अथ परावृत्तः

आद्यं तु जनितं कृत्वा पादमेकं प्रसारयेत् ।
तथैवालातकं कुर्यात् त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।। २२२ ।।
अञ्चितं वामहस्तं च [1]गण्डदेशे निकुट्टयेत् ।
[2]कटिच्छिन्नं तथा चैव [3]परावृत्ते प्रयोजयेत् ।। २२३ ।।

"स्वस्तिकौ तु करौ कृत्वा प्राङ्मुखोर्ध्वतलौ समौ ।
तथा च मण्डलस्थानं मण्डलस्वस्तिकं भवेत्" ।। इति (ना. शा. ४-६८)

बाहुशीर्ष इत्यनेन निकुट्टितं करणमाह—

"निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ।
पादौ निकुट्टितौ चैव ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम्" ।। इति (ना. शा. ४-६९) ।
ऊरूद्वृत्तादिकरणजातं क्रमेणोक्ताङ्गहारवत् ।। २१९-२२१)

फिर यहाँ पर रेचित के प्रयोग से 'उन्मत्त' करण का तथा मण्डल के प्रयोग से 'मण्डलस्वस्तिक' करण का निर्देश किया गया है। 'उन्मत्त' करण में पैर को अञ्चित करके हाथों को रेचित प्रक्रिया में रखा जाता है (ना० शा० ४।७५) और 'मण्डलस्वस्तिक' करण के प्रयोग में ऊपर की ओर उठी हुई हथेलियों वाले दोनों हाथों को स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है (ना० शा० ४।६९) बाहुशीर्ष अर्थात् कन्धे पर निकुञ्चन क्रिया के प्रयोग से यहाँ 'निकुट्टक' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है जिसके प्रयोग में दोनों हाथ बाहु और शिर के बीच में संचालित होते हैं और पैर निकुट्टित होता है (ना० शा० ४।७०)। इनके अतिरिक्त ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करण पूर्व अङ्गहारों में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त करने चाहिए ।। २१९-२२१ ।।

२१—परावृत्त

अनुवाद—'परावृत्त' अङ्गहार में पहिले 'जनित' करण का प्रयोग करके एक पैर को फैलाना चाहिए, फिर 'अलात' करण का प्रयोग करके त्रिक को परिवर्त्तित करना चाहिए, फिर बाँये हाथ को निकुञ्चित करके कपोल-प्रदेश पर निकुट्टित कर, फिर अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार छः करणों के योग से 'परावृत्त' अङ्गहार निष्पन्न होता है ।।२२२-२२३।।

---

१. क-अ. ड म. गण्डे चैव निकुट्टितम ।
२. क-न. म. कटिच्छेदम् ।
३. ख. परावृत्तं ।

२१. परावृत्तः ।

आद्यम्न्विति ।

"एको वक्षःस्थितो हस्तो द्वितीयश्च प्रलम्बितः ।
तलाग्रसंस्थितः पादो जनिते करणे भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१५५) इति ।

[1]आद्यशब्दो दक्षिणाङ्गप्रयोज्यत्वमस्याह । पादमेकं प्रसारयेदिति शकटास्यं करणमाह—

"निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ।
उद्वाहितमुरःकृत्वा शकटास्यं प्रयोजयेत्" ॥ (ना. शा. ४-१६८)
"अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ।
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम्" ॥ (ना. शा. ४-७८)

इत्यलातम् । त्रिकं तु परिवर्तयेदिति भ्रमरकम् ।

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ।
त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत्" ॥ इति (ना. शा. ४-९९)

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'जनित' करण का प्रयोग करना चाहिए जिसका लक्षण है कि "जहाँ पर एक हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो और दूसरा हाथ प्रलम्बित हो तथा पैर अग्रतलसंचर प्रक्रिया में स्थित हो वहाँ 'जनित' करण होता है।" (ना० शा० ४।१५६) । यहाँ पर 'आद्य' शब्द से दाहिने अङ्ग से प्रयोग करना चाहिये, यह कहा गया है । 'एक पैर को फैलाये' इस कथन से 'शकटास्य' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है । शकटास्य करण का लक्षण है—

"जहाँ पर शरीर की सम स्थिति से पैर को तलसञ्चर स्थिति में फैलाया जाता है तथा वक्षःस्थल को उद्वट्टित स्थिति में रखा जाता है वहाँ 'शकटास्य' करण होता है।" (ना० शा० ४।१६८) ।

अलात करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को अलातचारी की प्रक्रिया में रखकर, दाहिने हाथ को कन्धे के बराबर ले जाकर ऊर्ध्वजानु चारी का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'अलात' नामक करण होता है।" (ना० शा० ४।७९) ।

'त्रिक का परिवर्त्तन करे' इस कथन से 'भ्रमरक' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है । भ्रमरक करण का लक्षण है—

"जहाँ पर आक्षिप्त चारी में स्थित पैर स्वस्तिक स्थिति में रहता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित होते हैं तथा त्रिक वलित होता है वहाँ 'भ्रमरक' करण होता है।"
(ना० शा० ४।९९) ।

---

१. क-म. अन्यशब्दो ।

२२. अथ अलातकः

स्वस्तिकं [1]करणं कृत्वा व्यंसितौ च करौ पुनः ।
अलातकं प्रयुञ्जीत ह्यूर्ध्वजानु[2] निकुञ्चितम् ॥ २२४ ॥
[3]अर्धसूची च विक्षिप्तमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ।
करिहस्तं [4]कटिच्छिन्नमङ्गहारे ह्यलातके ॥ २२५ ॥

अञ्चितं वामहस्तं चेत्यनेनार्धेन करिहस्तं करणं गण्डदेशे निकुट्टयेदिति विशेषयुक्तमाह—

"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ।
अञ्चितं चरणं चैव प्रयोज्यः करिहस्तकः ॥ इति (ना. शा. ४-१४८)
पर्यायशः कटिच्छिन्ना बाह्वोः शिरसि पल्लवौ ।
पुनः पुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद् भवेत् ॥ (ना. शा. ४-७१)

इति कटिच्छिन्नम् ॥ २२२-२२३ ॥

'बायें हाथ को अञ्चित चेष्टा में कपोल-प्रदेश पर निकुञ्चित करे' इस कथन से 'करिहस्त' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है ।

"जहाँ पर बाँया हाथ वक्षःस्थल पर हो और दूसरा हाथ प्रोद्वद्वेष्टित हो, तथा पैर अञ्चित हो, वहाँ 'करिहस्त' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१४८) ।

इसके बाद 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें कटि 'छिन्न' प्रक्रिया में होती है और पल्लव हस्तों को बारी-बारी से कन्धे पर ले जाता है (ना० शा० ४।७२) । इस प्रकार छः करणों के योग से 'परावृत्त' नामक अङ्गहार बनता है ॥ २२२-२२३ ॥

२२—अलातक

अनुवाद—जहाँ पर 'स्वस्तिक' करण का प्रयोग करके फिर हाथों को 'व्यंसित' करण की प्रक्रिया में रखा जाता है फिर अलातक, ऊर्ध्वजानु, निकुञ्चित, अर्धसूची, विक्षिप्त , उद्वृत्त, आक्षिप्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ पर 'अलातक' नामक अङगहार होता है ॥ २२४-२२५ ॥

---

१. क-त. प. चरणं ।
२. ख. घ. ऊर्ध्वजानु । ग. उर्ध्वजानु ।
३. ख. अर्धसूचीव विक्षिप्तमुद्धृताक्षिप्तके तथा । ग. ऊर्ध्वसूची च ।
४. ख. करिहस्तः कटिच्छेद त्वङ्गहारे त्वलातके ।
क-न. म. करिहस्तः कटिच्छेदो ह्यङ्गहारे ह्यलातके ।

२२. अलातकः ।

स्वस्तिकमित्यादि । स्वस्तिकाविति (ना. शा. ४-६८) स्वस्तिकम् । व्यंसितौ चेति द्विवचनेन पुनश्शब्दे स्वस्तिकव्यवधानेन व्यंसितस्य द्विप्रयोगमाह ।

"आलीढस्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत्" ॥ (ना. शा. ४-१०६)
"अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ।
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम्" ॥ (ना. शा. ४-७८)
"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तावूर्ध्वजानु प्रकीर्त्तितम्" ॥ (ना. शा. ४-८६)
"वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ।
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु निकुञ्चितम्" ॥ (ना. शा. ४-८७)

इति निकुञ्चितम् ।

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'स्वस्तिक' करण का प्रयोग होता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर सामने की ओर ऊपर उठी हुई हथेलियों वाला दोनों हाथ स्वस्तिक मुद्रा में हों और मण्डल-स्थानक हो, वहाँ 'स्वस्तिक' करण होता । (ना० शा० ४।६९) ।

अभिनवगुप्त के अनुसार 'व्यंसितौ' में द्विवचन का प्रयोग होने के कारण तथा पुनः शब्द से कहा गया है कि स्वस्तिक के व्यवधान होने से 'व्यंसित' करण का यहाँ दुबारा प्रयोग करना चाहिए अर्थात् पहिले 'व्यंसित' करण का प्रयोग करे, फिर स्वस्तिक का और फिर दुबारा 'व्यंसित' करण का प्रयोग करना चाहिए । व्यंसित करण का लक्षण है—

"जहाँ पर आलीढ़ स्थानक के साथ रेचित दोनों हाथ वक्षःस्थल पर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं वहाँ 'व्यंसित' करण होता है । (ना० शा० ४।१०९) ।

अलात करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को अलात चारी के करके दाहिने हाथ को कन्धे के पास ले जाया जाय और ऊर्ध्वजानु चारी का क्रमशः प्रयोग करे वहाँ 'अलात' नामक करण होता है ।" (ना० शा० ४।७९) ।

ऊर्ध्वजानु करण का लक्षण—

"जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु को स्तन के बराबर रखे और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार रखे, वहाँ 'ऊर्ध्वजानु' करण होता है ।"

(ना० शा० ४।८६) ।

"अलपद्मः शिरोदेशे सूचीपादश्च दक्षिणः।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः" ॥ (ना. शा. ४-१३८)
इत्यर्धसूची।
"विक्षिप्तं हस्तपादं च पार्श्वतः पृष्ठतोऽपि वा।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्" ॥ (ना. शा. ४-११९)
आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तदेहमाक्षिप्तपादकम्।
उद्वृत्तगात्रमित्येतदुद्वृत्तं करणं स्मृतम् ॥ (ना. शा. ४-१५२)
"आक्षिप्तं हस्तपादं च क्रियते यत्र वेगतः।
आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तद्द्विजोत्तमाः" ॥ (ना. शा. ४-११६)
इत्याक्षिप्तम्।
"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः।
अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तकः" ॥ (ना. शा. ४-१४८)
इति करिहस्तम्।
"पर्यायशः कटिच्छिन्ना बाह्वोः शिरसि पल्लवौ।
पुनः पुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद्भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-७२)
इति कटिच्छिन्नम् ॥ २२४-२२५ ॥

निकुञ्चित करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को वृश्चिक करण की मुद्रा में रखकर हाथ को पार्श्व में निकुञ्चित किया जाय और दाहिने हाथ को नासिका के अग्रभाग पर निकुञ्चित करे तो वहाँ 'निकुञ्चित' करण होता है।" (ना० शा० ४।८७)।

अर्धसूची का लक्षण—

"जहाँ पर अलपल्लव मुद्रा में न्यस्त हाथ शिर पर होता है और दाहिना पैर सूची चारी में स्थित होता है वहाँ 'अर्धसूची' नामक करण होता है।"

(ना० शा० ४।१३८)।

विक्षिप्तकरण का लक्षण—

"जहाँ पर हाथ और पैरों को पीछे और पार्श्व में एक मार्ग का अनुसरण करते हुए क्षिप्त किया जाता है वहाँ 'विक्षिप्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।११९)।

उद्वृत्त करण का लक्षण—

"जहाँ पर हाथ, पैर और समस्त शरीर को द्रुत गति से फेंक कर शरीर को उद्वृत्त चारी में न्यस्त करे वहाँ 'उद्वृत्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।१५२)।

आक्षिप्त करण का लक्षण—

"जहाँ पर हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है, उसे 'आक्षिप्त' करण कहते हैं।" (ना० शा० ४।११७)।

२३. अथ पार्श्वच्छेदः

निकुट्य वक्षसि करावूर्ध्वजानु प्रयोजयेत् ।
[1]आक्षिप्तस्वस्तिकं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ २२६ ॥
ऊरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं[2] करिहस्तकम् ।
कटिच्छिन्नं[3] तथा चैव पार्श्वच्छेदे विधीयते ॥ २२७ ॥

---

२३. पार्श्वच्छेदः ।

निकुट्येत्यादि । अनेन वृश्चिककुट्टितं द्विचत्वारिंशत्तमकरणमाह—

"वृश्चिकं चरणं कृत्वा द्वावप्यथ निकुट्टितौ ।
विधातव्यौ करौ तत्तु ज्ञेयं वृश्चिककुट्टितम् ॥ (ना.शा. ४-१०३)

करिहस्त का लक्षण—

"जहाँ पर बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखा जाता है और दाहिना हाथ प्रोद्वेष्टित मुद्रा में रहता है और पैर अञ्चित चेष्टा में प्रयुक्त होता है, उसे 'करिहस्त' करण कहा जाता है।" (ना० शा० ४।१४८) ।

अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर कटि को बार-बार दोनों ओर चालित किया जाता है और कन्धे के ऊपर दोनों हाथों को बारी-बारी से रखा जाता है वहाँ 'कटिच्छिन्न' करण होता है।
(ना० शा० ४।७२)

इस प्रकार ग्यारह करणों के योग से 'अलातक' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है। यहाँ पर 'व्यंसित' करण के दो बार प्रयोग करने का निर्देश है। यदि 'व्यंसित' दो करण के रूप में स्वीकार किया जाता है तो करणों की संख्या बारह हो जाती है ॥ २२४-२२५ ॥

२३—पार्श्वच्छेद

अनुवाद— जहाँ पर दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर निकुट्टित करके ऊर्ध्व-जानु करण का प्रयोग किया जाता है, और आक्षिप्त एवं स्वस्तिक करणों के संयोजन के बाद त्रिक को परिवर्त्तित किया जाता है। उसके बाद उरोमण्डलक करण के प्रयोग के साथ नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ 'पार्श्वच्छेद' नामक अङ्गहार होता है ॥ २२६-२२७ ॥

---

१. ख-घ. आक्षिप्तं स्वस्तिकं ।
२. ख-घ. नितम्बः करिहस्तकः ।
३. ध. कटिच्छेदं कटिच्छेदः ।

२४—अथ विद्युद्भ्रान्तः

सूची[1] वामपदं दद्याद्विद्युद्भ्रान्तं च दक्षिणम् ।
दक्षिणेन पुनः सूची विद्युद्भ्रान्तं[2] च वामतः[3] ।। २२८ ।।
परिच्छिन्नं तथा चैव ह्य[4]तिक्रान्तं च वामकम् ।
लताख्यं [5]सकटिच्छिन्नं विद्युद्भ्रान्तश्च स स्मृतः ।। २२९ ।।

कुञ्चितं पादमित्यूर्ध्वजानु (ना. शा. ४-८६), "आक्षिप्तं हस्तपादं च" इत्याक्षिप्तकम् (ना. शा. ४-११६) "हस्ताभ्यामथ पादाभ्याम्" (ना. शा. ४-७५) इति स्वस्तिकम् । हस्तद्वारेणोरोमण्डलकरणम्—

"स्वस्तिकापसृतौ पादावाविद्धक्रमणं यदा ।
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलिकतन्तु तत् ।। (ना. शा. ४-११५)

नितम्बादित्रयं पूर्ववत् ।। २२६-२२७ ।।

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर दोनों हाथों को वक्ष पर निकुट्टित करने से 'वृश्चिकनिकुट्टित' नामक ४२वें करण के प्रयोग का संकेत मिलता है ।

"जहाँ पर पैर को वृश्चिक चेष्टा में रखकर दोनों हाथों को निकुट्टित स्थिति में रखा जाता है, वहाँ 'वृश्चिकनिकुट्टित' करण होता है । (ना० शा० ४।१०३) ।

इसके बाद ऊर्ध्वजानु करण का प्रयोग कुञ्चित पैर से किया जाता है अर्थात् इस करण में कुञ्चित पैर ऊपर की ओर फेंककर जानु को स्तन के बराबर न्यस्त किया जाता है और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार न्यस्त किया जाता है ।'

(ना० शा० ४।८६) ।

इसके वाद आक्षिप्त करण के प्रयोग द्वारा हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० ना० ४।११६) । तदनन्तर स्वस्तिक करण के प्रयोग में हाथ और पैरों द्वारा दो स्वस्तिक मुद्राओं की रचना की जाती है (ना० शा० ४।७६) । इसके बाद हाथों के द्वारा उरोमण्डल करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें स्वस्तिक स्थिति से पैर को हटाकर अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और हाथ उरोमण्डल हस्त-मुद्रा में प्रयुक्त होता हैं । (ना० शा० ४।११५) । इसके बाद नितम्ब करिहस्त और कटिच्छिन्न नामक करण पूर्वोक्त द्वितीय अङ्गहार के लक्षण में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार छः करणों के योग से 'पार्श्वच्छेद' अङ्गहार की निष्पत्ति होती है ।। २२६-२२७ ।।

---

१. ख-घ. सूची वामपादं ।
२. ख-घ. विद्युद्भ्रान्तः ।
३. ग. वामकम् ।
४. ख-ग. घ. त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
५. क. अञ्चितं च शिरश्चैव ।
६. ख-घ. सकटिच्छेदं ।

२४. विद्युद्भ्रान्तः ।

सूचीत्यादि वामाङ्गप्रयोज्यमर्धसूचीकरणमाह—

"अलपद्मः शिरोदेशे सूचीपादश्च दक्षिणः ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः" ॥ (ना. शा. ४-१३८)

दक्षिणेन विद्युद्भ्रान्तं करणम्—

"पृष्ठतो वलितं पादं शिरोधृष्टं प्रसारयेत् ।
सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्तं तदुच्यते" ॥ (ना. शा. ४-१२६)

एतद्दक्षिणेन । पुनरेतदेव द्वयमङ्गविपर्ययेण । तदाह—दक्षिणेन पुनरिति । परिच्छिन्नमिति छिन्नं करणम् ।

"पल्लवौ तु कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी ।
वैशाखस्थानकेनेह तच्छिन्नं करणं भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१०६)

२४—विद्युद्भ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर बाँये पैर को सूची चेष्टा और दाहिने पैर को विद्युद्भ्रान्त प्रक्रिया में रखा जाता है और इसी प्रकार फिर दाहिने अङ्ग (पैर) से सूची पाद चारी तथा बाँये पैर से विद्युद्भ्रान्त करण का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद छिन्न करण का प्रयोग करके बाँये अङ्ग से अतिक्रान्त करण का प्रयोग किया जाता है। फिर अन्त में लतावृश्चिक और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'विद्युद्भ्रान्त' नामक अङ्गहार होता है ॥ २२८-२२९ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'सूची' पद से बाँये अङ्ग से प्रयोज्य 'अर्धसूची' करण को कहा गया है जिसका लक्षण है कि जहाँ पर 'अल्लपल्लव हस्त को शिर पर रखा जाता है और दाहिने पैर को सूची चारी में न्यस्त किया जाता है वहाँ 'अर्धसूची' करण होता है। (ना० शा० ४।१३८)।

इसी प्रकार दाहिने अङ्ग से प्रयोज्य विद्युद्भ्रान्त करण को कहा गया है जिसका लक्षण है कि जहाँ पर पैर को पीछे की ओर वलित करके शिर से श्लिष्ट होता हुआ प्रसारित किया जाय और हाथ मण्डल तथा आविद्ध प्रक्रिया में हो तो वहाँ 'विद्युद्भ्रान्त' करण होता है। (ना० शा० ४।१२६) । फिर इन्हीं दोनों करणों को विपरीत अङ्गों से अर्थात् अङ्ग का विपर्यय करके सम्पादित किया जाता है उसी बात को 'दक्षिणेन पुन.' इत्यादि के द्वारा कहते हैं। अर्थात् दाहिने पैर से अर्धसूची करण और बाँये से विद्युद्भ्रान्त करण का प्रयोग किया जाता है।

'परिच्छिन्न' शब्द से 'छिन्न' करण का निर्देश है। जिसमें दोनों अल्लपल्लव हाथ क्रम से छिन्न प्रक्रिया से कटि पर स्थित होते हैं और वैशाख नामक स्थानक होता है (ना० शा० ४।१०६)।

२५—अथ उद्वृत्तकः

कृत्वा नूपुरपादं तु सव्यवामौ प्रलम्बितौ ।
करौ पार्श्वे ततस्ताभ्यां [1]विक्षिप्तं सम्प्रयोजयेत् ॥ २३० ॥
ताभ्यां सूची तथा चैव त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
लताख्यं [2]सकटिच्छिन्नं कुर्यादुद्वृत्तके सदा ॥ २३१ ॥

"अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा पुरस्तत्संप्रसारयेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तावतिक्रान्ते प्रकीर्त्तितौ" ॥ (ना. शा. ४-१२७)

एतद्वामेनाङ्गेन लताख्यमिति लतावृश्चिकम् ।

"अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।
लताख्यश्च करो वामः तल्लतावृश्चिकं भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१०५)

इति लतावृश्चिकम् । कटिच्छिन्नं प्राग्वत् ॥ २२८-२२९ ॥

अतिक्रान्त करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को अतिक्रान्त चारी में स्थित कर आगे की ओर प्रसारित किया जाता है और हाथ प्रयोग के अनुसार संचालित होते हैं, वहाँ 'अतिक्रान्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।१२७) ।

इसका प्रयोग बाँये अङ्ग से करना चाहिए। 'लताख्यम्' शब्द से 'लतावृश्चिक' करण का निर्देश है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर कुञ्चित ऊपर उठी हुई अंगुलियों वाला पैर पीछे की ओर अञ्चित होता है और बांया हाथ 'लता' नामक हस्तमुद्रा में स्थित होता है वहाँ 'लतावृश्चिक' करण होता है।" (ना० शा० ४।१०५) ।

यह लतावृश्चिक करण है। 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग पहिले द्वितीय अङ्गहार में बताई गई प्रक्रिया के अनुसार करना चाहिए। इस प्रकार छः करणों के योग से 'विद्युद्भ्रान्त' नामक अङ्गहार की निष्पत्ति होती है ॥ २२८-२२९ ॥

२५—उद्वृत्तक

अनुवाद—जहाँ पर पैर को नूपुर पादचारी में रखकर दायें-बांये हाथों को पार्श्व में प्रलम्बित किया जाता है फिर उन्हीं दोनों हाथों से 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग किया जाता है और उन्हीं के द्वारा 'सूची' करण का प्रयोग करके त्रिक को परिवर्त्तित किया जाता है और अन्त में 'लता' नामक करण के साथ 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है। वहाँ पर 'उद्वृत्तक' नामक अङ्गहार होता है ॥ २३०-२३१ ॥

---

१. क-न. म. विक्षेपम् । २. ख-घ. सकटिच्छेदं ।

२५. उद्वृत्तकः।

कृत्वा नूपुरपादमिति।

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ।
नूपुरं च तथा पादं करणे नूपुरे न्यसेत् ॥" (ना. शा. ४-९७)

सव्यवामग्रहणेन पर्यायशः कराविति च द्विवचनेन यौगपद्यं सूचयन् भुजङ्गाञ्चितं चत्वारिंशत्तमम्।

"भुजङ्गत्रासितः पादो रेचितो दक्षिणः करः।
लताख्यश्च करो वामो भुजङ्गाञ्चिकं भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१०१)

गृधावलीनकं चतुस्सप्ततितमं करणं दर्शयति—

"पृष्ठप्रसारितः पादः किञ्चिदञ्चितजानुकः।
यत्र प्रसारितौ बाहू तत्स्याद् गृध्रावलीनकम्" ॥ (ना. शा. ४-१३५)

अतएव करणद्वयमेवोपसंहरति। ताभ्यामनन्तरं विक्षिप्तमिति—

"विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्" ॥ (ना. शा. ४-११९)

अभिनव—'नूपुर पाद का प्रयोग करके' इस कथन से 'नूपुर' करण के प्रयोग का संकेत मिलता है। नूपुर करण का लक्षण है—

"यदि त्रिक को अच्छी तरह वलित करके दोनो हाथों को लता और रेचित प्रक्रिया में रखा जाता है और पैर को नूपुर पादचारी में स्थित किया जाय तो 'नूपुर' करण कहा जाता है।" (ना० शा० ४।९७)।

दायें-बाँये हाथ के क्रमशः (बारी-बारी से) प्रयोग करने से तथा 'करौ' में द्विवचन के प्रयोग से एक समय एक साथ करने की सूचना देते हुए भुजङ्गाञ्चित चालीसवाँ करण और गृध्रावलीनक चौहत्तरवाँ करण सूचित किया गया है।

"जहाँ पर पैर भुजङ्गत्रासित चारी में स्थित होता है और दाहिना हाथ रेचित होता है और बायाँ हाथ 'लता' हस्तमुद्रा में रहता है, वहाँ 'भुजङ्गाञ्चित' करण होता है।" (ना० शा० ४।१०१)।

"जहाँ पर थोड़ा झुके हुए जानु (घुटने) वाले पैर को पीछे की ओर प्रसारित किया जाता है और दोनों बाहु प्रसारित होते हैं, वहाँ 'गृध्रावलीनक' करण होता है।
(ना. शा. ४।१३५)।

इसलिए दोनों करणों का उपसंहार करते हैं। उन दोनों करणों के प्रयोग के बाद 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग किया जाता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर हाथ और पैर दोनों को पीछे और बगल (पार्श्व) में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए क्षिप्त किया जाता है, वहाँ पर 'विक्षिप्त' नामक करण होता है।"
(ना. शा. ४।११९)

२६—अथालीढ़ः

आलीढव्यंसितौ हस्तौ बाहुशीर्षे निकुट्टयेत् ।
[1]नूपुरश्चरणो वामस्तथाऽलातश्च दक्षिणः ॥ २३२ ॥
तेनैवाक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकौ करौ ।
करिहस्तं [2]कटिच्छिन्नमालीढे सम्प्रयोजयेत् ॥ २३३ ॥

तदपीच्छया अङ्गं पर्यायेणेत्युपसंहारेणाह—ताभ्यामनन्तरं सूचीति । तेनाङ्गपर्यायेण योगस्याक्षेपोपलब्धेः तेन सन्धानायोद्वृत्तं करणम् । [त्रिकपरिवर्तनेन बद्धया चार्या नितम्बं करणम् । ततो "अञ्चितः पृष्ठतः पाद" इत्यादिया लतावृश्चिकं चतुश्चत्वारिंशत्तमम् । ततः कटिच्छिन्नम् ॥ २३०-२३१ ॥

२६. आलीढः ।

आलीढेति ।

आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।
ऊर्ध्वाधो विप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत्" ॥ (ना. शा. ४-१०९)

उस विक्षिप्त करण को भी बारी-बारी दो बार प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकार उपसंहार करते हुए कहते हैं कि उन दोनों के प्रयोग के अनन्तर 'सूची' करण का प्रयोग करे। इसलिए अङ्ग के पर्याय से योग के आक्षेप की उपलब्धि होने से उनके अनुसन्धान के लिए 'उद्वृत्त' करण होता है। त्रिक के परिवर्तन से बद्धा चारी के द्वारा 'नितम्ब' करण का प्रयोग करे, उसके बाद 'अञ्चितः पृष्ठतः पादः' इस लक्षण से लक्षित 'लतावृश्चिक' ४४वें करण का प्रयोग करना चाहिए। अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग करे। इस प्रकार नौ करणों के योग से 'उद्वृत्तक' अङ्गहार निष्पन्न होता ॥ २३०-२३१ ॥

२६—आलीढ़

अनुवाद—जहाँ पर आलीढ़ स्थानक और व्यंसित करण का प्रयोग करके हाथों को कन्धे पर निकुट्टित किया जाता है और बाँया पैर 'नूपुर' करण तथा दाहिने पैर को 'अलातक' करण की प्रक्रिया में रखा जाता है। फिर उसी हाथ से 'आक्षिप्तक' करण का प्रयोग किया जाय। फिर दोनों हाथों को उरोमण्डल चेष्टा में रखा जाय। अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो है, उसे 'आलीढ़' अङ्गहार कहते हैं ॥ २३३-२३३ ॥

---

१. क-त. नूपुरं चरणं ।
२. ख. कटिच्छेदं त्वालीढ़ं ।

२७—अथ रेचितः

[1]हस्तं तु रेचितं कृत्वा पार्श्वमानम्य रेचयेत् ।
पुनस्तेनैव योगेन [2]गात्रमानम्य रेचयेत् ॥ २३४ ॥
[3]कार्यं नूपुरपादं च भुजङ्गत्रासितं तथा ।
रेचितं करणं कार्यमुरोमण्डलमेव च ।
[4]कटिच्छिन्नं तु कर्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते ॥ २३५ ॥

इति व्यंसितं दर्शयति। बाहुशीर्ष इति निकुट्टकं नवमं करणम्। "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" (ना. शा. ४-७०) निकुट्टितकरणम्। ततः वामतो नूपुरं, "त्रिकं सुवलितमित्यादि" (ना. शा. ४।९७) दक्षिणतश्च "अलातं चरणं कृत्वा व्यंसये" दित्यलातकम् (ना. शा. ४-७८)। तेनैवेति दक्षिणेन। "आक्षिप्तं हस्तपादं च" त्याक्षिप्तम् (ना. शा. ४-११६)। उरोमण्डलकादिकरणत्रयं पूर्ववत् ॥ २३२-२३३ ॥

अभिनव—आलीढ़ इत्यादि। इस अङ्गहार में सर्वप्रथम आलीढ़ स्थानक के साथ 'व्यंसित' करण का प्रयोग होता है। जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर आलीढ़ स्थानक का प्रयोग होता है और दोनों हाथ रेचित होकर वक्षःस्थल पर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं, वहाँ 'व्यंसित' करण होता है।"
(ना० शा० ४।१०९)

इस प्रकार व्यंसित करण को दिखाया गया है। 'बाहुशीर्षे निकुट्टयेत्' अर्थात् कन्धे पर निकुट्टन करे, इस कथन से 'निकुट्टक' करण को सूचित किया गया है जिसका लक्षण है कि "जहाँ पर दोनों हाथों को बाहु और शिर के मध्य में निकुट्टित किया जाता है और इसी प्रकार पैरों को भी निकुट्टित किया जाय तो 'निकुट्टक' करण होता है।" (ना. शा. ४।७०) इसके बाद बांये पैर से नूपुर करण (ना० शा० ४।७०) और दाहिने पैर से 'अलातक' करण (ना० शा० ४।७९) का प्रयोग किया जाता है। फिर 'आक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद उरोमण्डलक करिहस्त और कटिच्छिन्न इन तीन करणों को पूर्व के अङ्गहारों में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार आठ करणों के योग से 'आलीढ़' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २३२-२३३ ॥

---

१. क-ज. हस्तौ तु रेचितौ कृत्वा। २. ख. गात्रमुन्नभ्य।
३. 'क' पुस्तकेऽयं श्लोकार्द्धः नास्ति।
४. ख. कटिच्छेदस्तु कर्त्तव्यो ह्यङ्गहारे तु रेचिते। ग. कटिच्छिन्नं तु कर्त्तव्यङ्गहारे च रेचयेत्। घ. कटिच्छेदं तु कर्त्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते।

२७. रेचितः ।

हस्तं तु रेचितमिति । अनेन श्लोकेन सर्वाणि हस्तरेचनवन्ति करणानि सङ्गृह्णीते । तथा चोपसंहरिष्यति रेचितं करणमिति । जातावेकवचनेन हि किञ्चित्प्रतिपद्यते । रेचितं नाम करणमस्ति यदनेनोच्यते । कार्यमित्यनेन तावतां करणानां श्लिष्टाङ्गतया स्वबुध्या स्वकार्यवद्धि चित्रमेव योजनं कार्यमिति सूचयति । अत एवायं विचित्रभेदसङ्कीर्णोऽङ्गहारः । तथा चान्यत्र श्रूयते ।

"पञ्चविंशतिविचित्र (मातृका) प्रक्रमेण विविधं व्यरीरिचत् ।
रेचिताङ्गहरणं महेश्वरा [1]गेयमार्गमिव सप्तभिः स्वरैः ॥" इति ।

"स्वस्तिकौ रेचिताविद्धौ विश्लिष्टौ कटिसंश्रितौ ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः स्वस्तिकरेचितम्" ॥

(ना. शा. ४-६८)

इति स्वस्तिकरेचितम् ।

२७—रेचित

अनुवाद—जहाँ पर हाथ को रेचित करके पार्श्व (बगल) झुकाकर रेचित किया जाता है, फिर उसी प्रक्रिया से शरीर को झुकाकर रेचित करे। फिर रेचित करण का प्रयोग कर उरोमण्डल करण का संयोजन करे। फिर अन्त में कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाय तो वहाँ 'रेचित' अङ्गहार होता है ॥ २३४-२३५ ॥

अभिनव—'हाथ को रेचित करके' अर्थात् इस अङ्गहार में हाथों को रेचित किया जाता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि इस श्लोक से रेचन क्रिया से युक्त हाथों वाले अर्थात् रेचित हाथों वाले सभी करणों का संग्रह किया गया है, जैसा कि उपसंहार में 'रेचितं करणं' के द्वारा कहा जायगा। यहाँ पर 'रेचितं' में जाति में एकवचन है, जिससे कुछ जानने का संकेत है। 'रेचित नामक करण है जहाँ' यह इसके द्वारा कहा जाता है। 'कार्यं' पद से यह सूचित होता है कि सभी करणों को अङ्गों सहित एक साथ अपनी बुद्धि से विचित्र हो संयोजन करना चाहिए। इसीलिए यह अङ्गहार विचित्र भेदों से सङ्कीर्ण है और जैसा कि अन्यत्र सुनाई देता है—

"महेश्वर ने रेचित अङ्गहार को पचीस विचित्र मातृकाओं को प्रक्रिया से विविध प्रकार का बनाया है, जैसे गेय (गीति) के मार्ग को संगीताचार्यों ने सात स्वरों से विविध प्रकार का बनाया है।"

---

१. क-म. योगमार्गमिति ।

"अपविद्धकरः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ।
सन्नतं यत्र पार्श्वं च तद्भवेदर्धरेचितम्" ॥ (ना. शा. ४-७३)

इत्यर्धरचितम् "स्वस्तिकौ चरणौ यत्र" इति वक्षःस्वस्तिकम्, ततो "अञ्चितेन तु पादेन" इत्युन्मत्तश्चेति द्वादशादीनि त्रीणि, "हस्तो हृदि भवेद्वामः इति (ना. शा. ४-८०) आक्षिप्तरेचितम् । "स्खलितापसृतः पादः" इत्यर्धमत्तल्लि (ना. शा. ४-८९) । ततो "रेचितो दक्षिणो हस्तः" इति रेचकनिकुट्टकं च (ना. शा. ४-९०) ।

"भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ" इत्यादित्रयं भुजङ्गत्रस्तरेचितं (ना. शा. ४-९६) नूपुरं (ना. शा. ४-९७), वैशाखरेचितं च । (ना. शा. ४-९८) ।

इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'स्वस्तिकरेचित' करण का प्रयोग किया गया है जिसमें रेचित और आविद्ध क्रिया से युक्त वक्षःस्थल पर स्थित दोनों हाथ स्वस्तिक स्थिति में कटिप्रदेश पर स्थित होते हैं । (ना० शा० ४।६८) । इसके बाद 'अर्ध-रेचित' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें सूचीमुख हस्त अपविद्ध होता है और पैर निकुट्टित किया जाता है तथा पार्श्व नत रहता है । (ना० शा० ४।७३) ।

इस प्रकार यहाँ पर अर्धरेचित, वक्षःस्वस्तिक और उन्मत्त आदि बारहवें करण से लेकर तीन करण अर्थात् बारहवें, तेरहवें और चौदहवें करणों के प्रयोग का निर्देश है । इसके बाद आक्षिप्त करण के प्रयोग का निर्देश है जिसमें बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर और दाहिना हाथ रेचित तथा आक्षिप्त मुद्रा में आक्षिप्त किया जाता है (ना.शा.४।८०) । फिर 'अर्धमत्तल्लि' करण का प्रयोग होता है जिसमें दोनों पैर स्खलित स्थिति से अपसृत किये जाते हैं और बायाँ हाथ रेचित स्थिति में रहता है तथा दाहिना हाथ कटि प्रदेश पर स्थित रहता है । (ना० शा० ४।८९) । फिर रेचकनिकुट्टक (रेचितनिकुट्टित) करण का प्रयोग होता है जिसमें दाहिना हाथ रेचित स्थिति में और दाहिना पैर निकुट्टित चेष्टा में तथा बायाँ हाथ 'दोला' मुद्रा में स्थित रहता है । (ना० शा० ४।९०) ।

इसके बाद भुजङ्गत्रस्तरेचित से लेकर तीन करणों अर्थात् भुजङ्गत्रस्तरेचित, नूपुर और वैशाखरेचित करणों का प्रयोग किया जाता है । भुजङ्गत्रस्तरेचित में दोनों पैर भुजङ्गत्रासित चारी में स्थित होते हैं और वाम पार्श्व में स्थित दोनों हाथ रेचित चेष्टा में न्यस्त होते हैं (ना० शा० ४।९६) । 'नूपुर' करण में त्रिक को अच्छी तरह वलित करके दोनों हाथों को 'लता' और 'रेचित' प्रक्रिया में रखा जाता है और पैर नूपुर चारी में स्थित होता है (ना० शा० ४।९७) । वैशाखरेचित करण में हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा रेचित चेष्टा में स्थित होते हैं (ना० शा० ४।९८) ।

"भुजङ्गत्रासितः पादौ रेचितो दक्षिणः करः" (ना. शा. ४-१०१) इत्यादि-करणद्वयं भुजङ्गाञ्चितकं दण्डरेचितकं च (ना. शा. ४-१०२)। "वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकौ च करावुभौ" इत्यादि (ना. शा. ४।१०७) वृश्चिकरेचितम्।

"आलीढस्थानकं यत्र" इत्यादि (ना. शा. ४-१०९) व्यंसितम्। "आक्षिप्तं हस्तपादे" त्यादिद्वयम्। विवृत्तं (ना. शा. ४-१२२) विनिवृत्तं च (ना. शा. ४-१२३)।

"आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तितम्" (ना. शा. ४-१२८) इति विवर्तितकम्। "पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ" इत्यादि (ना. शा. ४-१३१) गरुडप्लुतकम्।

तदनन्तर भुजङ्गाञ्चितक और दण्डरेचितक इन दो करणों का संयोजन किया जाता है। जहाँ पर पैर भुजङ्गत्रासित चारी में तथा दाहिना हाथ रेचित एवं बायाँ हाथ लता चेष्टा में रहता है वहाँ 'भुजङ्गाञ्चित' नामक करण कहा जाता है। (ना०शा० ४।१०१) तथा जहाँ पर हाथ और पैर दण्ड के समान विक्षिप्त किये जाते हैं अर्थात् ऊपर फेंके जाते हैं वहाँ 'दण्डरेचितक' करण होता है (ना० शा० ४।१०२)।

इसके बाद 'पैर को वृश्चिक चेष्टा में रखकर स्वस्तिक मुद्रा में दोनों हाथों को रेचित और विप्रकीर्ण किया जाता है। (ना० शा० ४।१०७) इस लक्षण से युक्त वृश्चिकरेचित करण का प्रयोग किया जाता है।

इसके बाद "जहाँ पर आलीढ़ स्थानक होता है और दोनों हाथ वक्षःस्थल पर रेचित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं वहाँ 'व्यंसित' करण होता है" (ना०शा० ४।१०९) इस लक्षण से लक्षित 'व्यंसित' करण का संयोजन किया जाता है। इसके बाद 'विवृत' करण का प्रयोग होता है जिसमें हाथ और पैर को आक्षिप्त किया जाता है तथा त्रिक को विर्वत्तित किया जाता है और दोनों हाथों को रेचित चेष्टा में रखते हैं (ना० शा० ४।१२२)। फिर 'विनिवृत्त' करण का संयोजन होता है जिसमें सूचीविद्ध चारी के प्रयोग के साथ त्रिक को विनिर्वत्तित करते हैं, और हाथों को रेचित प्रक्रिया में रखते हैं (ना० शा० ४।१२३)।

इसके पश्चात् 'विर्वत्तिक' करण का विनियोग किया जाता है जिसमें हाथ और पैर आक्षिप्त होते हैं और त्रिक विर्वत्तित होता है तथा दूसरा हाथ रेचित चेष्टा में रहता है (ना० शा० ४।११८)। फिर 'गरुड़प्लुतक' करण का प्रयोग होता है जिसमें पैर पीछे की ओर प्रसारित होता है और दोनों हाथ लता और रेचित चेष्टा में रहते हैं तथा शिर समुन्नत होता है (ना० शा० ४।१३१)।

"वृश्चिकं चरणं कृत्वा रेचितौ च तथा करौ" (ना. शा ५-१४१) इति मयूरललितम्। सर्पितकं च (ना. शा. ४-१४२)। "दोलापादक्रमं कृत्वाः" (ना. शा. ४-१४७) इत्यादि स्खलितम्। "एकस्तु रेचित" इति (ना. शा. ४-१४६) प्रसर्पितकम्। दोलापादक्रम" मिति (ना. शा. ४-१५४) तलसङ्घट्टितम्। "प्रयुज्यालातक" मित्यादिद्वयं वृषभक्रीडितकं (ना. शा. ४-१६५) लोलितं च (ना. शा. ४-१६६)।

एवं करणपञ्चविंशतिवैचित्र्येण प्रयोज्याः। चतुष्षडादिक्रमेण पुनरुक्ततया चतुर्दिङ्मुखेषु यावत्समाप्ता भवति। यत उक्तम्—

"द्वाभ्यां त्रिचतुराभिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः" इति (ना. शा. ४-३१)

इसके बाद 'मयूरललित' करण का प्रयोग होता है जिसमें पैर वृश्चिक चेष्टा में और हाथ रेचित प्रक्रिया में स्थित होते हैं तथा त्रिक विवर्त्तित होता है (ना० शा० १।१४१) फिर 'सर्पित' करण में पैरों को अञ्चित स्थिति से अपसृत स्थिति में किया जाता है, शिर परिवाहित चेष्टा में रहता है और दोनों हाथ रेचित प्रक्रिया में स्थित होते हैं (ना० शा० १।१४२)। फिर 'स्खलित' करण का प्रयोग होता है जिसमें दोलापादचारी का प्रयोग करके तदनुसार दोनों हाथों को रेचित और घूर्णित किया जाता है (ना० शा० ४।१४७)। फिर 'प्रसर्पितक' करण में एक हाथ रेचित प्रक्रिया में और दूसरा हाथ 'लता' मुद्रा में रखा जाता है और पादतल प्रसर्पित होते हैं अर्थात् घिसते हुए संचरण करते हैं (ना. शा. ४।१४९)

इसके बाद 'तलसंघट्टित' करण का विनियोग किया जाता है। इस करण में दोलापाद चारी के प्रयोग के साथ दोनों हाथों के तल संघट्टित होते हैं और बायाँ हाथ रेचित प्रक्रिया में रहता है (ना. शा. ४।१५४)। तदनन्तर 'वृषभक्रीडितक' करण का प्रयोग होता है जिसमें अलातक चारी के प्रयोग के साथ हाथों को रेचित किया जाता है और दोनों पैर कुञ्चित और अञ्चित चेष्टा में रहते हैं (ना. शा. ४।१६५)। फिर 'लोलित' करण का प्रयोग होता है। इस करण में दोनों अञ्चित हाथों को 'रेचित' प्रक्रिया में रखा जाता है और लोलित शिर को दोनों पार्श्वों में घुमाया जाता है। (ना. शा. ४।१६६)।

इस प्रकार पचीस करणों का प्रयोग विचित्र रूप में करना चाहिए। चार, छः आदि के क्रम से बार-बार करने पर पुनरुक्ति होने पर भी चारों दिशाओं में इस अङ्गहार की समाप्ति होती है। जैसा कि कहा गया है—

'दो, तीन अथवा चार मातृकाओं से यह अङ्गहार निष्पन्न होता है।' (ना. शा. ४।३१)।

२८—अथाच्छुरितः

नूपुरं [1]चरणं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
[2]व्यंसितेन तु हस्तेन त्रिकमेव विवर्तयेत्[3] ।। २३६ ।।
[4]वामं चालातकं कृत्वा [5]सूचीमत्रैव योजयेत्
[6]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कुर्यादाच्छुरिते सदा ।।। २३७ ।।

"पुनस्तेनैव योगेन गात्रमानम्ये" त्यनेन मध्ये वैचित्र्याच्चक्रमण्डलेन (ना, शा. ४-११४) व्यवहितेयं करणपरम्परा प्रयोज्येत्याह—

"प्रलम्बिताभ्यां बाहुभ्यां यद्गात्रेण नतेन च ।
अभ्यन्तरापविद्धं स्यात्तज्ज्ञेयं चक्रमण्डलम् ।।" (ना. शा. ४-११४)

आनम्येत्यादिरन्तर्भावितण्यर्थः । प्रयोग एवं प्रयोज्यः । प्राग्वदुरोमण्डलं कटिच्छिन्नं च ॥ २३४-२३५ ॥

'फिर उसी योग से शरीर झुका कर' इस कथन से यह निर्देश किया गया है कि बीच-बीचमें विचित्रता के लिए एक करण के प्रयोग के बाद 'चक्रमण्डल' नामक करण के प्रयोग द्वारा करण-प्रयोग में व्यवधान करना चाहिए। चक्रमण्डल करण का लक्षण है—

"जहाँ पर प्रलम्बित (लटकते हुए) बाहुओं तथा आनत (झुके हुए) शरीर के द्वारा अपबिद्ध चारी का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर 'चक्रमण्डल' नामक करण होता है। (ना. शा. ३।११४)।

यहाँ 'आनम्य' में 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भावित है अर्थात् शरीर को झुकाकर 'आनम्य' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार इस अङ्गहार का प्रयोग करना चाहिए। फिर अन्त में 'उरोमण्डल' और 'कटिच्छिन्न' नामक करणों का प्रयोग द्वितीय अङ्गहार में प्रतिपादित विधि के अनुसार पहिले के समान करना चाहिए ॥ २२३-२३५ ॥

---

१. ख. घ. नूपुर करणं कृत्वा ।
२. क-न. व्यसितेन ।
३. ख. त्रिकं चैव निवर्त्तयेत् । घ. त्रिकं चैव विवर्त्तयेत् । क-अ. त्रिकन्तु परिवर्त्तयेत् ।
४. ग. घ. पादं चालातकं ।
५. ख. घ. सूचीं तत्रैव योजयेत् । क-न. त. सूचीं तेनैव योजयेत् ।
क-म. सूची तत्रैव योजयेत् ।
६. ख. करिहस्तं कटिच्छेदं कुर्यादाच्छुरितं तथा ।

२८. आच्छुरितः।

नूपुरमित्यादि। त्रिकन्तु परिमितं नूपुरं परिवर्तयेदित्यनेन भ्रमरकम्—

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा।
त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत्"॥
(ना. शा. ४-९९) इति।

व्यंसितेन त्विति व्यंसितम्—"आलीढं स्थानकं यत्रे"ति (ना. शा. ४-१०६)। ततोऽलातकम्—"अलातं चरणं कृत्वा" इति (ना. शा. ४-७८)। त्रिकमेवेत्येवकारेण नितम्बं "भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ" इति (ना. शा. ४-११६) सूचितम्। ततः करणद्वयं पूर्ववत्॥ २३६-२३७॥

२८—आच्छुरित

अनुवाद—जहाँ पर नूपुर चारी में पैर को रखकर त्रिक का परिवर्तन किया जाय और फिर 'व्यंसित' करण में स्थित हाथ से त्रिक का परिवर्तन किया जाय। फिर बायें पैर को अलातक चारी में रखकर यहीं पर 'सूची' करण का प्रयोग किया जाय। तदनन्तर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय, वहाँ 'आच्छुरित' नामक अङ्गहार होता है॥ १३६-२३७॥

अभिनव—इस अङ्गहार में नूपुर पादचारी के द्वारा नूपुर करण के प्रयोग की ओर संकेत है। त्रिक के परिवर्त्तन के द्वारा 'भ्रमरक' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है, जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर आक्षिप्त चारी में स्थित पैर को स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित स्थिति में रहते हैं तथा त्रिक का वलन होता है वहाँ 'भ्रमरक' करण होता है।" (ना. शा. ४।९९) 'व्यंसित' पद से अर्थात् हाथ को व्यंसित कर देने से 'व्यंसित' करण की ओर निर्देश है जिसमें आलीढ़ स्थानक में स्थित होकर वक्षःस्थल से हाथ को रेचित करके ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण किया जाता है। (ना. शा. ४।१०९)।

इसके बाद 'अलातक' पाद चारी का प्रयोग करके' वाक्य के द्वारा 'अलातक' करण के प्रयोग की ओर संकेत है, जिसमें अलात चारी का प्रयोग करके दाहिने हाथ को कन्धे से नीचे की ओर ले जाकर ऊर्ध्वजानु चारी के क्रम में रखा जाता है। (ना. शा. ४।७८)। यहाँ 'त्रिकमेव' से एवकार के निर्देश से 'नितम्ब' करण का प्रयोग सूचित होता है जिसका लक्षण है कि नितम्ब करण में दोनों भुजाएँ ऊपर की ओर उठी हुई होती है और हाथ अभिमुखाङ्गुलि होते है तथा इसमें बद्धा चारी का प्रयोग होता है (ना. शा. ४।१४६)। इसके बाद करिहस्त और कटिच्छिन्न दोनों करण पूर्व में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त होते हैं॥ २३६-२३७)

२६—अथाक्षिप्तरेचितः

[1]रेचितौ स्वस्तिकौ पादौ रेचितौ[2] स्वस्तिकौ करौ ।
कृत्वा विश्लेषमेवं तु तेनैव विधिना पुनः ।। २३८ ।।
पुनरुत्क्षेपणं चैव [3]रेचितैरेव कारयेत् ।
[4]उद्वृत्ताक्षिप्तके चैव ह्युरोमण्डलमेव च ।। २३९ ।।
नितम्बं करिहस्तं च [5]कटिच्छिन्नं तथैव च ।
[6]आक्षिप्तरेचितो ह्येष करणानां विधिः स्मृतः ।। २४० ।।

---

२६. आक्षिप्तरेचितः ।

रेचितौ स्वस्तिकावित्यादि । यत्र यत्र करणे करयोः पादयोर्वा रेचितस्वस्तिकसाहित्यं तत्तदिहाप्यनुजानाति पृथगभिधानेन । रेचितं स्वस्तिकं ह्येतेनैव ह्येतानि करणानि । स्वस्तिकरेचितं "स्वस्तिकौ रेचिताबिद्धौ" (ना. शा. ४।६७) इति । पृष्ठस्वस्तिकं दिक्स्वस्तिकं च "विक्षिप्ताक्षिप्तबाहुभ्याम्" इत्यादि (ना. शा. ४-७७) "पार्श्वयोरग्रतश्चैव" इत्यादि (ना. शा. ४-७८) च कटीसमं "स्वस्तिकापसृतः पादः" इत्यादि (ना. शा. ४-८०) ।

२६—आक्षिप्तरेचित

अनुवाद—जहाँ पर स्वस्तिक हाथ एवं पैरों को रेचित किया जाय और फिर उसी विधि से उनका विश्लेष (अलग) करके फिर उसी रेचित प्रक्रिया से उनका उत्क्षेपण किया जाता है, फिर उद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, नितम्ब करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'आक्षिप्तरेचित' अङ्गहार माना जाता है ।। २३८-२४० ।।

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार इस अङ्गहार में जहाँ-जहाँ जिस-जिस करणों में हाथ और पैरों को स्वस्तिक प्रक्रिया से रेचित चेष्टा में न्यस्त किया जाता है वहीं उनका पृथक् प्रयोग भी निर्दिष्ट है। यहाँ 'रेचित' और 'स्वस्तिक' शब्दों से स्वस्तिक और रेचित होने वाले सभी करणों का प्रयोग ग्रहण किया जाता है। इस

---

१. ग. रेचितस्वस्तिकौ पादौ ।

२. घ. रेचितस्वस्तिकौ करौ ।

३. क-न. रेचितेनैव ।

४. ख. घ. उद्वृत्ताक्षिप्तकं चैव उरोमण्डलमेव च । क-त. उत्क्षिप्ताक्षिप्तके चैव । क-म. उद्रिक्ताक्षिप्तकञ्चैव ।

५. ख. कटिच्छेदं ।

६. ख. आक्षिप्तरेचकेष्वेषः । घ. आक्षिप्तरेचिते त्वेष ।

घूर्णितम्—

"वर्तिताघूर्णितः सव्यो हस्तो वामश्च दोलितः।

स्वस्तिकापसृतः पादः करणं घूर्णितं तु तत् ॥" (ना. शा. ४-९३)इति ।

भ्रमरकम्—"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पाद" इति (ना. शा ४-९९) ।
वृश्चिकरेचितम्—"वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकं च" इति (ना. शा. ४-१०७) ।
पार्श्वनिकुट्टकम्—"हस्तौ तु स्वस्तिकौ पार्श्वे" इति (ना. शा. ४-११०) ।

प्रकार अभिनव के अनुसार जिन-जिन करणों में हाथ और पैर स्वस्तिक प्रक्रिया के साथ रेचित किये जाते हैं उन सबका प्रयोग यहाँ पर अपेक्षित है। तदनुसार सर्वप्रथम स्वस्तिक प्रक्रिया के रेचन से होने वाले 'स्वस्तिकरेचित' करण का प्रयोग किया जाता है। जिसका लक्षण है कि 'जहाँ पर रेचित और आबिद्ध मुद्रा वाले दोनों हाथों को स्वस्तिक स्थिति में अलग-अलग कटि-प्रदेश में न्यस्त किया जाता है वहाँ 'स्वस्तिकरेचित' करण होता है (ना० शा० ४।६८)। फिर इसके बाद पृष्ठस्वस्तिक और दिक्स्वस्तिक करणों का प्रयोग किया जाता है। पृष्ठस्वस्तिक करण में विक्षेपण और आक्षेपण के साथ दोनों हाथ स्वस्तिक स्थिति में और दोनों पैर अपक्रान्त और अर्धसूची चारी के साथ स्वस्तिक प्रक्रिया में स्थित होते हैं (ना० शा० ४।७६) और 'दिक्स्वस्तिक' करण में पार्श्वों (बगल) में तथा आगे की ओर एक हाथ श्लिष्ट होता है और हाथ एवं पैरों द्वारा स्वस्तिक की रचना की जाती है। (ना० शा० ४।७७)। फिर 'कटीसम' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें पैर को स्वस्तिक क्रिया के बाद अपसृत किया जाता है और दोनों हाथ कटि और नाभि पर स्थित होते हैं तथा पार्श्व उद्धट्टित चेष्टा में स्थित रहता है। (ना० शा० ४।८०)।

इसके बाद 'घूर्णित' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें दाहिना हाथ वर्त्तित होकर (मुड़कर) घूर्णित अर्थात् चक्कर काटता हुआ होता है और बायाँ हाथ दोला चेष्टा में झूलता रहता है तथा पैर स्वस्तिक स्थिति से अपसृत होता है।
(ना० शा० ४।९३)।

इसके बाद 'भ्रमरक' करण प्रयुक्त होता है जिसमें आक्षिप्त पैर को स्वस्तिक प्रक्रिया में और हाथ उद्वेष्टित स्थिति में होता है तथा त्रिक का वलन होता है (ना० शा० ४।९९)। फिर 'वृश्चिकरेचित' करण के प्रयोग में पैर को वृश्चिक चेष्टा में न्यस्त करके स्वस्तिक चेष्टा में स्थित दोनों हाथों को रेचित और विप्रकीर्ण किया जाता है। (ना० शा० ४।१०७)। इसके बाद 'पार्श्वनिकुट्टक' करण का प्रयोग होता है जिसमें हाथों को स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है और पैर पार्श्व में निकुट्टित होता है। (ना० शा० ४।११०)। फिर 'उरोमण्डल' करण का संयोजन किया जाता है जिसमें

उरोमण्डलकम्—"स्वस्तिकापसृतौ" इति (ना. शा. ४-११५)। सन्नतम्—"उत्प्लुत्य चरणौ कार्यावग्रतः स्वस्तिकौ स्थितौ" (ना. शा. ४-१३६) इति। सिंहाकर्षितकम् —"पृष्ठप्रसारित" इति (ना. शा. ४-१५१)। नागापसर्पितम्—"स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इति (ना. शा. ४-१६७)। वक्षःस्वस्तिकादौ तु रेचनं नास्तीति न सङ्गृहीतम्। परे त्वङ्गपरिवर्तनक्रमेण तत्रापि रेचितमिच्छन्तस्तदपि सङ्गृह्णते।

एवं हस्तपादस्वस्तिकञ्च (स्वस्तिकञ्च) सद्रेचितञ्च (सद्रेचितञ्च) वैचित्र्येण विधाय तेनैव विधिनेत्यत्रुटितेनाङ्गेनोत्क्षेपणं हस्तपादस्य कार्यम्। अनेन यत्र यत्रैतदस्ति तत्तत्करणं सूचयति। तद्यथा दण्डपक्षम्—"ऊर्ध्वजानुं विधायात तस्योपरि लतां न्यसेत्" इति (ना. शा. ४-९५)। ललाटतिलकं—"वृश्चिकं चरणं कृत्वा" इति (ना. शा. ४-१११)। तलविलसितम्—"ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पाद" इति (ना. शा. ४-११७)। निशुम्भितम्—

पैर स्वस्तिक मुद्रा से हटकर (अपसृत) अपविद्ध क्रम में स्थित होते हैं और हाथ उरोमण्ड्ल स्थिति में प्रयुक्त होते हैं। (ना० शा० ४।११५)। फिर 'सन्नत' करण के प्रयोग में थोड़ा उछल कर पैरों को स्वस्तिक स्थिति में लाया जाता है और दोनों हाथों को दोला स्थिति में सन्नत रखा जाता है (ना० शा० ४।१३६)। फिर 'सिंहाकर्षितक' करण का संयोजन किया जाता है जिसमें पैर पीछे की ओर प्रसारित किया जाता है और हाथ निकुञ्चित होते हैं और इसी प्रक्रिया को फिर दुहराया जाता है। (ना० शा० १५१)। फिर 'नागापसर्पित' नामक करण का संयोजन किया जाता है। इस करण में पैर स्वस्तिक चेष्टा से अपसृत होते हैं और शिर परिवाहित होता है तथा दोनों हाथ रेचित होते हैं। (ना० शा० ४।१६७)। इस क्रम में 'वक्षःस्वस्तिक' आदि का संग्रह नहीं किया गया है; क्योंकि उसमें रेचन क्रिया नहीं होती। किन्तु अन्य आचार्य तो परिवर्त्तन क्रम के द्वारा 'वक्षःस्वस्तिक' में भी रेचित प्रक्रिया को मानते हैं अतः उसका भी संग्रह करते हैं।

इस प्रकार हाथ और पैरों के द्वारा स्वस्तिक एवं रेचित करणों की प्रक्रिया को विचित्रता से करके उसी विधि से अत्रुटित अङ्ग से हाथ-पैरों का उत्क्षेपण करना चाहिए। इससे यह सूचित होता है कि जहाँ जहाँ जिन-जिन करणों में इस प्रकार हाथ-पैरों का उत्क्षेपण किया जाता है उन सबका यहाँ प्रयोग अपेक्षित है। तदनुसार यहाँ उत्क्षेपण क्रिया वाले सभी करणों का प्रयोग करना चाहिए। सर्वप्रथम 'दण्डपक्ष' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें ऊर्ध्वजानु चारी करके उसके ऊपर लताहस्तों को रखा जाता है (ना० शा० ४।९५)। फिर 'ललाटतिलक' करण का प्रयोग किया

"पृष्ठतः कुञ्चितः पादो वक्षश्चैवसमुन्नतम् ।
तिलके च करः स्थाप्यः ।" इति (ना. शा. ४-१२५)

विद्युद्भ्रान्तं "पृष्ठतो वलितं पादम्" इति (ना. शा. ४-१२६) । गजक्रीडितं "कर्णेऽञ्चितः करो वामः" इति (ना. शा. ४-१२९) । नितम्बं "भुजावूर्ध्व-विनिष्क्रान्ता" विति (ना. शा. ४-१४६) । विष्णुक्रान्तम्—"ऊर्ध्वं प्रसारितः पादः" इति (ना. शा. ४-१६१) । तत उद्वृत्तमित्यूरूद्वृत्तम् । (ना. शा. ४-१५९) । अत्र समाक्षिप्तकरणमध्ये तस्य दृष्टत्वात् [1]करमावृत्य तत्करण-मिति । "आक्षिप्तं हस्तपादं च" इत्याक्षिप्तम् (ना. शा. ४-११६) । "स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इत्युरोमण्डलम् (ना. शा. ४-११५) साहचकाराच्च (साहचर्याच्चकाराच्च) कटिच्छिन्नमप्यन्ते केचिदिच्छन्ति ॥ २३८-२४० ॥

जाता है । इस करण में पैर को वृश्चिक चेष्टा में रखकर उस पैर के अंगूठे से ललाट पर तिलक किया जाता है (ना० शा० ४।१११) । फिर 'तलविलसित' नामक करण का विनियोग किया जाता है जिसमें ऊर्ध्वाङ्गुलि एवं तलवाले पैर को बगल (पार्श्व) में ऊपर की ओर फैलाया जाता है, और हथेलियों को 'अञ्चित' चेष्टा में रखा जाता है । (ना० शा० ४।११७) । इसके बाद निशुम्भित करण का संयोजन होता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर पैर को पीछे की ओर कुञ्चित किया जाता है और वक्षःस्थल समुन्नत होता है तथा हाथ तिलक लगाने को मुद्रा में स्थित होता है वहाँ 'निशुम्भित' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१२५) ।

इसके बाद 'विद्युद्भ्रान्त' नामक करण का संयोजन होता है । इस करण में पीछे की ओर मुड़ा हुआ पैर शिर का स्पर्श करता हुआ प्रसारित किया जाता है और हाथ चारों ओर मण्डल तथा आविद्ध चेष्टाओं में संचालित होता है । (ना० शा० ४।१२६) । फिर 'गजक्रीडित' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें बायाँ हाथ कान के पास अञ्चित (मुड़ा हुआ) होता है और दाहिना हाथ 'लता' प्रक्रिया से युक्त होता है तथा पैर दोलापाद चारी में स्थित रहता है (ना० शा० ४।१२९) फिर 'नितम्ब' करण का प्रयोग होता है जिसमें भुजाएँ ऊपर की ओर उठी हुई और हाथ सामने की ओर झुकी हुई अंगुलियों वाला होता है तथा पैर बद्धाचारी में स्थित होता है (ना० शा० ४।१७६) । फिर 'विष्णुक्रान्त' चारी का प्रयोग होता है जिसमें गमनोन्मुख अर्थात् जाने के लिए उद्यत पैर सामने की ओर प्रसारित होता है और दोनों हाथ रेचित होते हैं अथवा पाठभेद के अनुसार कुञ्चित पैर गगनोन्मुख अर्थात् आकाश की ओर प्रसारित होता है और हाथ रेचित होते हैं (ना० शा० ४।४६१) ।

१. क-म. भ. करणमावृत्य ।

३०. अथ सम्भ्रान्तः

विक्षिप्तं[1]करणं कृत्वा [2]हस्तपादं मुखानुगम् ।
[3]वामसूचीसहकृतं विक्षिपेद्वामकं करम् ।। २४१ ।।
[4]वक्षःस्थाने भवेत्सव्यो वलितं त्रिकमेव च ।
नूपुराक्षिप्तके चैव [5]ह्यर्धस्वस्तिकमेव च ।। २४२ ।।
नितम्बं करिहस्तं च ह्युरोमण्डलकं तथा ।
[6]कटिच्छिन्नं च कर्तव्यं सम्भ्रान्ते नृत्तयोक्तृभिः ।। २४३ ।।

इसके बाद उद्वृत्त अर्थात् उरुद्वृत्त करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें हाथ को आवृत्त करके ऊरु (जङ्घा) के पृष्ठभाग पर अञ्चित स्थिति में रखा जाता है और जङ्घाएँ अञ्चित एवं उद्वृत्त होती हैं । यहाँ समाक्षिप्त करणों के मध्य में इसे भी देखा गया है अतः हाथ को आवृत्त करके इस करण का प्रयोग होता है । आक्षिप्त करण का लक्षण है कि 'जहाँ पर हाथ और पैरों को वेग से 'आक्षिप्त' किया जाता है वहाँ 'आक्षिप्त' करण होता है (ना० शा० ४।११६) इसके बाद 'उरोमण्डल' करण का प्रयोग होता है जिसमें पैर स्वस्तिक प्रक्रिया से हटकर अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और हाथ उरोमण्डल चेष्टा में होते हैं (ना. शा. ४।१२५) साहचार्य से कुछ विद्वान् यहाँ पर अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग भी मानते हैं। २३८-२४० ।।

३०—सम्भ्रान्त

अनुवाद—'सम्भ्रान्त' नामक अङ्गहार में विक्षिप्त करण का प्रयोग करके हाथ और पैर को मुख के अनुसार संचालित किया जाता है । फिर बायें हाथ को सूची प्रक्रिया से युक्त विक्षिप्त किया जाता है अर्थात् फेंका जाता है । इसमें दाहिना हाथ वक्षःस्थल पर रखा जाता है और त्रिक को वलित किया जाता है । इसके बाद क्रमशः नूपुर, आक्षिप्त, अर्धस्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है ।। २४१-२४३ ।।

---

१. ग. विक्षिप्तकरणं ।
२. ख. ग. हस्तपादमुखानुगम् । क-म. वामपादमुखानुगं ।
क-न. वामहस्तमुखानुगम् ।
३. ख. घ. वामसूची करं कृत्वा । क-ङ. वामसूचीसमं कृत्वा ।
४. ख. घ. वक्षःस्थं च भवेत् ।
५. ख. ब. स्यादुरोमण्डलं तथा । क-त. वा उरोमण्डलं तथा ।
६. ख. घ. कटिच्छेदश्च कर्त्तव्यः ।

३०. सम्भ्रान्तः ।

विक्षिप्तमित्यादि ।

'विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्'' ॥ (ना. शा. ४-११९)

इति विक्षिप्तम् । "हस्तपादं मुखानुगम्" इत्यञ्चितं गण्डसूचीं गङ्गावतरणं चेति दर्शयति—

"व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ।
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम्" ॥ (ना शा. ४-८४)

इत्यञ्चितम् ।

"सूचीपादो नतं पार्श्वमेको वक्षः स्थितः करः ।
द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे गण्डसूची तदुच्यते" ॥ (ना. शा. ४-१३२)

इति गण्डसूची ।

"ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादस्त्रिपताकावधोमुखौ ।
हस्तौ शिरः सन्नतं च गङ्गावतरणं त्विति" ॥ (ना. शा. ४-१६९)

इति गङ्गावतरणम् ।

अभिनव—यहाँ पर 'विक्षिप्त' पद से 'विक्षिप्त' करण का निर्देश है । 'जहाँ पर हाथ और पैर को पीछे तथा आगे की ओर एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंका जाता है वहाँ 'विक्षिप्त' करण कहलाता है ।' (ना० शा० ४।११९) ।

'हाथ और पैर को मुख के अनुसार संचालित किया जाता है' इस कथन से यह सूचित होता है कि इसमें क्रमशः अञ्चित, गण्डसूची और गङ्गावतरण नामक करणों का प्रयोग करना चाहिए ।

'जहाँ पर अर्धस्वस्तिक करों को क्रमशः व्यावर्तित एवं परिवर्तित करके नासिका के अग्रभाग पर अञ्चित किया जाता है वहाँ 'अञ्चित' नामक करण होता है (ना० शा० ४।८४) ।

"जहाँ पर पैर सूची चारी की स्थिति में होता है और पार्श्व नत (झुका हुआ) होता है (पाठभेद के अनुसार पार्श्व उन्नत होता है) तथा एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा अञ्चित स्थिति में कपोल पर स्थित होता है वहाँ 'गण्डसूची' करण होता है । (ना० शा० ४।१३२) ।

"जहाँ पर ऊपर उठी हुई अङ्गुलियों एवं तल वाले पैर स्थित होते हैं और हाथ त्रिपताक स्थिति में अधोमुख होते हैं और शिर सन्नत चेष्टा में होता है वहाँ 'गङ्गावतरण' नामक करण होता है ।'' (ना० शा० ४।१६९) ।

वामसूचीसहकृतमित्यनेनार्धसूचीं दण्डपादं च दर्शयति—

"अलपद्मः शिरोहस्तः सूचीपादश्च दक्षिणः।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः" ॥ (ना. शा. ४।१३८)

इत्यर्धसूची।

"नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत्।
क्षिप्राविद्धकरं चैव दण्डपादं तदुच्यते" ॥ (ना. शा. ४-१४३)

इति दण्डपादम्।

एतच्च वामेनाङ्गेन। सव्य इति दक्षिणे वक्षसि। वामस्योपयोगित्वात्। अनेन चतुरं करणं सूचयति—

"अञ्चितः स्यात्करो वामः सव्यश्चतुर एव च।
दक्षिणः कुट्टितः पादश्चतुरं तत्प्रकीर्तितम् ॥" इति
(ना. शा. ४-१००)।

वलितं त्रिकमिति भ्रमरकम्—

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा।
त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत् ॥"
(ना शा. ४-९९) इति भ्रमरकम्।

'वामसूचीसहकृत' पद से यहाँ अर्धसूची और दण्डपाद करणों को सूचित किया गया है। 'जहाँ पर हाथ अलपद्म मुद्रा में शिर पर स्थित होता है और दाहिना पैर सूची चारी में होता है वहाँ 'अर्धसूची' करण होता है।" (ना० शा० ४।१३८)।

"जहाँ पर पैर को नूपुर चारी में रखकर दण्डपाद चारी में प्रसारित किया जाता है और हाथ शीघ्रता से आविद्ध होता है उसे 'दण्डपाद' करण कहते हैं।" (ना० शा० ४।१४३)।

इनका प्रयोग बायें अङ्ग से करना चाहिए। सव्य अर्थात् दाहिने हाथ को वक्ष पर रखना चाहिए; क्योंकि बायें अङ्ग का उपयाग हो चुका है। इससे 'चतुर' करण को सूचित किया गया है। चतुर करण का लक्षण है—

"जहाँ पर बायाँ हाथ अञ्चित और दाहिना हाथ चतुर चेष्टा में स्थित होता है और दाहिना पैर कुट्टित होता है वहाँ 'चतुर' करण होता है।" (ना. शा. ४।१००)

'त्रिक को वलित करे' इस कथन से 'भ्रमरक' करण का प्रयोग सूचित होता है जिसमें पैर आक्षिप्त चारी से युक्त स्वस्तिक मुद्रा में स्थित होता है अथवा स्वस्तिक मुद्रा में पैर आक्षिप्त होता है और हाथ उद्वेष्टित होते हैं तथा त्रिक का वलन होता है। (ना० शा० ४।९९)।

३१. अथापसर्पितः

[1]अपक्रान्तक्रमं कृत्वा व्यंसितं हस्तमेव च ।
कुर्यादुद्वेष्टितं चैव ह्यर्धसूचीं[2] तथैव च ॥ २४४ ॥
विक्षिप्तं [3]सकटिच्छिन्नमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ।
[4]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपसर्पिते[5] ॥ २४५ ॥

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ।
नूपुरश्च तथा पादः करणे नूपुरे न्यसेत् ॥" (ना. शा. ४-९७)

इति नूपुरम् ।

"आक्षिप्तं हस्तपादं च क्रियते यत्र वेगतः ।
आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तद् द्विजोत्तमाः ॥ (ना. शा. ४-११६)

इत्याक्षिप्तम् ।

स्वस्तिकं चरणं कृत्वा कटिहस्तं च दक्षिणम् ।
वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत् ॥" (ना. शा. ४-८३)

इत्यर्धस्वस्तिकम् । नितम्बादिचतुष्कं पूर्ववत् ॥ २४१-२४३ ॥

इसके बाद 'नूपुर' करण का प्रयोग होता है। नूपुर करण में त्रिक को वलित करके हाथों को लता और रेचित चेष्टा में रखा जाता है और पैर नूपुर चारी में अवस्थित होता है (ना० शा० ४।९७)। इसके बाद आक्षिप्त करण का प्रयोग होता है, जिसमें हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद 'अर्धस्वस्तिक' करण का संयोजन किया जाता है।

"जहाँ पर दोनों पैरों को स्वस्तिक स्थिति में रखकर दाहिने हाथ को कटि पर तथा बायें हाथ को वक्षःस्थल पर रखा जाता है वहाँ 'अर्धस्वस्तिक' करण होता है।" (ना० शा० ४।८३)।

इसके बाद नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न इन चार करणों का पूर्व अङ्गहारों के लक्षण में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार प्रयोग करना चाहिये ॥ २४१-२४३ ॥

---

१. क-ब. अतिक्रान्तं क्रमं कृत्वा ।
२. ब. ग. ह्यर्ध सूची ।
३. ख. ग. सकटिच्छेदं ।
४. क-घ.म. करिहस्त। कटिच्छेद। कार्यस्त्वर्धनिकुट्टके ।
५. ख. कर्त्तव्यमुपसर्पिते ।

३१. अपसर्पितः ।

अपक्रान्तमित्यादि । अपकान्तं—

"कृत्वोरुवलितं पादमपक्रान्तक्रमं न्यसेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तावपक्रान्तं तदुच्यते" ॥ (ना. शा. ४-१४०)

व्यंसितम्—

"आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत् ॥ (ना. शा. ४-१०९) ।

अतो व्यंसितात्करणात्करक्रियामेव गृह्णीयादित्येवकारेणाह । एकवचनं जातौ । उद्वेष्टितमिति करिहस्तकरणं निर्दिशति—

"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ।
अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके" ॥
इति (ना. शा. ४-१४८) ।

३१—अपसर्पित

अनुवाद—जहाँ पर अपक्रान्त करण का प्रयोग करके हाथ से ही व्यंसित करण का प्रयोग किया जाता है फिर हाथ को उद्वेष्टित प्रप्रिया में संचालित कर अर्धसूची करण का प्रयोग करे, फिर विक्षिप्त, कटिच्छिन्न, उद्वृत्त, आक्षिप्त, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'अपसर्पित' नामक अङ्गहार होता है ॥ २२४-२४५ ॥

अभिनव—'अपक्रान्तम् इत्यादि के द्वारा 'अपसर्पित' अङ्गहार का निरूपण करते हैं। इस अङ्गहार में प्रथम 'अपक्रान्त' करण का प्रमोग होता है। अपक्रान्त करण का लक्षण निम्न प्रकार है—

"जहाँ पर जङ्घा को वलित करके पैर को अपक्रान्त चारी की प्रक्रिया में रखा जाय और प्रयोग के अनुसार हाथों को संचालित करे, वहाँ पर 'अपक्रान्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।१४०) ।

इसके बाद व्यंसित करण का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें आलीढ़ स्थानक का प्रयोग होता है और हाथ रेचित मुद्रा में वक्ष पर स्थित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं। (ना० शा० ४।१०९) । इसलिए यहाँ पर व्यंसित करण से करक्रिया (हस्तचेष्टा) को ही ग्रहण करना चाहिए, यह बात एव शब्द से कहा गया है। यहाँ पर 'हस्तमेव' में जाति में एकवचन का प्रयोग हुआ है। अनः यहाँ हस्त से दोनों हाथों का ग्रहण होता है। 'उद्वेष्टितम्' पद से यहाँ 'करिहस्त' करण का निर्देश है। जिसका लक्षण है—

३२. अथार्धनिकुट्टकः

कृत्वा नूपुरपादं च [1]द्रुतमाक्षिप्य च क्रमम् ।
पादस्य चानुगौ हस्तौ[2] त्रिकं च[3] परिवर्तयेत ॥ २४६ ॥

निकुट्य करपादं चाप्युरोमण्डलकं पुनः ।
[4]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कार्यमर्धनिकुट्टके ॥ २४७ ॥

"अलपद्मः शिरोदेशे सूचीपादः" (ना. शा. ४-१३८) इत्यर्धसूची । "विक्षिप्तं हस्तपादं च" (ना. शा. ४-११९) इति विक्षिप्तम् । "पर्यायशः कटीच्छिन्ना" (ना. शा. ४-७१) इति कटिच्छिन्नम् । उरूद्वृत्तिमिहोद्वृत्तशब्देनोक्तम् । (ना० शा० ४-१५९) । [5]प्राग्वदन्ते (त्रीणि) करणानि ॥ २४४-२४५ ॥

"जहाँ पर बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर स्थित होता है और दूसरे हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित स्थिति में होती है तथा पैर अञ्चित चेष्टा में होता है वहाँ 'करिहस्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।१४८)

इसके बाद 'अर्धसूची' करण का प्रयोग होता है जिसमें एक हाथ अलपद्म मुद्रा में शिर पर स्थित होता है और दाहिना हाथ सूची चारी में न्यस्त होता है। (ना० शा० ४।१३८)। फिर विक्षिप्त करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें हाथ और पैर पीछे और बगल में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए क्षिप्त होते हैं अर्थात् फेंके जाते हैं। (ना० शा० ४।११९) इसके बाद 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग होता है जिसमें क्रमशः कटि छिन्न मुद्रा में होती है और पल्लवहस्त कन्धे पर स्थित होता है। (ना० शा० ४।७२) फिर 'उरुद्वृत्त' करण का प्रयोग होता है जिसमें हाथ को व्यावर्त्तित करके उरु के पृष्ठ भाग पर अञ्चित मुद्रा में स्थापित किया जाता है और जङ्घाएँ अञ्चित एवं उद्वृत्त होती हैं (ना० शा० ४।१५९)। अन्त में आक्षिप्त, करिहस्त और कटिच्छिन्न तीन करण पहिले की तरह प्रयुक्त होते हैं। ॥ २४४-२४५ ॥

---

१. क-न. ब. दण्डमाक्षिप्य । क-अ. दण्डमाक्षिप्य च क्रमात् ।
२. ग. पादौ ।
३. ख. ग. घ. त्रिकं तु ।
४. ख. घ. करिहस्तः कटिच्छेदः कार्यस्त्वर्धनिकुट्टके ।
५. क-म. भ. प्राग्वदेतानि तानि करणानि ।

३२. अर्धनिकुट्टकः ।

कृत्वा नूपुरपादमित्यादि ।

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ।
नूपुरश्च तथा पादः करणे नुपूरे भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-९७)

इति नूपुरपादम् । द्रुतमाक्षिप्येत्यादिना विवृत्तं करणमाह—

"आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तितम् ।
रेचितौ च तथा हस्तौ विवृत्ते करणे द्विजाः ॥ इति
(ना. शा ४-१२२)

निकुटच्येत्यनेन करपादनिकुट्टितं यत्र तानि करणान्याह–निकुट्टितार्धनिकुट्टका-दीनि । उरोमण्डलकादित्रयं पूर्वाङ्गहारवत ॥ २४६-२ ७॥

ये येऽङ्गहारास्तेषां प्रतिकरणं गुरुपरिमाणं कलानिवर्तनकालस्तावता सम्यक्करणं वर्तनाक्रमेण शक्यम् । तत्र ये षड्द्वादशचतुर्विंशतिरित्यादि-करणात्मका एकेन द्वाभ्यां वाऽभ्यसितेन युक्तास्ते त्र्यश्रमानेन बोद्धव्याः ।

३२—अर्धनिकुट्टक

अनुवाद—'अर्धनिकुट्टक' अङ्गहार में पैर को नूपुर पादचारी में रखकर फिर शीघ्रता से हाथ-पैर को क्रमशः आक्षिप्त करके हाथों को पैर के अनुसार रखते हुए त्रिक का परिवर्त्तन करे, फिर हाथ-पैर को निकुट्टित कर उरोमण्डल करण का प्रयोग करे, अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करना चाहिए ॥ २४६-२४७ ॥

अभिनव—'कृत्वा नूपुरपादम्' इत्यादि के द्वारा अर्धनिकुट्टक अङ्गहार का निरूपण करते हैं। इस अङ्गहार में सर्वप्रथम नूपुर करण का प्रयोग होता है जिसमें त्रिक को वलित करके हाथों को लता और रेचित चेष्टाओं में रखा जाता है और पैर नूपुर पादचारी में अवस्थित होता है। (ना० शा० ४।९७)। फिर हाथ-पैर को आक्षिप्त कर विवृत्त करण का प्रयोग कहा जाता है जिसका लक्षण है—

"विकृतकरण में जहाँ पर हाथ और पैर को आक्षिप्त करके त्रिक को विवर्त्तित किया जाता है अर्थात् घुमाया जाता है और दोनों हाथों को रेचित प्रक्रिया में संचालित किया है।" (ना० शा० ४।१२२)।

'निकुट्य' (निकुट्टित करके) पद से जहाँ पर हाथ-पैर निकुट्टित किये जाते हैं उन सभी करणों को अर्धनिकुट्टक अङ्गहार में प्रयोग होता है। उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न इन तीन करणों का प्रयोग पूर्व में प्रतिपादित विधि के अनुसार करना चाहिए ॥ २४५-२४७ ॥

एकस्य द्वयोर्वा मध्ये तु प्रवेशयितुं तालकलाद्यभिसन्धानेन शक्यत्वात् । ते च षोडशात्र सन्ति । पूर्ववदेवाष्टषोडशादिकरणात्मका एकेन द्वाभ्यां वाऽभ्यसितेन किञ्चिदधिका वा ते चतुरश्रतालविषया द्रष्टव्याः । तेऽपि षोडशैव । एकस्य क्वचिदूनत्वेऽपि कस्यचित्पुनः क्रियया तालहरणं शक्यमिति मन्तव्यम् ।

तत्रापविद्ध उद्घट्टितो विष्कम्भस्तदपसृतः स्वस्तिकरेचितो वृश्चिकापसृतो मत्तस्खलितो गतिमण्डलः परिवृत्तकरेचितः परावृत्तकोऽलातक उद्वृत्तको रेचित आक्षिप्तरेचितः सम्भ्रान्तोऽर्धनिकुट्टकश्चेति त्र्यश्रतालकाः षोडश । एषां चतुरश्राश्रयास्तावन्तः । तत्र द्विभेदभिन्नेष्ववान्तरभेदेन षोडशसु पूर्वरङ्गाङ्गेषूत्थापनादिप्ररोचनान्तेषु बहिर्यवनिकागतेषु प्रयोगात् द्वात्रिंशद्रूपतेत्येवं केचित् ।

अभिनव—यहाँ पर जो जो अङ्गहार प्रतिपादित है उनमें प्रत्येक करण के गुरु परिमाण तथा कलाओं से उनके सम्पादन में जो काल (समय लगेगा, उतने परिमाण और समय से वर्त्तना क्रम के द्वारा अच्छी तरह सम्पादित किये जा सकते हैं । उनमें जो अङ्गहार छः, बारह और चौबीस करणों से निष्पन्न होने वाले हैं तथा जिनमें एक अथवा दो करणों का अभ्यास अर्थात् पुनरावृत्ति हुई है उन अभ्यसित करणों वाले अङ्गहार हैं, उन्हें त्र्यस्रताल मान के अनुसार समझना चाहिए । जिनमें ताल एवं कला आदि के अभिसन्धान से अर्थात् ताल एवं कला आदि के प्रमाणानुसार एक अथवा दो करणों का बीच में प्रवेश किया जा सकता है वे सोलह मात्रा तक के हो सकते है । पहिले के समान ही आठ और सोलह करणों से निष्पन्न होने वाले तथा एक अथवा दो करणों के पुनरावर्त्तन से युक्त अथवा उससे अधिक परिमाण वाले जो अङ्गहार है वे चतुरस्र ताल मान के अनुसार समझना चाहिए । वे भों सोलह हो हैं । यहाँ कहीं एक के न्यून (कम) होने पर किसी अन्य क्रिया से ताल एवं कलाओं का आहरण किया जा सकता है ।

उनके अपविद्ध, उद्घट्टित, विष्कम्भ, विष्कम्भापसृत, स्वस्तिकरेचित, वृश्चिकापसृत, मत्तस्खलित, गतिमण्डल, परिवृत्तरेचित, परावृत्तक, अलातक, उद्वृत्तक, रेचित, आक्षिप्तरेचित, सम्भ्रान्त और अर्धनिकुट्टक ये १६ अङ्गहार त्र्यस्र ताल वाले हैं । इसो प्रकार चतुरस्र ताल वाले १६ अङ्गहार होते हैं[1] । उनमें चतुरस्र और त्र्यस्र रूप दो भेदों से भिन्न अवान्तर भेद से सोलह विभागों में विभक्त पूर्वरङ्ग के बहिर्यवनिकागत उत्त्थापना आदि से प्ररोचना पर्यन्त पूर्वरङ्ग के अङ्गों का प्रयोग होने से बत्तीस प्रकार के रूपों को प्राप्त कर लेते हैं ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं ।

---

१. स्थिरहस्त, पर्यस्त, सूचीविद्ध, अपराजित, वैशाखरेचित, पार्श्वस्वस्तिक, भ्रमर, आक्षिप्तक, परिच्छिन्न, मदविलसित, आलीढ़, आच्छुरित, पार्श्वच्छेद, अपसर्पित, मत्तक्रीड़ और विद्युद्भ्रान्त ये सोलह अङ्गहार चतुरस्रताल मान वाले अङ्गहार हैं ।

द्वात्रिंशदेते [1]सम्प्रोक्ता ह्यङ्गहारा द्विजोत्तमाः ?
चतुरो रेचकांश्चापि[2] गदतो मे निबोधत ॥ २४८ ॥

एके त्वाहुः—चतसृणां नर्तकीनां प्रतियोगं चत्वार इति पुनः पिण्डीरेचकन्यासापन्यासश्चतुर्धेति द्वात्रिंशत्। एतच्च पूर्वरङ्ग (ना. शा. ५) व्याख्याने स्पष्टयिष्याम इत्यलम्।

अन्ये तु गीतकानामाङ्गनिबन्धानां वस्तुनिबन्धानां च वस्तु त्रिविधम्। वर्धमानकरणानि नव। गुणनिकया सप्तविंशति। चत्वारि आसारितानि। पाणिककप्रकारा। इत्येवंभूतं च यतो ब्रह्मगीतिवैचित्र्यं [3]द्वात्रिंशद्भासितं तस्मात्तत्प्रयोगानात्मनोऽङ्गहारेऽपि तावदेवेत्याहुः।

अन्ये तु [4]परमेश्वरभाषितत्वादियता सफलसम्पत्तिहेतुत्वमित्याहुः। एतन्मनसि कृत्वोपसंहरति—द्वात्रिंशदेत इति॥ २४६-२४७।

कुछ आचार्य तो कहते हैं कि चार नर्त्तकियों के प्रत्येक के प्रयोग से चार-चार अङ्गहार होते हैं इस प्रकार प्रत्येक नर्त्तकियों के चार-चार के योग से सोलह अङ्गहार हो जाते हैं, फिर पिण्डीबन्ध एवं रेचकों के न्यास एवं अपन्यास क्रिया से ये बत्तीस हो जाते हैं। पूर्वरङ्ग के व्याख्या के अवसर पर इसे स्पष्ट किया जायगा। अतः यहाँ रहने दिया जाय।

अन्य आचार्यों का तो कहना है कि अङ्गों और वस्तुओं से निबद्ध गीतों वस्तु तीन प्रकार के होते हैं—वर्धमानक आदि २७, आसारित ४ और पणिका एक। इस प्रकार ब्रह्मगीति की विचित्रता से बत्तीस प्रकार के होते हैं। इसलिए उनके प्रयोग रूप अङ्गहार के भी उतने भेद होते हैं।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि सकल सम्पत्ति के कारण परमेश्वर के द्वारा कथित होने से बत्तीस अङ्गहार होते हैं, यह मानना ठीक है। इसी बात को मन में रखकर उपसंहार करते है—'ये अङ्गहार बत्तीस होते हैं॥ २४६-२४७॥

अनुवाद - हे द्विजोत्तमों ! मैंने इन बत्तीस प्रकार के अङ्गहारों का वर्णन कर दिया है। अब मेरे द्वारा कहे गये चार प्रकार के रेचकों को सुनिये (समझिये ॥ २४८ ॥

---

१. ख. सम्प्रोक्तास्त्वङ्गहारा। क-न. गदितास्त्वङ्गहारा।

२. ख. घ. रेचकांश्चैव।

३. क-म. त्रिशद्धस्तं।

४. क. परमेश्वरभाषितत्वादि यथा।

अथ रेचकाः

पादरेचक एकः स्यात् द्वितीयः कटिरेचकः ।
[1]कररेचकस्तृतीयस्तु चतुर्थः कण्ठरेचकः ॥ २४९ ॥
[2]रेचिताख्यः पृथग्भावे वलने चाभिधीयते ।
उद्वाहनात्पृथग्भावाद्वलनाच्चापि[3] रेचकः ॥ २५० ॥
[4]पार्श्वात्पार्श्वे तु गमनं स्खलितैश्चलितैः पदैः ।
विविधैश्चैव पादस्य पादरेचक उच्यते ॥ २५१ ॥
त्रिकस्योद्वर्तनं चैव [5]कटीवलनमेव च ।
[6]तथाऽपसर्पणं चैव [7]कटिरेचक उच्यते ॥ २५२ ॥

अनुवाद—पहिला पादरेचक, दूसरा कटिरेचक, तीसरा कररेचक और चौथा कण्ठरेचक या ग्रीवारेचक होता है ॥ २४९ ॥

अनुवाद—अलग-अलग करके वलन क्रिया (गोल घुमाव) के अर्थ में 'रेचित' पद प्रयुक्त होता है और अङ्गों को ऊपर की ओर उठाकर अलग-अलग वलन (चक्राकार गति) होने से भी इसे 'रेचक' कहा जाता है ॥ २५० ॥

विमर्श—भरत ने 'रेचक' पद की व्याख्या करते हुए कहा कि रेचक एक अलग क्रिया है। इसमें अङ्गों का अलग-अलग वलन किया जाता है अर्थात् अङ्गों को चक्राकार गति से घुमाया जाता है अथवा उन-उन अङ्गों को ऊपर उठाकर अलग-अलग चक्राकार गति से घुमाया जाता है। करण और चारी से भिन्न होने के कारण इसका अलग से प्रतिपादन किया गया है ॥ २५० ॥

१—पादरेचक

अनुवाद—जहाँ पर अनेक प्रकार से प्रकम्पित (स्खलित) गति से संचालित पैरों को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में ले जाया जाता है उसे 'पादरेचक' कहा जाता है ॥ २५१ ॥

---

१. ख. कररेचस्तृतीयस्तु ।
२. इतः प्रभृति श्लोकपञ्चकं क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति ।
३. ख. वलनाच्चापि ।
४. क-न. पश्चात् पार्श्वे तु ।
५. ख. घ. कटी चलनमेव च ।
६. ग. तथापि सर्पणं ।
७. ख. ग. घ कटीरेचक उच्यते ।

[1]उद्वर्तनं परिक्षेपो विक्षेपः परिवर्तनम्[2] ।
विसर्पणं च हस्तस्य हस्तरेचक उच्यते ॥ २५३ ॥
उद्वाहनं सन्नमनं [3]तथा पार्श्वस्य सन्नतिः ।
भ्रमणं चापि विज्ञेयो ग्रीवाया रेचको बुधैः ॥ २५४ ॥

अथ रेचकानाह—पादरेचक इति । पादयोरेव चलनं न च पार्ष्णिभूतयोरन्तर्बहिश्च [4]सन्ततं नमनोन्नमनव्यंसितं [5]नमनमङ्गुष्ठाग्रस्य च । हस्तयोरेव चलनं हंसपक्षयोः पर्यायेण द्रुतभ्रमणम् । ग्रीवायावस्तु [6]रेचितत्वं विधुतभ्रान्तता । सर्वतो भ्रमणाच्चापि विज्ञेयं तु रेचिताङ्कक इत्यादिसङ्ग्रहोपादानात्पृथगेते वैशाखमण्डलादिस्थानकस्थेन प्रयोज्या इति दर्शयन् वैशाखरेचितेन करणेन सङ्गृहीतत्वमेषां दर्शयति । पृथग्दृष्टार्थताख्यापनार्थं चैषां करणाङ्गहारान्तर्भूतानामप्युपादानम् । सुकुमारगीतवाद्यप्रधाने च प्रयोग एषां प्रयोगः ॥२५१-२५४॥

२—कटिरेचक

अनुवाद—जहाँ पर त्रिक को ऊपर की ओर उठाया जाता है और कटि का वलन अर्थात् चक्राकार घुमाव किया जाता है और फिर पीछे की ओर अपसर्पण किया जाता है वह 'कटिरेचक' कहलाता है ॥ २५२ ॥

३—हस्तरेचक

अनुवाद—जहाँ पर हाथों का उठाया जाना, फेंका जाना, आगे फैलाया जाना, घुमाया जाना और अन्त में फिर खींच लिया जाना निर्दिष्ट होता है, उसे 'हस्तरेचक' कहते हैं ॥ २५३ ॥

४—कण्ठरेचक (ग्रीवा रेचक)

अनुवाद—जहाँ पर ग्रीवा को ऊपर उठाया जाता है, फिर नीचे झुकाया जाता है, फिर पार्श्व में झुकाया जाता है तथा घुमाया जाता है, उसे 'ग्रीवारेचक' या 'कण्ठरेचक' कहा जाता है ॥ २५४ ॥

---

१. ग. घ उद्वर्तनः ।
२. ख. घ विक्षेपपरिवर्तनम् ।
३. ग. तथा पार्श्वं च सन्नतिः । क-त. पार्श्वात् पार्श्वस्य सङ्गतिः । क-ट. पश्चात् पार्श्वं च सङ्गतिः ।
४. क-म. सन्ततं नमनोन्नमनहसितं ।
५. क. गमनअङ्गुष्ठाग्रस्य ।
६. क-म.भ. रेचितत्वं विज्ञेयं तु रेचिताङ्कक ।

[1]तुम्बुरुणेदमुक्तम्—

"अङ्गहाराभिधानात्तु करणै रेचकान्विदुः।" (इति)। इहाप्येतन्मुनेर्मतमिति लक्ष्यते। यत्सहशब्देन तत्र तत्र निर्दिशति "व्याख्यास्यामि सरेचकान्" (ना. शा. ४-१९) इति।

अभिनव—इसके बाद अब रेचकों को को कहते हैं—'पादरेचक' इत्यादि। पादरेचक में पैरों से ही चलन (गमन) होता है, एड़ियों से नहीं अर्थात् इसमें पैरों के द्वारा ही चलन क्रिया होती है। एड़ी आदि से चलन क्रिया नहीं होती। किन्तु एड़ियों भीतर बाहर निरन्तर नमन-उन्नमन होता है और अङ्गुष्ठाग्रभाग का भी नमन होता है। संगीतरत्नाकर में भी बताया गया है कि दोनों अंगूठे के अग्रभाग तथा एड़ियों के बाहर-भीतर निरन्तर नमन-उन्नमन (झुकने और उठने) की गति होने पर 'पादरेचक' करण होता है।

इसी प्रकार 'हस्तरेचक' में भी हाथों का ही चलन होता है अर्थात् हंसपक्ष मुद्रा में स्थित दोनो हाथों को क्रम से शीघ्रतापूर्वक चारों ओर घुमाया जाना **'हस्तरेचक'** कहलाता है। ग्रीवा (कण्ठ) का कम्पित करके इधर-उधर घुमाया जाना **'ग्रीवारेचक'** कहा जाता है (विधुतभ्रान्तता--विधुत अर्थात् कम्पित होना, भ्रान्त अर्थात् घूमना) कटि को चारों ओर घुमाने से **'कटिरेचक'** समझना चाहिए। ये रेचक अङ्गहार के अङ्ग फल को उत्पन्न करते हैं। अङ्गों के चारों ओर वलन (भ्रमण) होने के कारण इसे रेचक समझना चाहिए। इस प्रकार संख्या का उपादान होने के कारण इन रेचको का वैशाखमण्डल नामक स्थानक में खड़े होकर प्रयोग करना चाहिए, यह बताते हुए वैशाखरेचित नामक करण से इनका स'ग्रह दिखा दिया है। करण एवं अङ्गहारों के अन्तर्गत अङ्गरूप में इनका उपादान होने पर भी दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल बतलाने के लिए इनका अलग से उपादान किया गया है। सुकुमार गीत और वाद्य-प्रधान प्रयोग (नृत्य या अभिनय) इनका प्रयोग किया जाता है ॥ २४१-२५४ ॥ तुम्बुरु ने तो यह कहा है—

"करणों के द्वारा सम्पाद्य अङ्गहारों के अभिधान (कथन) से ही रेचकों को समझ लेना चाहिए।" यहाँ पर भी मुनि (भरतमुनि) का मत ज्ञात होता है। जो 'सह' शब्द से जगह-जगह पर निर्दिष्ट किया गया है–'व्याख्यास्यामि सरेचकान्' अर्थात् रेचकों की व्याख्या करूँगा।

---

१. क-म. भ. तुम्बुरु' तेनोक्तम्।

रेचकैरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शङ्करम् ।
सुकुमारप्रयोगेण [1]नृत्यतिस्म च पार्वती ॥ २५५ ॥

नन्वेवं करणाङ्गहाररेचकाः किं पूर्वरङ्गानेव (ङ्ग एव) वैचित्र्यकारित्वमात्रे (णै) वोपयुज्यन्ते । नेह प्रस्तुमः (नेति ब्रूमः) । कथं तर्हि । देवतापरितोषकत्वेनापि । तदपि च वैत्रियमात्रात् । यावतत्तद्देवताध्वज[2]प्रतिकृतिभूतपिण्डीबन्धनिष्पत्तिद्वारेणेत्याभिप्रायेण पिण्डीबन्धावतरणाय भरतमुनिः पुराकल्पमाह [3]श्लोकचतुष्टयेन—रेचकैरङ्गहारैश्चेत्यादिना ।

अब प्रश्न उठता है कि क्या ये करण, अङ्गहार और रेचक केवल पूर्वरङ्ग के अङ्गों में विचित्रता सम्पादन करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, उत्तर है कि नहीं। फिर प्रश्न होता है कि तो क्या देवताओं को प्रसन्न करने के लिए इनका प्रयोग होता है ? उत्तर, वह भी तो विचित्रता के कारण है। क्योंकि उन-उन देवताओं के ध्वज, प्रतिकृतिभूत पिण्डीबन्धों की निष्पत्ति के द्वारा ही इनकी विचित्रता होती है। इस अभिप्राय से पिण्डीबन्ध के अवतरण के लिए भरतमुनि चार श्लोकों से पुराकथा (इतिहास) को कहते हैं—रेचकैरङ्गहारैश्चेत्यादि ।

अनुवाद– रेचकों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य करते हुए भगवान् शङ्कर को देखकर पार्वती ने सुकुमार प्रयोगों से युक्त नृत्य किया ॥ २५५ ॥

विमर्श—काशी संस्करण में २५५ वें श्लोक में 'नृत्यन्ती चैव पार्वतीम्' के स्थान पर 'नृत्यतिस्म च पार्वती' पाठ मिलता है। काशी वाले संस्करण के पाठ के आधार पर इसका अन्वय ठीक बैठता है और अर्थ भी संगत होता है। किन्तु गायकवाड़, बड़ौदा संस्करण के पाठ के अनुसार इसका अर्थ होगा 'नृत्य करती हुई पार्वती को देखकर जिसका अर्थ संगत नहीं लगता। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में बड़ौदा वाले संस्करण के आधार पर 'नृत्यन्ती चैव पार्वतीं' पाठ को स्वीकार किया है। यदि चारों श्लोकों का क्रम बदल कर निम्न प्रकार रख दिया जाव तो अर्थसंगति में कोई वाधा नहीं होगी।

मृदङ्गभेरीपटहैर्भाण्डडिण्डिमगोमुखैः ।
पणवैर्दर्दुरश्चैव सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ॥
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः ।
नानाङ्गहारैः प्रानृत्यल्लवतालपतालवशानुगैः ॥
रेचकैरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शङ्करम् ।
सुकुमारप्रयोगेण नृत्यन्तीं कैव पार्वतीम् ॥
पिण्डीबन्धांस्ततो द्वष्ट्वा नन्दिभद्रमुखा गणाः ।
चक्रुस्ते नाम पिण्डीनां बन्धनासा सलक्षणम् ॥

१. क. नृत्यन्तीं चैव पार्वतीम् । ग. नृत्यन्ती चैव पार्वतीम् ।
२. क-म. भ. यावत्तद्देवताजप·····भूत । ३. क-म. भ. पुराकल्पमाद्यश्लोकचतुष्टयेन ।

मृदङ्गभेरीपटहैर्भाण्डडिण्डिमगोमुखैः[1] ।
[2]पणवैर्दर्दुरश्चैव सर्वातोद्यैः [3]प्रवादितैः ॥ २५६ ॥
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः ।
नानाङ्गहारैः [4]प्रानृत्यल्लयतालवशानुगैः[5] ॥ २५७ ॥

दक्ष के यज्ञ विध्वंस हो जाने पर सन्ध्या के समय प्रमथगाणों द्वारा मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, पडिण्डिम (तासा), गोमुख, पणव और दर्दुर आदि वाद्यों के बजाये जाने पर महेश्वर शङ्कर ने अनेक प्रकार के अङ्गहारों के साथ लय और ताल का अनुसरण करते हुय नर्त्तन किया। तब रेचकों एवं अङ्गहारों के साथ नृत्य करती हुई पार्वती को देखकर उसके बाद पिण्डीबन्ध नृत्य कों देखकर नन्दि भद्रमुख प्रभृति गणों ने गिण्डीबन्धों का लक्षण के साथ नामकरण कर दिया।

कहा जाता है कि भगवान् शङ्कर के द्वारा दक्ष को विध्वंस कर दिये जाने पर सन्ध्या के समय शङ्कर ने नृत्य प्रारम्भ किया था। उस समय प्रसन्नता से भरे प्रमथगणों ने मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव, दर्दुर आदि वाद्यो का वादन किया था। नृत्यकाल में नन्दि और भद्रमुख गणों ने पिण्डीबन्ध प्रक्रिया का अनुशीलन कर लक्षणों के अनुसार उनका नामकरण कर दिया।

अग्निपुराण के अनुसार अङ्गहार और करणों के प्रयोग में एक नियत आकृति को पिण्डीबन्ध कहते हैं। किन्तु शारदातनय ने नर्त्तक और नर्त्तकियों के सामूहिक नृत्य जो पिण्डीबन्ध कहा है। नाटचशास्त्र में नर्त्तन के एक आकार विशेष (नृत्य की एक विशेष मुद्रा) को पिण्डीबन्ध माना गया है।

अनुवाद –दक्ष के यज्ञ के विध्वंस किये जाने के बाद महेश्वर शङ्कर सन्ध्या के समय मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव, दर्दुर आदि सभी वाद्यों के निनादित होने पर अर्थात् बजाये जाने के साथ अनेक प्रकार के अङ्गहारों के साथ ताल एवं लय के अनुसार अनेक प्रकार के अङ्गहारों के साथ नाचने लगे ॥ २५६-२५७ ॥

---

१. ग. घ. भाण्डझञ्झागोमुखैः ।

२. ख-घ. पणवैर्ददुराद्यैश्च नानातोद्यैः प्रवादितैः । क-न. म. पणवैर्ददुराख्यैश्च ।

३. ग प्रमादितैः । क-तः निनादितैः ।

४. क-ख. ननर्त्त ।

५. ग. वशानुगम् ।

[1]पिण्डीबन्धांस्ततो दृष्ट्वा नन्दिभद्रमुखा गणाः।
[2]चक्रुस्ते नाम पिण्डीनां बन्धमासां सलक्षणम् ॥ २५८ ॥

[3]इह त्रयश्चकाराः । तत्रैको हेतावन्ये समुच्चये । तत्रैवमभिसम्बन्धः । यस्मात्प्रहर्षपरवशप्रमथाभिहतमृदङ्गादिभिरुपलक्षिते दक्षयज्ञे निहते प्रहर्षवशान्नर्तिनि । (नृत्यन्तं नृत्यन्तीमिति) धातुसम्बन्धे प्रत्यया इत्यनेन । (प्रयोगः[4] । अन्यथा नृत्तवन्तमित्यादि स्यात् ।) सन्ध्याकाले दिनात्यय इति प्रमोदविकासमये । तत एव पुण्यात्मके । सततमतिशयेन भृशं च नृत्यति तद्धेतोः । रेचकैरङ्गहारैश्चव न तु सुकुमारं प्रणृत्यन्तं शङ्करं वीक्ष्य सुकुमारप्रयोगमेव कृत्वा तु अर्थतत्त्वेन नृत्यन्तीं भगवतीं च वीक्ष्य । तत एवेति तावतामेव । अङ्गहारा रेचकाश्चेति । तद्धेतुकान्पिण्डीबन्धान्दृष्ट्वा नन्दी तथा भद्रमुखवीरभद्रप्रभृतयो नन्दिभद्रदेवतागणास्तत्प्रमुखाः पिण्डीबन्धनाम चक्रुः । आकारसादृश्येऽयं(न)च पिण्डीबन्धं प्रयोगं चक्रुः । सलक्षणं लक्षणपर्यन्तम् । अन्तवचनेऽव्ययीभावः । अङ्गहारप्रयोगनान्तरीयकतया आकारविशेषसम्पत्तिं दृष्ट्वा सम्यकायुज्य लक्षणं विदधिर इति यावत् । द्वयोः प्रयोक्तृतया सुकुमारावृत्तनृत्तयोः समकालप्रयोगेण पिण्डीबन्धनिष्पत्तिं सूचयति नन्दिभद्रमुखा गणा इति । अनेन चतुष्प्रभृतिप्रयोज्यतामप्याह–

अनुवाद—इसके बाद नन्दी, भद्रमुख प्रभृति गणों ने पिण्डीबन्धों को देख कर इन पिण्डीबन्धों का सलक्षण (लक्षणों के साथ) नामकरण किया ॥२५८॥

अभिनव—यहाँ पर तीन चकार है । उनमें एक हेतु अर्थ में है, अन्य समुच्चय अर्थ में । उनमें इस प्रकार सम्बन्ध है । जिससे प्रसन्नता में निमग्न प्रमथगणों द्वारा बजाये गये मृदङ्ग आदि वाद्यों से उपलक्षित दक्ष के यज्ञ के विध्वंस हो जाने पर प्रसन्नतावश नर्त्तन किया । 'नृत्यन्तं' तथा 'नृत्यन्तीम्' यह प्रयोग 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' सूत्र के अनुसार है । इसका अर्थ वर्त्तमानकालिक हर्षणकर्त्तृकर्त्तृक नर्त्तन है । यदि 'धातु सम्बन्धे प्रत्ययाः' इस सूत्र के अनुसार प्रयोग नहीं होगा तो 'नृत्यवन्तम्' यह प्रयोग होगा । सन्ध्या के समय दिन के बीत जाने पर प्रचुरमात्रा में प्रमोद (हर्ष) विकास के समय । इसीलिए वह पुण्यात्मक समय था । निरन्तर अत्यधिक बार-बार नाचते हैं, इसलिए रेचकों और अङ्गहारों के साथ न कि सुकुमार नृत्य के साथ नाचते

१. ख. डिण्डिमभ्रान्ततो दृष्ट्वा नन्दीभद्रमुखा गणा । ग. पिण्डीबन्धास्ततो ।
क-न. म. डिण्डिमभद्रांस्ततो । क-अ. पिण्डीबद्धांश्च नो दृष्ट्वा ।

२. ग. घ. चक्रुर्नामानि पिण्डीनां बन्धांश्चैव सलक्षणान् ।
ख. ऐश्वरी वृषपिण्डी च नन्दिनश्चापि पादसी ।

३. क इह चत्वारश्चकाराः ।

४. क-म. भ. कोष्ठकान्तर्गतभागो नास्ति ।

नन्दिभद्रनामैव गण इति। नन्दिकेश्वरनियतस्थानं मृदङ्ग। मुरजः भेरी कांस्यशकलान्तःपूर्णा महर्षकाभङ्गमर्दलः। डिण्डिमः करटिका। गोमुखो भङ्गी[1]। अन्तरीयुक्तस्तन्त्रीयुक्तः पटहः पणवो दर्दुरो महाघटिकाधार इति सर्व एते चर्मावनद्धभेदाः। लयो द्रुतमध्यविलम्बितात्मा। तस्य यस्तालः प्रतिष्ठा। अपि च तत्त्वं विशिष्टवर्धमानगीतकादिनियतवैणवस्वरविशेषात्मकधातुवाद्यशेषभूतशुष्कप्रयोगप्रकृतिकावनद्धवाद्यगीतिनियतप्रतिष्ठितलयात्मकत्वम्। नाट्ये च प्रयोज्यचित्तवृत्तिपरिवृत्तानुसारेणान्यथान्यथाभावेन। तस्य यो वशः सामर्थ्यं तस्यानुषङ्गं कृत्वा तदनुसारित्वेनानुगम्यमानः अनुसृतं कृत्वेत्युभयथा तन्त्रेण द्रष्टव्यम्। लयतालवशस्यास्य लयतालवशत्वानुगो यत्रेति।

हुए शङ्कर को देखकर और अर्थतत्त्वेन सुकुमार प्रयोग के साथ नाचती हुई पार्वती को देखकर तथा अङ्गहार करण और रेचक नृत्य हेतुक पिण्डीबन्धों को समझकर नन्दी और भद्रमुख, वीरभद्र प्रभृति देव सदृश गणों ने 'पिण्डीबन्ध' नामकरण किया। आकार-सादृश्य में 'पिण्डीबन्ध' प्रयोग किया गया है। 'सलक्षण' पद से 'लक्षण-पर्यन्त' अभिप्रेत है। 'पर्यन्त' में अव्ययीभाव समास है। अङ्गहार प्रयोग से (अनिवार्य) रूप से जुड़े हुए आकार विशेष को देखकर अर्थात् अच्छी तरह प्रयोग करके लक्षण बनाया है। शिव और पार्वती दोनों के प्रयोक्ता होने में सुकुमार और उद्धत नृत्तों के समकाल (एक ही समय) प्रयोग से पिण्डीबन्धों की निष्पत्ति को सूचित करते हैं—'नन्दि तथा भद्रमुख प्रभृति गणों ने पिण्डीबन्धों का सलक्षण नामकरण किया' इत्यादि। नन्दिभद्र नामक गण है। नन्दिकेश्वर का नियत स्थान मृदङ्ग है अर्थात् इस पिण्डीबन्ध नृत्य में नन्दिकेश्वर ने सङ्गत की थी। मृदङ्ग का दूसरा नाम मुरज है। भेरी काँस्य से निर्मित एक बाद्यविशेष है। इसे नागाड़ा भी कहते हैं। डिण्डिम डिम् डिम् शब्द करने वाला वाद्यविशेष है, जो नगाड़े से छोटा होता है। इसे करटिका कहते हैं। गोमुख तुरही के आकार का वाद्यविशेष है। पटह को पणव भी कहते हैं। दर्दुर एक बाद्यविशेष, जिसका आधार महाधाटिका है। ये सभी वाद्य चर्म (चमड़े) से मढ़े हुए होते है। ये चर्मावनद्ध वाद्य के भेद हैं। लय द्रुत, मध्य और बिलम्बित रूप तीन प्रकार का होता है। उसका जो ताल अर्थात् प्रतिष्ठा। और भी तत्त्व यह है कि विशिष्ट वर्धमान नामक गीत आदि से नियत वोणा का स्वर विशेषरूप, धातु-निर्मित वाद्यों के अङ्गभूत, शुष्क प्रयोग स्वरूप, अबनद्ध वाद्य और गीति से नियत, लय से प्रतिष्ठित 'ताल' होता है। नाट्य में प्रयोज्य चित्तवृत्तियों के परिवर्त्तन के अनुसार अन्यथा भाव से उसके सामर्थ्य के अनुसार अनुसरण करके दोनों प्रकार में तन्त्र के द्वारा देखना चाहिए। लयतालवशानुग अर्थात् लय और ताल के वश के अनुकूल चलने वाले ये अङ्गहार जिस नृत्य में हो।

१. क. भण्डी।

ननु च नाट्य एवाङ्गानुसारित्वेन लयादि। न तु नृत्त एव। आङ्गिके नाट्यस्य भेदः। उच्यते—इहादृष्टविशेषसम्पत्तिहेतुत्वं वर्धमानादिप्रयोगस्य सोपकरणनृत्तप्रयोगस्य च। तत्र गुणप्रधानभावं प्रति कामचारः। यदा गीतकादेः प्राधान्यं तदा तदनुसार्यङ्गं भवति। तदभिप्रायेणैव यद्वक्ष्यति—

"गत्या वाद्यानुसारिण्या तस्याश्चारीं प्रयोजयेत्"। इति (ना० शा० ४-२८१)। यदा तु नृत्तस्यादृष्टसम्पादकत्वे प्राधान्यं क्रियते तदा तदनुसारेण गीतकादेराश्रयणम् यदाश्रयेण वक्ष्यति—

"गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम्।
वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते॥" (ना शा ५-१३) इति।

अनेन हि चतुर्थेन पादेन ताण्डवस्य प्राधान्यं तदुपयोगित्वं च गीतकादेरुक्तम्। न च नाट्यात्तु भेदः। नाट्ये ह्यङ्गं गीतकं चेत्युभयमप्यप्रतिष्ठितम्। तथा च करचरणचारीमण्डलादि यत्तत्राङ्गोपयोगि तत्स्वरूपेण लयादिव्यवस्थया वा नियतमेव यथारसं प्रयुज्यमानत्वेन विपर्ययात्[1]। एवं ध्रुवागानादावपि द्रष्टव्यम्। सैव हि ध्रुवा कदाचित् द्रुता प्रयुज्यते कदाचिद्विलम्बितेति द्वयमपि कुत्रचित्। तत्रापि[2] गीतं च प्रयोज्यचित्तवृत्ति (परिवर्तत्वं तन्त्रम्)

अब प्रश्न उठता है कि लय और ताल तो अङ्गों के अनुसार नाट्य में ही प्रयुक्त होते हैं, नृत्त में ही नहीं। क्योंकि नृत्त तो आङ्गिक अभिनय (नाट्य) का भेद है। इस पर कहते हैं—यहाँ पर वर्धमान आदि गीत प्रयोग और वाद्यादि उपकरण सहित नृत्त प्रयोग के ये अदृष्ट फल के हेतु हैं। उनमें गौण और प्रधान भाव स्वेच्छा पर है। जब गीत आदि की प्रधानता होगी तो गीत का अनुसरण करने वाला नृत्त अङ्ग होगा। इसी अभिप्राय से आगे कहेंगे—

"वाद्यों का अनुसरण करने वाली गति से चारो का प्रयोग करना चाहिए"। (ना० शा० ४।२८१)।

और जब अदृष्ट के सम्पादक नृत्त की प्रधानता होगी हो तो नृत्त का अनुसरण करने वाला गीत आदि का आ य लिया जाता है। जैसा कि आगे कहेंगे—

"मन्द्रक आदि गीतों में किसी एक गीत की योजना करनो चाहिए और जहाँ ताण्डव नृत्त की योजना की जाय वहाँ वर्धमान गीत की योजना करवी चाहिए।" (ना० शा० ५।१३)।

---

१. क-विपर्यासात्।

२. क-म. तत्राविगीतं च।

इह तु गीतमङ्गं च द्वयमपि स्वप्रतिष्ठितम् । तथा हि यस्य यादृशं लययतिस्वरूपादिकं निरूपितं तत्र विषयेंति मन्त्रादिवत् । वेदवत् न वा (इह तु) योग्यतयाऽङ्गाङ्गि भावः । तथा हि--अपविद्धं द्रुतं चैव" (ना. शा. ४-२०७) इत्यङ्गहारे गीतकादावपि मध्ये स्रोतोगतलयादिरित्यादिकं नान्यथा क्रियते । तेन "प्रधानमनुवध्यन्ते गुणाः" इत्येतदिह सङ्कोचयति । किन्तु स्वप्रतिष्ठितेऽपि द्वये येन यत्सम्मेलनयोग्यं तत्तत्र प्रयुज्यत इत्येतावानङ्गाङ्गिभावः । एवं शत्रुज्वलनप्रवृत्तामर्षा(त्तसा)भिमाननरपतिद्वितयवत् । अत एव प्रयुज्यत इत्युक्तम् । तेनैव तथाकरणं सूच्यते ।

यहाँ पर चतुर्थ पाद (ताण्डवं यत्र युज्यते) के द्वारा ताण्डव नृत्त की प्रधानता और गीत आदि को उसका उपयोगी अङ्ग बतलाया गया है। नाट्य से नृत्त का भेद नहीं है। क्योंकि नाट्य में नृत्त और गीत दोनों प्रतिष्ठित रहते हैं। हाथ पैर, चारी, मण्डल आदि जो उस नाट्य में उपयोगी अङ्ग हैं उनके स्वरूप अथवा लय आदि की व्यवस्था के अनुसार नियत रूप से प्रयोग में रस के अनुकूल परिवर्तन कर देना चाहिए। इसी प्रकार ध्रुवागान आदि में भो समझना चाहिए। वही ध्रुवा सभी द्रुत के रूप में प्रयुक्त होती है, कभी बिलम्वित रूप में और कभी दोनो रूप में प्रयुक्त होती है। वहाँ भी अभिनेय चित्तवृत्ति के परिबर्तन के अनुसार गीत का प्रयोग होता है। यहाँ तो गीत और नृत्त दोनो प्रतिष्ठित होते हैं। जैसाकि जिसका जैसा लय, यति, स्वरूप आदि बतलाया गया है, मन्त्र आदि के समान उसमें परिवर्त्तन नहीं होता। अर्थात् जिस प्रकार वेदवाक्य अथवा मन्त्रों में परिवर्त्तन नहीं होता, उसी प्रकार गीत, नृत्त में जिसका जो स्वरूप, लय, ताल, यति आदि का निरूपण किया गया है वैसा हो प्रयोग होता है उसमें परिवर्त्तन नहीं होता। यहाँ पर तो योग्यतानुसार अङ्गाङ्गिभाव होता है। जैसाकि-'अपबिद्धं द्रुतं चैव' (ना० शा० ४।२०८) इत्यादि मत्तस्खलित अङ्गहार में गीत आदि के मध्य में प्रवाहगत लय आदि में परिवर्त्तन नहीं किया जाता है। इसलिए 'गुण प्रधान के अनुबन्धी होते हैं' इस व्याप्ति का यहाँ सङ्कोच होता है। किन्तु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर भी दोनों में जिसका जिसके साथ सम्मेलन हो सकता है उसका उसके साथ प्रयोग किया जाता है, इतना ही अङ्गाङ्गिभाव है। जिस प्रकार शत्रु के हृदय में उत्पन्न जलन, ईर्ष्या, अभिमान से युक्त दो राजाओं में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव होता है। इसलिए यहाँ 'प्रयुज्यते' यह कहा गया है। उसी से वैसा करना सूचित होता है।

तत्र दक्षयज्ञे निहते मृदङ्गादिवाद्यं प्रमथैः प्रवर्तितमिति तदनुगं नृत्तम्। सन्ध्याकालेषु हृदयभूतानन्दोल्लासात्मकेषु भगवन्नृत्तप्राधान्ये स्थिते वाद्यादिप्रवृत्तिः। एतदर्थमेवेत्थंभूतलक्षणतृतीयया साधारण्येनार्थोऽभिहितः। अवसरद्वयाभिधानं चैतदर्थमेव लक्षणमर्थत्वे तथैव दृश्यते?। तथा हि—गीतमेव तदाऽन्यार्थं तदन्यगत्वेन नृत्तादि यथा डोम्बिकादौ। तत्र हि परिष्करणाद्यपि (परिक्रमणाद्यपि) सुकुमारेणैवाङ्गेन। तत्रापि वर्णाङ्गप्राधान्यं क्वचित्। यथा प्रस्थानादौ। क्वचिद्गीयमानरूपकाभिधेयप्राधान्यं यथा त्रिपुरदाहडिमादौ ([1]शिल्पकादौ)। क्वचिद्वाद्यप्राधान्यं भाणकादिषु भग्न(भण्ड)तालपरिक्रमणादौ। क्वचिन्नृत्तप्राधान्यं यथा डोम्बिकादिप्रयोगानन्तरं हुडुक्कावाद्यावसरे। अत एव तत्र लोकभाषया चिल्लिमार्ग इति प्रसिद्धिः। चारीमार्गो ह्यसावङ्गप्राधान्यात्। तत्रापि वैचित्र्येण मध्ये मध्ये गीतवाद्यादेरपि प्राधान्यम्। वाद्यस्यापि [2]क्वचित् सुषिरावनद्धभेदेन प्राधान्यं यथायोगं विवेचनीयमित्यलं बहुना।

यहाँ पर भी दक्ष के (यज्ञ के विध्वंस हो जाने पर प्रमथगणों ने मृदङ्ग आदि वाद्यों का वादन किया था और उसी के अनुगत (अनुसार) नृत्त भी किया था। सन्ध्या के समय हृदय में उद्भूत आनन्द के उल्लास रूप किये गये भगवान् शिव के नृत्त ताण्डव में वाद्यादि की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए इत्थंभूत लक्षण तृतीया के द्वारा (इत्थंभूत लक्षणे तृतीया) साधारण रूप से यह अर्थ कहा गया है। इसीलिए दो अवसरों का कथन और लक्षण उसी प्रकार सार्थक दिखाई देते हैं। जैसाकि—'जब गीत आदि अन्य के लिए हैं तो नृत्त भी अन्य के लिए होगें, जैसे-डोम्बिक आदि में, वहाँ पर परिक्रमण आदि भी सुकुमार अङ्ग के द्वारा ही किये जाते हैं। वहाँ पर भी कहीं पर वर्ण अङ्गों की प्रधानता होती है। जैसे प्रस्थान आदि में। कहीं पर गीयमान रूपक अर्थ को प्रधानता होती है। जैसे त्रिपुरदाह डिम आदि में या शिल्पक आदि में। कहीं पर वाद्य (बाजे) की प्रधानता होती है। जैसे–भाण (भाण्ड) ताल के परिक्रमण आदि में। कहीं नृत्त की प्रधानता होती है। जैसे—डोम्बिका के प्रयोग के बाद हुडुक्क-वादन के अवसर पर। इसीलिए लोकभाषा में 'चिल्लिमार्ग' इस नाम से प्रसिद्ध है। अङ्ग की प्रधानता से वह चारीमार्ग नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर भी विचित्रता से बीच-बीच में गीत, वाद्य आदि की प्रधानता होती है। वाद्य की भी कहीं पर सुषिर, अवनद्ध आदि भेद से प्रधानता होती हैं। इस प्रकार यथायोग विवेचन करना चाहिए और अधिक कहने से रहने दिया जाय।

---

१. क. शिल्पक इति शब्दः शिङ्ककशिङ्गटकसिङ्गठकषिद्गकादिभेदेन दशरूपकादिलक्षणग्रन्थेषु दृश्यते।

२. क. क्वासुषिरावनद्धभेदेन।

तत्रैते पिण्डीबन्धा आधाराङ्गप्रयोगसाधकतमभेदाद् बहुप्रकारं भिद्यन्ते। तत्र भूमिर्देश आकाशद्वयभेदात्सप्तसप्तभेद एकैक इत्याधारभेदाः सप्त। हस्तौ पादौ (अक्षिणी) शिर इत्यङ्गभेदा अपि सप्तेत्येकान्नपञ्चाशत्। एकोऽनेको वा प्रयोक्ता। सोऽपि समप्रयोगो विषमप्रयोगो वेति चतुर्धाकरणेन सम्पाद्यते अङ्गहारेण वेत्यष्टाभिरेकान्नपञ्चशतो गुणनात्। द्विनवत्यधिकं त्रिशतं पारमेश्वराः (पिण्डीबन्धाः)।

"कल्पापायनिशान्तसान्ध्यसमये सद्व्योमरङ्गाङ्गणे[1]
सम्प्राप्य प्रतताङ्गहारवलनावैचित्र्यचित्रस्थितिः।
आकाशे स्ववपुष्यके(?)च विविधां सृष्टिं समासूत्रयन्
त्रैलोक्यस्थपतिस्त्वमेव भगवन्विश्वाकृतिर्जृम्भसि" ॥ इति।

अनया च (दिशा) पिण्डीबन्धानां तत्तद्देवताप्रकृतिभङ्गरागादिसूचनद्वारेण केवलमपि करणं प्रयुज्यमानमेव हर्षदायि भवति ॥ २५८ ॥

इस प्रकार ये पिण्डीबन्ध आधार, अङ्ग, प्रयोग एवं साधक के भेद से अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उनमें आधार से स्थानगत भेद अभिप्रेत है। यह भूमि, आकाश और स्वर्ग (आकाशद्वय) भेद से एक-एक सात-सात प्रकार के होते हैं। इस प्रकार आधार स्थानगत भेद से सात प्रकार का होता है। इसी प्रकार दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र और एक शिर इस प्रकार अङ्गगत (अङ्ग के) सात भेद होते हैं। प्रयोक्ता एक या अनेक होने से प्रयोगगत भेद होता है और वह भी समप्रयोग और बिषमप्रयोग के भेद से चार प्रकार का होता है और ये चार भेद करणों एवं अङ्गाहारों के द्वारा सम्पादित होने के कारण आठ प्रकारों का उनचास प्रकारों से गुणा करने पर ३९२ भेद हो जाते हैं।

"कल्प की समाप्ति पर प्रलय होजाने के बाद निशा के अन्त में सन्ध्या की वेला में आकाश रूपी सुन्दर रङ्गभूमि पर पहुँच कर विस्तृत अङ्गहारों के वलन (करण, सम्पादन) के वैचित्र्य से चित्र (आश्चर्यजनक) स्थिति वाले तथा नानाप्रकार की सृष्टि करने के लिए आकाश में अपने शरीरभूत आधार पर सूत्र को फैलाने वाले तीनों लोक के स्थपति भगवन्! आप विश्व के आकार में प्रकट हो रहे हैं।"

इस प्रकार पिण्डीबन्धों के उन-उन देवताओं की प्रकृति के सूचन द्वारा केवल करणों का प्रयोग भी हर्षदायक होता है ॥ २५८ ॥

विमर्श—करणों, अङ्गहारों और रेचकों के निरूपण करने के बाद भरतमुनि ने चार श्लोकों में पिण्डीबन्ध नृत्य के अबतरण का इतिहास बताया है। तदनुसार भगवान् शंकर ने जब दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया था, उस समय सन्ध्या की वेला में शिव ने हर्षपूर्ण नृत्य किया था और प्रसन्नता में निगमन प्रमथगणों ने वाद्यों से सङ्कृत की थी। शिव का

---

१. क. सद्व्योमरङ्गं गणः।

वह नृत्य अङ्गहार, करण एवं रेचकों के प्रयोग से उद्धत था। तब पार्वती ने भगवान् शिव को नृत्य करते हुए देखकर सुकुमार प्रयोगों से युक्त नृत्य किया। इस प्रकार शिव और पार्वती के द्वारा एक ही साथ समकाल में उद्धत एवं सुकुमार नृत्यों के प्रयोग से 'पिण्डी-बन्धों' की निष्पत्ति हुई है। यह पिण्डीबन्ध नृत्य का एक आकार-विशेष है। अग्निपुराण-कार ने भी नृत्य के एक विशेष प्रकार आकृति-विशेष को पिण्डीबन्ध कहा है, इसमें अङ्गहार और करण विनियोजित होते है, लय और ताल के साथ नर्त्तन होता है तथा मृदङ्ग, भेरी आदि वाद्यों से सङ्गत की जाती है। लय के द्रुत, मध्य और विलम्बित तीन प्राण हैं। यह द्रुतमध्यविलम्बितात्मा लय ताल में प्रतिष्ठित होता है। ताल गीत, नृत्य और वाद्य में एक लयात्मक आधार प्रदान करता है और लय ताल को नियन्त्रित करने का कार्य करता करता है। इस प्रकार वर्धमान आदि गीत और वाद्योपकरणसहित नृत्त दोनों अदृष्ट फलविशेष के जनक है। इन दोनों में गुणप्रधान भाव स्वेच्छा पर निर्भर है। यदि गीत की प्रधानता होगी तो गीत उसका अङ्ग होगा। जैसा कि आगे कहा आयगा—

"मद्रक आदि गीतों में किसी एक गीत की योजना करनी चाहिए और जहाँ पर ताण्डव नृत्त का प्रयोग होता है वहाँ वर्धमान गीत की योजना करनी चाहिए" (ना शा. ५।१३)

इस प्रकार 'ताण्डवं यत्र युज्यते' इस चतुर्थ चरण के अनुसार यहाँ पर ताण्डव की प्रधानता है और गीत ताण्डव की उपयोगी नाट्य में नृत्त और गीत दोनों अङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इसलिए नाट्य में कर, चरण, चारी, मण्डल आदि उपयोगी अङ्गों के स्वरूप अथवा लय आदि की व्यवस्था के अनुसार परिवर्तन कर लेना चाहिए। इसी प्रकार ध्रुवागान आदि के विषय में भी समझना चाहिए। वही ध्रुवा कभी द्रुत होती है, कभी विलम्बित होती है और कभी दोनों होती है। उसमें भी प्रयोज्य चित्तवृत्तियों के अनुसार गीत का गायन होता है। यहाँ पर नाट्य में तो नृत्त और गीत दोनों अङ्ग अपने में प्रतिष्ठित हैं। नृत्त और गीत में तो जैसा लय, ताल, यति, स्वर, गान आदि बतलाया गया है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जिस प्रकार वेद अथवा मन्त्रों में स्वर आदि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। किन्तु नाट्य में तो योग्यता के अनुसार अङ्गाङ्गिभाव होता है। जिस प्रकार 'मत्तस्खलित' अङ्गहार में गीत आदि के मध्य में प्रवाह-प्राप्त लय आदि का अन्यथा (विपरीत) प्रयोग नहीं करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार 'गुण प्रधान के अनुबन्धी होते हैं' इस सिद्धान्त का यहाँ सङ्कोच नहीं होता। किन्तु इन दोनों में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर भी जिसका जिसके साथ मेल खाता है उसका उसके साथ प्रयोग होता है, इतना ही अङ्गाङ्गिभाव है।

अब पिण्डीबन्ध के भेदों को कहते हैं। ये पिण्डीबन्ध आधार, अङ्ग, प्रयोग और साधकतम भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ आधार पद से स्थानगत भेद गृहीत होता

[1]ईश्वरस्येश्वरी पिण्डी नन्दिनश्चापि पट्टसी[2] ।
चण्डिकाया भवेत्पिण्डी [3]तथा वै सिंहवाहिनी ॥ २५९ ॥
तार्क्ष्यपिण्डी भवेद्विष्णोः पद्मपिण्डी स्वयम्भुवः ।
शक्रस्यैरावती पिण्डी [4]झषपिण्डी तु मान्मथी ॥ २६० ॥
शिखिपिण्डी कुमारस्य [5]रूपपिण्डी भवेच्छ्रियः ।
धारापिण्डी च जाह्नव्याः पाशपिण्डी यमस्य च[6] ॥ २६१ ॥
वारुणी च नदीपिण्डी [7]याक्षी स्याद्धनदस्य तु[8] ।
हलपिण्डी बलस्यापि[9] सर्पपिण्डी तु भोगिनाम् ॥ २६२ ॥
गणेश्वरी महापिण्डी[10] दक्षयज्ञविमर्दिनी ।
[11]त्रिशूलाकृतिसंस्थाना रौद्री स्यादन्धकद्विषः[12] ॥ २६३ ॥

एवं तत्र प्रधानदेवतोद्देशेन तावत् पिण्डीबन्धान्दर्शयति श्लोकपञ्चकेनेश्वरस्येत्यादिना ।

है । स्थान भेद अर्थात् सप्तलोक के भेद से आधारगत सात भेद होते हैं, इसी प्रकार दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र और एक शिर ये अङ्गगत सात भेद हैं । इस प्रकार एक-एक के सात-सात भेद होने से उनचास भेद होते हैं और प्रयोगगत चार भेद होते हैं । प्रयोक्ता एक हो अथवा अनेक और वह भी समप्रयोग हो अथवा विषमप्रयोग इस प्रकार प्रयोगत चार भेद होते हैं । इसी प्रकार साधकगत चार भेद भी होते हैं । इस प्रकार आठ भेदों से उनचास भेदों में गुणा करने पर कुल ३९२ भेद होते हैं । अङ्गहारों और करणों से सम्पादित होने पर इनके अनेक भेद हो सकते हैं ॥ २५८ ॥

इस प्रकार यहाँ प्रधान देवताओं का नाम संकीर्त्तन करके 'ईश्वरस्य' इत्यादि पांच श्लोकों के द्वारा पिण्डीबन्धों को दिखाते हैं—

अनुवाद—ईश्वर की पिण्डी का नाम ईश्वरी है, नन्दी की पिण्डी का नाम पट्टसी और चण्डिका की पिण्डी का नाम सिंहवाहिनी है । विष्णु की पिण्डी का

---

१. क-म. त. ऐश्वरी वृषपिण्डी च । २. घ. पट्टिसी । ख. पादसी । ३. क-न. ब. तथैव ।
४. ग. झषा स्यात्मन्मथस्य तु । घ. झषा पिण्डी तु मान्मथी ।
५. घ. ऊलुपिण्डी । ६. ख. घ. तु । ७. क- ङ. व. यक्षा ।
८. ख. घ. च । ९. ख-घ. बलस्याद्य ।
१०. क-अ. वज्रपिण्डी च लौहिकी । त. द. कालपिण्डी तु लौहिकी ।
११. क-अ. त्रिपुरान्तकरी रौद्री तथा दक्षमखस्य च ।
१२. ख. स्यादन्तकद्विषः ।

भगवत एव प्राधान्यात् परितोषणीयतेति तस्याव्यक्तं यदीश्वरशब्दवाच्यं निर्विशेषं रूपं तस्य तादृश एव शिवलिङ्गाकृतिः पिण्डीबन्धः। पिण्डी आधाराङ्गादिसङ्घातः। तया बध्यते बुद्धौ प्रवेश्यते तनुभावेन सकलया वा व्योमादाविति पिण्डीबन्ध आकृतिविशेषः। तस्यैकदेशाभिधानं पिण्डीति। यदि वा पिण्डीविशिष्टान्येव तान्याहेति। आवध्यते पुनरनेनेति पिण्डीबन्धः करणाङ्गहारादिः। अन्ते च भगवत एव व्यक्तरूपस्य पिण्डीबन्धो भविष्यति।

परमेश्वरानन्तरं च प्रधानभूतस्य पिण्डीबन्धलक्षणविधायिनो नन्दिनः। पट्टसी[1] उभयत्र त्रिशूलाकृतिरायुधविशेषः। तदनन्तरं भगवत्याः। सिंहश्चासौ वाहनश्च तस्यैवमिति। आक्रान्ततया। भूमिर्वा[2] लिङ्गस्य सिंहः। तदाकृतिकत्वं दर्शयति। तदनन्तरं विष्णोर्ब्रह्मणश्च। ऐरावतीति गजाकारा। रूपपिण्डी स्वाकारा (पद्माकारा)। धारापिण्डी पुनः पुनः प्रयुज्यमाना नदीपिण्डी भवति। याक्षी वैश्रवणायुधः मुद्गराकारा॥ २५९-२६३॥

नाम तार्क्ष्य, स्वयंभू (ब्रह्मा) की पिण्डी का नाम पद्म, इन्द्र की पिण्डी का नाम ऐरावती और मन्मथ (काम) की पिण्डी का नाम झष है। कुमार (स्कन्द) की पिण्डी शिखी, श्री (लक्ष्मी) की पिण्डी रूप (उल्लू), जाह्नवी की पिण्डी धारा और यम की पिण्डी पाश है। वरुण की पिण्डी नदी, कुवेर की पिण्डी याक्षी, बलराम की पिण्डी हल और सांपों की पिण्डी सर्प है। गणेश्वर की पिण्डी दक्षयज्ञविमर्दिनी नामक महापिण्डी और अन्धकासुर का वध करने वाले शङ्कर को त्रिशूल के आकार की रौद्री नामक पिण्डी होती है॥ २५९-२६३॥

अभिनव—भगवान् को ही प्रमुख रूप से परितुष्ट करना है, इसलिए उसका जो ईश्वर शब्द वाच्य निर्विशेष रूप है, इसका वैसा ही शिवलिङ्गाकृति पिण्डीबन्ध है। पिण्डी का अर्थ है आधारभूत हस्तपादादि अङ्गों का संघात। उससे जो बांधा जाय अर्थात् सूक्ष्म रूप से अथवा व्योमादि रूप से समस्त कलाओं से बुद्धि में प्रवेश करे वह आकृतिविशेष पिण्डीबन्ध है। उसके एकदेश का नाम पिण्डी है अथवा पिण्डीविशिष्ट ही उन नामों को कहते हैं। जिसके द्वारा बांधा जाता है, उसे पिण्डीबन्ध कहते हैं, वे करण, अङ्गहार आदि हैं। अन्त में भगवान् के ही व्यक्तरूप का पिण्डीबन्ध होगा।

परमेश्वर के बाद प्रधानभूत पिण्डीबन्ध का लक्षण बनाने वाले नन्दि (नन्दी) के पिण्डीबन्ध का नाम पट्टसी है। पट्टसी दोनों ओर से त्रिशूल के आकार का एक आयुधविशेष है। उसके बाद चण्डिका को पिण्डीबन्ध सिंहवाहिनी अर्थात् सिंह रूपी वाहन है अथवा चण्डिका से आक्रान्त होने से सिंह लिङ्ग (चिह्न) है। इसप्रकार

---

१. क. पट्टसः। २. क-म. मिश्रामिवालिङ्गस्य।

वाहन रूप सिंह का आकार होने से यह पिण्डी लिङ्ग की भूमि है और पिण्डी उसकी आकृति है। इसके बाद विष्णु और ब्रह्मा को पिण्डी दिखाते है। तत्पश्चात् इन्द्र की पिण्डी ऐरावती गजाकार पिण्डी है। रूपपिण्डो अपने आकार वाली होती है। जाह्नवी की पिण्डो का नाम धारापिण्डो है। बार-बार प्रयोग की जाने वाली धारापिण्डी नदीपिण्डो होती है। याक्षी पिण्डी कुबेर के आयुध मुद्गर के आकार की होती है ॥ २५९-२६३ ॥

विमर्श — नाट्यशास्त्र में विभिन्न देवताओं की पिण्डियों का वर्णन किया गया है। प्रथम ईश्वर की पिण्डी ईश्वरी का वर्णन है। अभिनवगुप्त के अनुसार ईश्वर की पिण्डी अव्यक्त निर्विशेष रूप शिवलिङ्गाकृति है। घोष ने पाठभेद के आधार पर शिव की बृषपिण्डी मानी है। शिव के प्रमुख गण नन्दी की पिण्डी का नाम 'पट्टसी' हैं। पट्टस त्रिशूल की आकृति का एक आयुध है जिसके दोनों ओर शूल होता है। चण्डिका की पिण्डी सिंहवाहिनी है, चण्डिका का वाहन सिंह है। अत: वाहन के आधार पर इसका नाम 'सिंहवाहिनी' रखा गया। विष्णु का वाहन तार्क्ष्य (गरुड़) है इसलिए वाहन के आधार पर विष्णु की पिण्डी का नाम 'तार्क्ष्य' रखा गया। ब्रह्मा कमल (पद्म) से उत्पन्न माने जाते हैं, इसलिए ब्रह्मा के पिण्डी का नाम 'पद्म' रखा गया है। इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी है, अत: इन्द्र की पिण्डी का 'ऐरावती' नाम दिया गया है। मन्मथ कामदेव का नाम है। कामदेव के ध्वज का चिह्न मत्स्य (मछली) है, अत: इनकी पिण्डी का नाम 'झष' रखा है। कात्तिकेय का वाहन मोर है, इसलिए वाहन के आधार पर स्कन्द (कात्तिकेय) की पिण्डी का नाम 'शिखिपिण्डी' है। श्री (लक्ष्मी) की पिण्डी का नाम 'रूप' है। अभिनव गुप्त ने स्वाकार अर्थात् पद्माकार होने से इसे रूपपिण्डी माना है। घोष ने रूपपिण्डी के स्थान पर 'ऊलूपिण्डी' पाठ मानकर लक्ष्मी के वाहन "उल्लू (उलूक) के नाम पर लक्ष्मी की पिण्डी का नामकरण किय है। नदी की धारा से सम्वन्धित होने से जाह्नवी की पिण्डी का नाम 'धारापिण्डी' है। यम का पाश से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए यम की पिण्डी का नाम 'पाश' रखा गया है। बरुण की पिण्डी का नाम नदीपिण्डी है। धारा-पिण्डी के बार-बार प्रयोग किये पर नदीपिण्डी होती है। कुबेर की पिण्डी याक्षी है। याक्षी कुबेर का मुद्गराकार आयुध है। इसी आधार पर कुवेर की पिण्डी का नाम 'याक्षी' पड़ा। बलराम का आयुध हल है इसलिए इनकी पिण्डी का नाम 'हलपिण्डी' रखा गया है। नाग देवता की पिण्डी का नाम 'सर्पपिण्डी' है। गणेश्वर की पिण्डी का नाम दक्षयज्ञ-विमर्दिनी महापिण्डी है। शिव के प्रमुख गणों ने ही दक्ष के यज्ञ को विध्वंस किया था, अतः इस आधार पर इनकी पिण्डी का नाम 'दक्षयज्ञविमर्दिनी' पड़ा। इस पिण्डीबन्ध का सम्बन्ध गणेश्वर गणपति से जोड़ा जा सकता है। अन्धकासुर का वध करने वाले रुद्र की पिण्डी का नाम पट्टसी है, जो त्रिशूल की आकृति की मानी गई है। ॥ २५९-२६२ ॥

एवमन्यास्वपि तथा देवतासु यथाक्रमम्।
[1]ध्वजभूताः प्रयोक्तव्याः पिण्डीबन्धाः [2]सुचिह्निताः। २६४।

एवं प्रतिपाद्याभिधायान्यत्रापि दर्शयत्येवमित्यादिना। अन्यास्विति। तृतीयाध्याये पूज्यत्वेन निरूपितासु। तदभिप्रायेणैव यथाक्रममित्युक्तम्। ध्वज-पूजाहुत्यायुधवाहनविशेषरूपाः। सचिह्नका[3] इत्यनेनापि केनचित्कर्मादि(क्रमादि) सूचकेन रूपेणोपलक्षिताः।

एतदुक्तं भवति--या काचिद्देवतेत्युच्यते तस्याः पश्चान्नृत्तेन परितोषणं कार्यम्। तन्मध्ये च तदीयायुधवाहनकर्मभावाद्यनुकारी अङ्गप्रयोगो विधेयः। अत एव "पादाग्रस्थितया" (रत्ना १-१) इत्यत्र तलपुष्पपुटकरणेन कर्मणा विशेषसूचकेन भगवत्याः परितोषणं सम्पाद्यते। "तिलके च करः स्थाप्य" (६४ करणम्) इत्यभिनयेन भगवतः परितोषः। "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" (९ करणम्) इत्यनेन त्रिशूलाकृतिर्या कायसम्पत्तिः। गरुडप्लुतकेन तार्क्ष्याकार-गतिसूचनम्। गङ्गावतरणेन धारापिण्डी। नागापसर्पितेन भोगिपिण्डी। "प्रसार्यो-

---

अनुवाद—इसी प्रकार क्रमानुसार अन्य देवताओं की पिण्डियों के नाम भी होते है। इस प्रकार अपनी अपनी ध्वजाओं से चिह्नित पिण्डीबन्धों का प्रयोग करना चाहिए ।। २६४ ।।

अभिनव—इस प्रकार प्रतिपाद्य अर्थों को कहकर 'एवम्' इत्यादि के द्वारा अन्य देवताओं में भी इसे दिखाते हैं। 'अन्यासु' का अभिप्राय है तृतीय अध्याय में पूज्य रूप में जिनका निरूपण किया गया है उन देवताओं में। उसी अभिप्राय से 'यथाक्रम' यह कहा गया है। ध्वज, पूजा आहुति, आयुध, वाहन विशेष रूप हैं। 'सुचिह्निताः' पद से उन-उन देवताओं के कार्यो के सूचक रूप से प्रतीत होने वाले चिह्न ग्राह्य है।

यह कहा गया है कि—जो कोई देवता कहे जाते हैं, उन देवताओं का भी पीछे नृत्त के द्वारा परिपोषण करना चाहिए और उनके बीच में उन्हीं देवताओं के आयुध, वाहन, कर्म और भावों का भो आङ्गिक अनुकरण (अभिनय) किया जाता है। अतएव 'पादाग्रस्थितया' इस श्लोक में कर्म विशेष के सूचक तलपुष्पपुट करण से भगवती का परितोषण किया जाता है। 'तिलके च करः स्थाप्यः' अर्थात् 'हाथ को तिलक लगाने की मुद्रा में मस्तक पर रखना चाहिए' इस लक्षण वाले निशुम्भित करण के द्वारा भगवान् का परितोष किया जाता है। "निकुट्टितौ च यदा हस्तौ"

---

१. ख. ग. वज्रभूताः २. घ. स्वचिह्निता। क-म. स्वचिह्नकाः। क-अ. सुचिह्नकाः।
३. क-म. स्वचिह्नकाः।

त्क्षिप्य च करौ" इत्यङ्गहारेण (ना. शा. ४-१७४) [1]आकारीयभौमत्रिशूल-शिवलिङ्गादिपिण्डीनिष्पत्तिः । रेचितेनाक्षिप्तरेचितेन च समस्तानामुक्तानां [2]चाधाराद्यनन्तभेदानां निष्पत्तिः । तथा च नन्दिमत उक्तम्--

"रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः ।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तं नियोजयेत्" ।। इति ।

एवमन्यदप्यूह्यमित्यनुपयोगात्समस्तं न लिखितम् । आगमभ्रंशरक्षणाय तु दिङ्-निरूपिता ।। २६३ ।।

अर्थात् दोनो हाथ शिर और बाहु की बीच में निकुट्टित हो और दोनों पैर भी निकुट्टित हो" इस लक्षण से लक्षित निकुट्टक करण के प्रयोग से त्रिशूलाकृति शरीर सम्पत्ति सूचित होती है। गरुड़प्लुतक करण से धारापिण्डी का और नागापसर्पित करण से भोगिपिण्डी का अभिनय होता है। इसी प्रकार "प्रसार्योत्क्षिप्य च करौ" (ना. शा. ४१७४) इस स्थिरहस्त नामक अङ्गहार से आकार वाले भौम, त्रिशूल, शिवलिङ्ग आदि पिन्डीबन्धों की निष्पत्ति को सूचित किया जाता है। रेचित और आक्षिप्तरेचित अङ्गहारों के प्रयोग से सभी कथित देवताओं के आधार आदि अनन्त भेदों की निष्पत्ति कही गई है। जैसा कि नन्दि (नन्दिकेश्वर) के मत में कहा गया है—

"जो दो प्रकार का रेचित नामक अङ्गहार बताया गया है। उनके प्रयोग से सभी देवता पूर्ण रूप से प्रसन्न होते हैं, इसलिए 'ताण्डव' नृत्त में उनका प्रयोग करना चाहिए।"

इसी प्रकार अन्य बाते भी समझनी चाहिए, उनका यहाँ उपयोग न होने से समस्त बातें नही लिखी गई हैं। नाट्यशास्त्र (आगमशास्त्र) के विनाश से रक्षा के लिए यहाँ दिङ्मात्र प्रदर्शित किया गया है ।। २६४ ।।

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि इसी प्रकार अन्य देवताओं के पिण्डीबन्धो उनके आयुध-वाहनादि के अभिनय के सम्बन्ध में समझना चाहिए जिनका तृतीय अध्याय में पूज्य रूप में निरूपण किया गया है। पिण्डीबन्धों के द्वारा उन-उन देवताओं का परितोष किया जाता है और उन-उन देवताओं के आयुध वाहन आदि के भावों का आङ्गिक अभिनय किया जाता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार रेचित नामक अङ्गहार के प्रयोग से सभी देवता प्रसन्न होते हैं, इसलिए ताण्डव में उनका प्रयोग करना चाहिए ।।२६४।।

१ क. आधारीयभौम० ।
२. क. चाराद्यनन्तभेदानां ।

[1]रेचका अङ्गहाराश्च पिण्डीबन्धास्तथैव च ।
[2]सृष्ट्वा भगवता [3]दत्तास्तण्डवे मुनये तदा ।। २६५ ।।
[4]तेनापि हि ततः [5]सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ।
[6]नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः ।। २६६ ।

एतदुपसंहरति--रेचका इति ।

पिण्डीबन्धग्रहणेन शिखिपिण्डप्रभृत्युपायमयूरललितादिकरणसङ्ग्रहः । अतएवानया केवलस्यापि करणस्य देवतापरितोषणेनादृष्टार्थं प्रयोगः । यथा विष्णुक्रान्तस्य [7]वक्रमण्डलस्य च वैष्णवक्रीडासूचकस्य सः । एवकारेणाङ्गहारप्रयोगनान्तरीयकपिण्डीबन्धसम्बन्धः । अङ्गहारा एव पिण्डीबन्धाः तथान्येऽपि पिण्डीबन्धा इति केवलकरणसङ्ग्रहः । चकारात्पिण्डीबन्धनिष्पत्त्युपायत्वं करणद्वयस्यापि यदा विद्यते अन्यस्य करणसमूहात्मनः कल्पितस्याङ्गहारस्य वा । तस्यापि प्रयोगे प्रत्यनुज्ञानमाह । एतदर्थमेव नृत्तमातृकाया लक्षणमङ्गहाराणां च सामान्यलक्षणं प्रणीतम् ।

इसका उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद भगवान शङ्कर ने रेचकों, अङ्गहारों और पिण्डबन्धों की रचना करके तण्डु मुनि को प्रदान किया । तदनन्तर तण्डु मुनि ने गान तथा भाण्डवाद्यों से अच्छी तरह समन्वित कर जिस नृत्यप्रयोग का रचना की, वह 'ताण्डव' नाम से प्रसिद्ध हुआ ।। (२६५-२६६ ।।

अभिनव—यहाँ पर पिण्डीबन्ध शब्द के ग्रहण से शिखिपिण्डी आदि के उपायभूत मयूरललित आदि करणों का संग्रह होता है । इसलिए इस रीति से देवताओं के परितोषण से उत्पन्न अदृष्ट फल के लिए केवल करण का भी प्रयोग होता है । जैसे वैष्णवक्रीड़ा के सूचक विष्णुकान्त और चक्रमण्डल करणों का प्रयोग होता है । 'तथैव' में एवकार के प्रयोग से यह सूचित होता है कि अङ्गहारों के प्रयोग में पिण्डीबन्धों का आवश्यक (अनिवार्य) सम्बन्ध होता है । यद्यपि अङ्गहार हो पिण्डीबन्ध है, तथापि अन्य भी पिण्डीबन्ध होते हैं, इसलिए केवल करणों का संग्रह किया गया है ।

---

१. ख. रेचिताश्चाङ्गहाराश्च । घ. रेचकाश्चाङ्गहाराश्च ।
क-न. म. रेचकांश्चाङ्गहारांश्च पिण्डीबन्धांस्तथैव च ।
२. क-ढ़. व. सृष्टाः ।
३. ख दत्तस्ताण्डचाय मुनये तथा ।
४. ख. ताण्डिनापि ततः ।
५. क-अ. सम्यक्तानभाण्डसमन्वितः ।
६. ख. नृत्यप्रयोगः । क-ख. नृत्तप्रयोगः संसृष्टो यस्ताण्डवमिति स्मृतः ।
क-अ. नृत्तप्रयोगः सृष्टोऽयं यत्ताण्डवमिति स्मृतम् ।
७. क-म. चक्रमुक्तस्य ।

सृष्ट्वेति। ननु स्मृतं नृत्तं सन्ध्याकालेष्वित्यनेनैतद्विरुद्धयते। न। स्थानकचारीनृत्तहस्तभ्रूताराकर्मादीनां वर्णानामिव प्रवाहानादित्वेऽपि विशिष्टपरमात्मना(नः) शोभाविशेषेण भगवता पुनः निर्माणं वेदानामिवेत्यविरोधः। वेदरचनापि हि वर्णानां नित्यत्वेऽपि प्रतिप्राणिस्थानकरणाभिघातसम्पत्त्यभिव्यक्तपौर्वापर्यनिबन्धना कृतका। सा परं पूर्वपूर्वरचनासजातीयत्वप्रवाहेणानित्या। तथा नृत्तमपीति न कश्चिद्विरोधः[1]।

दत्ता इति। या तन्त्र्या(स्वातन्त्र्य)मनुजानानो निजबुद्धिकृतं यत्तेन तत्र वैचित्र्यमनुप्रवेशितं न तद्दृष्टप्रतिघातीति दर्शयति। तेन शोभाप्राधान्यमेवात्र ज्याय इत्यनद्यतन इति यावल्लक्ष्यं न विरूपमिति मन्तव्यम्। मुनये इत्यूहापोहादिकुशलाय।

चकार पद से यह कहा गया है कि जब पिण्डीबन्ध की निष्पत्ति के उपायत्व दो करणों में विद्यमान है तो करणसमूह रूप कल्पित अङ्गहार भी पिण्डीबन्ध की निष्पत्ति के उपाय है। अतः उन अङ्गहारों के प्रयोग के लिए भी अनुज्ञा कह दी है। इसीलिए ही नृत्तमातृका का लक्षण और अङ्गहारों का सामान्य लक्षण बनाया है।

अभिनव-सृष्ट्वा इत्यादि—यहाँ पर 'सृष्ट्वा' अर्थात् रचना करके यह कहा गया है। अब प्रश्न उठता है कि नृत्त बहुत प्राचीन है। भगवान् 'शिव ने सन्ध्याकाल में उसका स्मरण किया था इस कथन से 'सृष्ट्वा' अर्थात् 'रचना करके' का विरोध परिलक्षित होता है। इस पर कहते हैं–नहीं। जैसे वर्णो के प्रवाह रूप से अनादि होने पर भी परमात्मा ब्रह्मा जी के द्वारा वेदों के निर्माण में कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार स्थानक, चारी, नृत्त, हाथ, भौंह, तारा आदि के कर्म में प्रवाहरूप से अनादिता होने पर भी विशिष्ट परमात्मा के द्वारा शोभा के विशेष हेतुभूत नृत्त का पुनः निर्माण किया, यह कहा गया है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं। जिस प्रकार वर्णों के नित्य होने पर भी प्रत्येक प्राणियों के मुखगत तालु आदि स्थान और प्रयत्न अभिघात से अभिव्यक्त वर्णों के पौर्वापर्य के कारण वेदों की रचना नवीन नहीं कही जाती और वह रचना पूर्वरचना के सजातीय रूप प्रवाह के कारण नित्य है उसी प्रकार नृत्त (नृत्य) भी नित्य है। इसलिए उक्त कथन से कोई विरोध नहीं है।

'दत्ता' अर्थात् दिया, उससे स्वतन्त्रता की अनुज्ञा देते हुए अपनी बुद्धि से उत्पन्न जो विचित्रता उसमें अनुप्रविष्ट की गई उससे दृष्ट फल का प्रतिघात नहीं होता, यह 'दत्ता' पद से दिखाया गया है। इसलिए यहाँ नृत्त में शोभा की प्रधानता ही श्रेष्ठ है, इसलिए आजभी लक्ष्य विकृत नहीं हुआ है, यह मानना चाहिए। मुनि का अर्थ है ऊहापोह अर्थात् तर्क-वितर्क में कुशल। अतः तर्क-वितर्क में कुशल मुनि को नृत्त की शिक्षा दी।

1. क. किञ्चिद्विरोधः।

हि यस्मात् अर्था यतो दत्ता: अतो नृत्तात्मकः प्रयोगः सम्यग्वैचित्र्येण । (स्पष्टः) सृष्टः । सम्यगिति समञ्चिततालसाम्यात्मिका[1] सञ्चेति (अञ्चन्ति) गच्छन्तीति सम्यग्भूतं यद्गानं गीतम् । भाण्डं भणति शब्दं करोतीति [2]भडितव्य इत्यनया वा पुष्कराध्यायोदितया व्युत्पत्त्या (तदादि)तदिति । इह तद्गीतं वाद्यं च सम्यगञ्चितं तदनुसारि । तत्प्रधानतया नृत्तप्रधानत्वेन गीतेन वाद्येन च समन्वितः । अत एव तण्डोरयं ताण्डव इति वैयाकरणैः स्मृतम् ।

अत्र भरतमुनिरेव परकीयामाशङ्कामुपनिबध्नाति । अनभिज्ञानाच्च मुनीनामभिनयादीनामप्यविदुषां कथम् 'अभिनयः कृत' इति गीतकार्थेति गीतेष्वासारितेष्विति च वचनोपपत्तिस्स्यात् । (न) । तस्मान्मुनिरेवेदं स्वयमाशङ्कते । पूर्वपक्षत्वेन वा शङ्केप्रमिति प्रकटयितुं [3]सुकुमारमिति (सुकुमारमतिभिः) मध्ये 'ऋषय ऊचुः' इति प्रक्षिप्तम् ।

क्योंकि शिव ने तण्डु मुनि को नृत की शिक्षा दी थी, इसलिए मुनि ने अच्छी तरह विचित्रता के साथ नृत्त का सम्पादन किया । 'सम्यक्' शब्द सम् और अञ्च् से मिलकर बनता है 'सम् अञ्चन्ति गच्छन्ति इति सम्यक्' । सम् का अर्थ है ताल और लय, उसे जो प्राप्त करता है वह सम्यक् है। इस प्रकार ताल और लयात्मक गान (गीत) और भाण्ड से समन्वित नृत्तप्रयोग । भाण्ड का अर्थ है वाद्ययन्त्र । 'भणति शब्दं करोति इति भाण्डम्' अर्थात् जो शब्द करता है ऐसे आनद्ध वाद्य को भाण्ड कहते हैं अथवा पुष्कराध्याय में कही गई व्युत्पत्ति के अनुसार भाण्ड-वाद्य है । (भणति इति भाण्डं पुष्करम्) । यहाँ पर गीत और वाद्य दोनों समन्वित होकर नृत्त का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार मुख्य (प्रधान) होने से नृत्त गीत और वाद्य से समन्वित होता है। इसीलिए वैयाकरणों ने 'तण्डोरयं ताण्डवः' अर्थात् तण्डु का यह कार्य ताण्डव है, यह व्युत्पत्ति की है ।। २६४-२६५ ।।

यहाँ पर भरतमुनि ही दूसरे की आशङ्का को उपस्थित करते हैं । मुनियों को अभिज्ञान अर्थात् अभिनय के विषय में जानकारी न होने से अभिनय के अजानकार लोगों द्वारा 'अभिनय किया' 'गायन किया' तथा 'गीतेष्वासारितेषु' (आसारित गीतों में) इन वचनों की उपपत्ति कैसे होगी ? इसलिए मुनि स्वयं आशङ्का करते हैं अथवा पूर्वपक्ष के रूप में इस आशङ्का को प्रकट करने के लिए सुकुमारता की बुद्धि से दो श्लोकों के बीच में 'ऋषय' ऊचुः' (ऋषियों ने कहा) यह प्रक्षिप्त कर दिया है ।

---

१. साम्यातिका ।

२. क-भडितव्याण्ण ।

३. क–म. सुकुमारमतिर्हि मध्ये ।

तत्रेत्थमाशङ्का। नृत्तं नाटचाद्भिन्नमभिन्नं वा। भिन्नत्वेऽपि सप्रयोजनमप्रयोजनं वा। न तावद्भिन्नम्। अङ्गविक्षेपनृत्तगीतवत्त्वेनावैलक्षण्यात्। अभिनयप्रयोगस्य गीयमानपदार्थवाक्यार्थगतनाटचविषयस्य[1]भाव्यविकलस्य दर्शनमस्ति तावत्। अवान्तरवैलक्षण्यं च दर्शनरूपके न विद्यते। एकपात्रहार्ये[2] त्वसन्निहितेऽपि न [3]प्रियतमसखीप्रभृतौ तद्विषयोक्तिप्रत्युक्त्यादिप्रयोगो नाट्येऽपि। आकाशभाषितादौ भाणरूपके च विद्यते। ते च यथाह राहुलः—

[4]"परोक्षोऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत्प्रियः।
सखी च नाटचधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्"॥ इति।

तथा—

भाणे चैकाकी वा यो योज्योऽनेकाङ्गहारिणि। मुनिना हि वक्ष्यते 'भाणकवच्चैकहार्यं स्यात्" इति। वार्तिककृताऽप्युक्तम्—

"वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्रविक्षेपैः।
उभयोरपि हि समाने को भेदो [5]नृत्तनाटचयोः"॥

मुनि स्वयं आशङ्का करते हैं। उनकी आशङ्का यह है कि नृत्त क्या नाट्य से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है तो किसी प्रयोजन से अथवा निष्प्रयोजन? इनमें प्रथम पक्ष कि नृत्त नाट्य से भिन्न है, यह ठीक नहीं। नृत्त नाट्य से भिन्न नहीं है। अङ्गविक्षेपरूप नृत्त और गीतवत्ता होने से नाट्य नृत्त से बिलक्षण नहीं है। नाट्य में गीयमान वाक्यार्थ रूप अभिनय का अविकल रूप से दर्शन होना है। दश रूपकों में अवान्तर वैलक्षण्य नहीं है। क्योंकि एक पात्र द्वारा अभिनेय नाट्य में (रूपकों में) प्रियतम, सखी प्रभृति पात्रों के पास में न होने पर भी उनकी उक्ति और प्रत्युक्ति आदि का प्रयोग आकाशभाषित और भाण आदि रूपकों में रहता है। जैसाकि राहुल ने कहा है—

"परोक्ष में भी नारी को प्रत्यक्ष की तरह प्रिय को प्रिय तथा सखी को सखी कहना चाहिए। यह नाट्यधर्म है। भरत ने दोनों को कहा है।"

और भी—

अनेक अङ्गों से मनोहर एक पात्र द्वारा अभिनय करना चाहिये। जैसा कि मुनि भी आगे कहेंगे—"भाण के समान एकपात्र द्वारा अभिनेय रूपक होता है।" वार्तिककार ने भी कहा है—

१. क–नाठ्यार्थगतविषयत्वे। २. क-एकपात्राहार्यं।
३. क. प्रियसमसखिप्रवृत्तौ। ४. क. परोक्षेऽपि च।
५. क नृत्तनाटचगतः।

अत्रोच्यते। (यदि साक्षाद्बुद्ध्यभावान्न नाट्यं तदसत्। इयं प्रियतम-गुणकीर्तनपरा नृत्यति। खण्डिता नृत्यति। कलहान्तरिता नृत्यति इति बुद्धेः सम्भवात्। यदाह—

"या चैवंविधगुणकीर्तनवचनेषु प्रियतमस्य संरक्ता।
सख्याः समक्षमुच्चैः प्रमदा सैवानुकार्याऽत्र"॥

एतेनोत्साहगातव्यानामर्थेऽनुकार्यत्वं दर्शितम्।

अथ [1]गीयमानरूपकाभिनयदर्शनात् नाट्यतो वैलक्षण्यं न तत्तावत्। वैलक्षण्यमात्रप्रयोजकावान्तरभेदस्य सर्वत्र सम्भवादिति ह्युक्तम्। न चेवं वैलक्षण्यम्। नाट्येऽपि तस्य भावात्। वक्ष्यते [2]चाङ्गोपाङ्गकशारीराभिनय-लक्षणविधौ।

"स्थाने ध्रुवास्वभिनयो यत् क्रियते हर्षशोकरोषाद्यैः।
भावरससप्रयुक्तं ज्ञेयं नाट्यायितं तच्च"॥ इति। (ना. शा. २२-४७)

"नाट्य में (अभिनय) में वाणी का अनुगमन करते हुए अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए गात्रविक्षेप होता है और नृत्त में भी गात्रविक्षेप किया जाता है। इस प्रकार जब दोनों में समानता है तो नाट्य और नृत्त में अन्तर क्या है?"

इस पर कहते हैं कि नृत्त में साक्षात् बुद्धि प्रत्यक्ष ज्ञान न होने से नृत्त नाट्य नहीं हो सकता, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रियतम के गुणों के कीर्त्तन में तत्पर हुई यह नायिका नाच रही है, यह खण्डिता नायिका नाच रही है, यह कलहान्तरिता नाच रही है, इस प्रकार की साक्षात्बुद्धि सम्भव है। जैसाकि कहा है—

"जो प्रमदा (नायिका) सखी के समक्ष प्रियतम के इस प्रकार के गुणों के कीर्त्तन में अनुरक्त है वही नायिका अनुकरणीय है।"

इससे उत्साहमय गीतों के अर्थ का अनुकार्यत्व दिखाया गया है अर्थात् यहाँ यह दिखाया गया है कि गेय (गीयमान) अर्थ अनुकरणीय है।

यदि यह कहा जाय कि गीयमान वर्थ वाले रूपकों में अभिनय का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से नाट्य से नृत्त विलक्षण होता है, यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि वैलक्षण्य मात्र का (केवल विलक्षणता) का प्रयोजन अवान्तर भेद सब जगह सम्भव है, यह कहा जा चुका है। किन्तु यह विलक्षणता नहीं है। क्योंकि नाट्य में भी तो वह विलक्षणता होती है। यह सब अङ्गोपाङ्ग अर्थात् आङ्गिक शरीराभिनय के लक्षण प्रतिपादन के अवसर पर कहेंगे।

"ध्रुवाओं में हर्ष, शोक, रोष आदि से युक्त जो अभिनय किया जाता है, भाव एवं रसों से युक्त वह अभिनय ही नाट्य कहा जाता है।" (ना० शा० २२।४७)।

---

१. क-म. गीयमानं नाट्याभिनयदर्शनात्।
२. क-म. पाद्यकशारीराभिनय लक्षणविधौ।

उपरञ्जकमपि तत्र गीतं नाट्यायितं रूपकं वाद्याभिनययोश्च व्यक्त इति। तत्प्रयोगस्य (तत्प्रयोगश्च) सर्वत्र। डोम्बिकाप्रस्थानषिद्गकभाणकभाणिकाराग-काव्यादेर्दशरूपकलक्षणेनासङ्ग्रहान्नाट्याद्भेद इति चेत्। तदैकान्तिकम्। तोटक-प्रकरणिकारासकप्रभृतेस्तदसङ्गृहीतस्यापि नाट्यरूपत्वात् "कोहलस्तु ब्रवीति" इति च परिहारस्य समानत्वात्। वाचिकोऽप्यभिनय आसीनपाठ्यादौ क्वचिद-स्त्येव। "अहो गाणगाणबुल्लिभाण" इत्यादौ। आहार्यस्तु प्राधान्येनैकः कृतः भाणादावपि न क्षणे क्षणे परिवर्तते। सात्त्विकोऽप्यङ्गीकृत एव कोहलाद्यैः "सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयः" इत्यादिवचनमालिखद्भिः। आङ्गिकस्तु स्फुट एव। अस्त्री(अन्यस्त्री) [1]डोम्बिकाषिद्गकानामन्योन्यानन्वितत्वं वाक्यानामिव। समवा-कारेऽपि अङ्गानामस्त्रीप्रधानेऽर्थे तत्रान्वय इति चेदिहापि समानम्। देवतास्तुतेः स्त्रीपुंभावाश्रयस्य च शृङ्गारस्य सर्वानुगमात्तस्यैव च प्राधान्याद्वक्ष्यति—"देव-स्तुत्याश्रयकृतं स्त्रीपुंभावसमाश्रयम्"। इति। अत एव च चूडामणिडोम्बिकायां प्रतिज्ञातं "बिंदुगुणं वमि सहि इहोदिवत्रो अमिदुणधं। महसारकः गेते उं (?)"। अत एव सहृदया: स्मरन्ति "वध(स)मचूडामणिआ" (इति।) तस्मान्नृत्तं [2]नाट्यदभिन्नं तल्लक्षणोपेतत्वात्।

वहाँ पर उपरञ्जक गीत भी नाट्यरूप है, क्योंकि वह वाद्य और अभिनय के द्वारा व्यक्त होता है। उसका प्रयोग सब जगह होता है। डोम्बिका, प्रस्थान, षिद्गक, भाण, भाणिका आदि रागकाव्यों का दशरूपक के लक्षण के अनुसार ग्रहण नहीं होता है, अतः उनका नाट्य से भेद है। किन्तु यह कथन एकान्तिक है। क्योंकि तोटक, प्रकरणिका, रासक आदि भी दशरूपक लक्षण से गृहीत नहीं हैं, किन्तु वे नाट्यरूप होते ही हैं। 'कोहल तो कहते हैं, यह परिहार दोनों जगह समान है। वाचिक अभिनय भी आसीन पाठ्य आदि में कहीं रहता ही है। जैसे, 'अहो ! गाओ गाओ इत्यादि में। आहार्य अभिनय तो प्रधान रूप से एक है, भाण आदि में भी क्षण-क्षण वेश-परिवर्त्तन नहीं होता। "सात्त्विक अतिरिक्त अभिनय है' इत्यादि वचन को लिखने वाले कोहल आदि आचार्यो ने भी सात्त्विक अभिनय को स्वीकार किया है। आङ्गिक अभिनय तो स्पष्ट ही है। प्रधान डोम्बिका, षिद्गक आदि नृत्तात्मक रागकाव्य वाक्यों के समान परस्पर अनन्वित रहते हैं। यदि जिसमें स्त्री प्रधान नहीं है, ऐसे समवकार में भी अङ्गों का अन्वय होता है तो वह यहाँ भी है। अतः दोनों में समानता है। देवताओं की स्तुति और स्त्रीपुंभाव के आश्रित शृङ्गार के सब जगह अनुगम होने से और उसी को प्रधानता होने से आगे कहेंगे—"देवस्तुत्याश्रयकृतमित्यादि"। इसलिए 'चूड़ामणि-डोम्बिका' में प्रतिज्ञा की है "बिंदुगुणं" इति। इसलिए सहृदय लोग कहते हैं—"समचूड़ामणिआ" इत्यादि। इसलिए नृत्त नाट्य से भिन्न नहीं होता है।

१. क-म. डोम्बी काचिद् ग्रन्थकाठिन्यानन्वितत्वं।

२. क-म. नाट्याद्भिन्नम्।

ऋषय ऊचुः—

[1]यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः कृतः[2] ।
[3]कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतत्कं स्वभावमपेक्षते ॥ २६७ ॥
[4]न गीतकार्थसम्बद्धं न चाप्यर्थस्य भावकम् ।
[5]कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतद्गीतेष्वासारितेषु च ॥ २६८ ॥

एतदाह—यदा प्राप्त्यर्थमिति । यतो हेतोरर्थानां काव्यार्थानां प्राप्त्यर्थं साक्षात्कारबुद्ध्या स्वीकारार्थं तज्ज्ञैः प्रयोक्तृभिराङ्गिकाद्यभिनयः कृतः । तत्र त(क)स्मादेतन्नतं कृतम् । नृत्तशब्देन व्यपदिष्टम् । न तु नाट्यशब्देनैवेत्यर्थः । भवतु वा भिन्नं तथापि कं स्वभावं लक्षणं च स्वात्मन्यङ्गीकरोति । लौकिकत्वं लोकोत्तरत्वं वा । लौकिकत्वे घटादिवस्तुतुल्यत्वं तदनुकारत्वं प्रतिबिम्बादिरूपता वा । तत्रापि नाट्याच्छायात्मकतैव । नाट्यस्यैव ह्यमी भागनिष्पन्दाश्चित्रपुत्रिका-पुस्तप्रभृतयो ग्रन्थकारकल्पिताः साक्षात्कारकल्पप्रत्ययसम्पदा कथापर्यन्तम् । तथा लोकोत्तरत्वे न तु नाट्यस्यैवावान्तरभेदभावं तत् ।

ऋषियों ने कहा—

अनुवाद—जब अर्थों को प्राप्त करने के लिए नाट्यवेत्ताओं ने अभिनव की योजना की तो उन्होंने नृत्त की सर्जना किसलिए की और उसके स्वभाव (स्वरूप, प्रकृति) की अपेक्षा क्या थी ? यह नृत्त न तो गीत के अर्थ से सम्बन्ध रखता है और न उसके अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो उसे आसारित गीतों से सम्बद्ध क्यों रचा गया ? ॥ २६७-२६८ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस कारण से काव्यार्थ की प्राप्ति के लिए अर्थात् साक्षात्कार बुद्धि के द्वारा उसे स्वीकार करने के लिए नाट्यप्रयोक्ताओं ने आङ्गिकादि अभिनय की योजना की तो उसी समय इस वृत्त को भी रचना की और उसे नृत्तशब्द से व्यपदिष्ट किया, तो नाट्यशब्द से व्यपदिष्ट क्यों नहीं किया ?

---

१. क-अ यथा ।   २. क-ब स्मृतः ।

३. ख. तस्मान्नृत्ते कृते ह्येतत् तत्स्वभावमपेक्षते ।
क-म. तस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतत्कं वा भावमपेक्षते ।
ग. तस्मन्नृत्तं कृत्तं ह्येतत्कं स्वभावमपेक्षते ।

४. ख. न. गीतकार्थसम्बन्धो न वाच्यार्थस्य भावकम् ।
घ. न. गीतकार्थसम्बद्धं न वाच्यार्थस्य भावकम् ।

५. क-त. म. तस्मान्नृत्तं कृतम् ।

तथाविधमपि च तन्न निष्प्रयोजनम् । तद्भावाद्युपलक्षणीयं स्यात् । असिद्धमेतत्—चतुर्वर्गोपदेशस्य राघवविजयादिकरागकाव्येषु दृष्टत्वात् । डोम्बिकादौ तु कामस्यैव प्रच्छन्नरागपरमरहस्योपदेशात् । "यद्वामाभिनिवेशित्वम्" (ना. शा. २२-१९९) इत्यनेन सामान्याभिनये प्रच्छन्नरागस्यातीव देव(मन्मथ)सारसर्वस्वत्वेनाभिधानात् । [1]सिहसूकरभल्लूककासरादिवर्णनेनापि भाणप्रेरणभाणिकादावप्रस्तुतप्रशंसार्थान्तरन्यासदृष्टान्तादिना पुरुषार्थस्यैवोपदेशदर्शनादिति प्रयोजनभेदादपि न भेदः । यदा यतोऽर्थानां प्राप्त्यर्थं तज्ज्ञैरनृता(नुवा) दिभिः (नृत्तानुरागिभिः) कविभिरभिनय इत्यभिनीयमानो रागकाव्यादिः कृतः ।

अथवा पाठभेद के अनुसार इस नृत्त की रचना क्यों की ? अच्छा नृत्त नाट्य से भिन्न है, यह मान लिया जाय तो वह किस स्वभाव (स्वरूप या धर्म) और लक्षण को अपने में स्वीकार करता है ? लौकिक मानने पर भी यदि वह घट आदि वस्तुओं के तुल्य है या उसका अनुकारी या प्रतिबिम्ब रूप है तो वह नाट्य का छायारूप ही है । ये साक्षात्कारकल्प ज्ञानसम्पदा के आधार पर ग्रन्थकार द्वारा कल्पित चित्र, पुत्रिका (गुडियाँ) तथा पुस्त (पुत्तलियाँ) आदि स्वरूप से लेकर कायापर्यन्त सभी नाट्य के ही भाग हैं, निष्यन्द हैं । लोकोत्तर मानने पर तो वह नाट्य के ही अवान्तरभेदमात्र हैं ।

ऐसा मान लेने पर भी वह निष्प्रयोजन नहीं है । उसके भाव आदि उपलक्षणीय होंगे । उसे निष्प्रयोजन कहना असिद्ध है । क्योंकि राघवविजय आदि रागकाव्यों में में भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारो वर्गो का उपदेश देखा जाता है । डोम्बिका आदि में तो काम के ही परम रहस्य प्रच्छन्न राग का उपदेश है । जैसा कि "यद्वामाभिनिवेशित्वादि" अर्थात् "जिससे स्त्रियों में आसक्ति होती है और जिससे उसका निवारण होता है और जो स्त्रियों के लिए दुर्लभ है वह काम की परम रति है ।" ना० शा० २२।२०७) । इसके द्वारा सामान्याभिनय में प्रच्छन्न राग (रति) को काम का सर्वस्व कहा गया है । इसी प्रकार भाण, प्रस्थान, भाणिका आदि में सिंह, सुअर भालू, भैंसा आदि के वर्णन से भी अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त आदि के द्वारा पुरुषार्थ का ही उपदेश देखा गया है, अतः भिन्न प्रयोजन होने पर भी भेद नहीं है । जब प्रयोजन आदि अर्थो को प्राप्त करने के लिए नृत्य के अनुरागी नृत्तवेत्ताओं ने अभिनय की बुद्धि से अभिनीयमान काव्यों का निर्माण किया है तो किस कारण से यह नृत्त नाट्य नहीं हो सकता और नाट्य क्यों नहीं हो सकता ? ये दोनों ही गात्रविक्षेप रूप हैं अर्थात् नाट्य में भी गात्रविक्षेप होता है और नृत्त में भी गात्रविक्षेप होता है । जब दोनो समानार्थक हैं अर्थात् जब दोनों का अर्थ समान है तो किस भेदक स्वभाव की अपेक्षा है । अतः यह भिन्न स्वभाव वाला नहीं है । जैसाकि वार्त्तिक है—

१. क-म. हस्तकरद्वयकापारादिवर्णनेनापि ।

तस्मात्कस्माद्धेतोरेतन्नृत्तं न नाट्यम्। नाट्यं च कस्मान्न नृत्तम्। गात्रविक्षेपात्मकं हि तदपि। तुल्ये च तथाऽर्थे कं भेदकं स्वभावमपेक्षते। नास्त्यसौ भिन्नस्वभाव इति यावत्। यद्वार्तिकम्—

एवमवान्तरवाक्यैरुपदेशो रागदर्शनीयेषु।
सिंहादिवर्णनैर्वा क्वचिदप्यर्थान्तरन्यासात्॥" इति॥

तस्मात्स्वभावस्य प्रयोजनस्य चाभेदान्नृत्तं नाट्यादभिन्नमिति।

अथोच्यते—[1]राघवविजयादिरागकाव्यादिप्रयोगो नाट्यमेव। अभिनययोगात्। यत्त्वभिनयादिशून्यं केवलं वलनावर्तनाभ्रूक्षेपताराचलनचरणधारणकम्पस्फुरितकटिच्छेदरेचकादि तदस्माकं नृत्तं भविष्यति। यत्र नाट्यशङ्कापि नास्ति। ननु किं तेनोत्प्रेक्षितेन[2] (तेन प्रेक्षितेन वा) प्रयोजनम्। ननूक्तं नाट्योपयोगित्वं—

"तस्य शाखा च नृत्तं व तथैवाङ्कुर एव च।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः"॥ इति। (ना. शा. ८-१५)

एतद् दूषयति—यदा प्राप्त्यर्थमिति। इह "योऽयं स्वभावो लोकस्य" इति (ना. शा. १-११९) लक्षणेन नाट्यं लक्षितम्। तत्राभिनयानामुपयोग उक्तार्थाभिमुख्यप्राप्तिः। नृत्तस्य तूक्तरूपस्य न किञ्चित्प्रयोजनम्। उपरञ्जकतया गीतवाद्यादिवदुपयोग इति चेत्—गीतस्य तावत्—

"यत्तु काव्येन नोक्तं स्यात्तद्गीतेन प्रसाधयेत्॥" इति

"इस प्रकार रागकाव्यों में अवान्तर वाक्यों के द्वारा अथवा सिंहादि के वर्णनों के द्वारा अथवा कहीं अर्थान्तरन्यास के द्वारा उपदेश दिया गया है।"

इसलिए स्वभाव (स्वरूप) और प्रयोजनों के भिन्न न होने से नृत्त नाट्य से भिन्न नहीं है अर्थात् नृत्त नाट्य से अभिन्न है।

यदि यह कहा जाय कि राघवविजय आदि रागकाव्यों का प्रयोग नाट्य है, क्योंकि उसमें अभिनय होता है तो जो अभिनय से शून्य केवल वलन, आवर्त्तन, भ्रूक्षेप, तारा का चलन, चरण-न्यास, कम्प, स्फुरित, कटिच्छेद, रेचक आदि हैं वे हमारे मत में नृत्त ही होंगे। जहाँ पर नाट्य की आशङ्का नहीं है वहां उत्प्रेक्षा (सम्भावना) करने का क्या प्रयोजन है? नृत्त को नाट्य का उपयोगी है, यह तो कहा जा चुका है—

"नाट्य प्रयोक्ताओं को अभिनय के तीन अङ्गों शाखा, नृत्त और अङ्कुर को जानना चाहिए।" (ना. शा. ८।१५)।

१. क-म. इदं नास्ति। २. क. तेन मोक्षितेन वा।

"यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात्" इति "न तैरेव तु वाक्यार्थैः" इति न्यायेन प्रकृतिचित्तवृत्तिकथावस्थादि सूचयतोऽस्त्युपयोगः। वाद्यस्यापि गीतसाम्याक्षिप्ततालोद्दीपकत्वेन। एतन्मध्यात्तु नृत्तं कर्तृ कं स्वभावमपेक्षते। न युद्धनियुद्धगतिपरिक्रमादावस्योपयोग इत्युक्तम्। तत्रापि कं स्वभावं लौकिकमलौकिकं वाऽपेक्षते। लौकिकत्वे प्रयोज्यत्वेन लोकधर्म्या सङ्ग्रहोऽस्य। चारीमण्डलादिक्रमेण च तस्याङ्ग एव निरूपणं भविष्यति। अथाप्यलौकिकस्तथापि सिद्धम्। 'ऊर्ध्वेन तु कुर्यात्' इत्यादिचतुरहस्ताभिनेतव्यविषयविभागन्यायेनाभ्यधिकं सुन्दरोपरञ्जकभागानुप्रवेशे पुनरपि नाट्यादभ्यधिकता।

अथोच्यते—पूर्वरङ्गप्रयोगस्य वैचित्र्यसिद्ध्यं तदेतदिति। तत्रापि पूर्वरङ्गप्रयोज्यया ब्रह्मगीत्या साकम्। (अथाङ्गाङ्गिभावेन) अस्याङ्गाङ्गिभावेन वा। [1]तत्राद्ये पक्षे स्यादसामञ्जस्यम्। अन्त्ये तु पक्षे [2]कथमाङ्गिकहस्तचार्याद्यभावः।

इसमें दोष दिखाते हैं—"जब अर्थों की प्राप्ति के लिए।" यहाँ पर 'योऽयं लोकस्य' अर्थात् "लोक का जो यह सुखदुःखमय स्वभाव है वही आङ्गिक आदि अभिनयों से युक्त 'नाट्य' कहा जाता है" इत्यादि लक्षण से लक्षित नाट्य है। वहाँ अभिनयों के उपयोग में पूर्वोक्त प्रयोजनों की अनुकूल प्राप्ति होती है। किन्तु उक्तरूप नृत्त का तो कोई प्रयोजन नहीं है। यदि यह कहा जाय कि गीत, वाद्य आदि के समान उपरञ्जक होने से उसका उपयोग है तो गीत का तो—

"जो काव्य के द्वारा नहीं कहा जा सकता, उसे गीत के द्वारा सिद्ध करें।"

और भी "जिसे वाक्य के द्वारा नहीं कह सकते" और "उन्हीं वाक्यार्थों से जिसे नहीं कह सकते" इस न्याय से लोगों की चित्तवृत्ति, कथा, अवस्था आदि को गीत द्वारा सूचित किया जाता है। गीत साम्य अथवा गीत और लय के लिए अपेक्षित ताल के उद्दीपक रूप में वाद्य का भी उपयोग है। किन्तु इसमें से नृत्त किस स्वरूप की अपेक्षा करता है। युद्ध, नियुद्ध, गति, परिक्रम आदि में इसका कोई उपयोग नहीं है। यह कहा जा चुका है। उनमें भी किस स्वरूप की अपेक्षा है। लौकिक अथवा अलौकिक? लौकिक स्वरूप को प्रयोज्य रूप में मानने पर लोकधर्मी के रूप में इसका संग्रह हो जायगा। चारी, मण्डल आदि के क्रम से उसका अङ्ग में ही निरूपण हो जायगा - यदि यह कहें कि यह अलौकिक है तो भी सिद्ध ही है। 'ऊर्ध्वेन तु कुर्यात्' इत्यादि लक्षण वाले चतुरहस्त से इसका अभिनय करना चाहिए, तो विषय-विभाग के सिद्धान्त से अधिक है और नाट्यधर्मी के अनुप्रवेश में सुन्दर उपरञ्जक भाग का अनुप्रवेश कर देने से फिर भी नाट्य से अधिकता है।

१. क-म. तत्राद्यपक्षेऽस्य नासामञ्जस्यम्।
२. क. कथमाहितहस्तचार्याद्यभावः।

तदुक्तम्—

'महागीतेषु चैवार्थान् सम्यगेवाभिनेष्यति ।" इति (ना. शा. ४-१५)।

अत्राह – यदा प्राप्त्यर्थमिति । अर्थानां गीतकपदाभिधेयानां प्राप्त्यर्थमभिमुखं नयनार्थम् । यद्ययं नृत्ताभिमतोऽभिनयो विहतस्तत्कस्मादभिनयत्वे तुल्ये नृत्तमेतन्न नाट्यम् । तथाहि—गीतकार्थाभिनये कर्तव्ये [1]कमन्यमाङ्गिकहस्तचार्याद्यभिनयव्यतिरिक्तं स्वभावमपेक्षते । न कञ्चिदन्यमित्यर्थः ।

अथोच्यते—न गीतकादिपदार्थाभिनयतयाऽस्योपयोग इति । किन्तर्ह्यन्यथा गीतकादावस्योपयोग इति । तत्राह—

यहाँ पर कहा जाता है कि पूर्वरङ्ग के प्रयोग की विचित्रता को सिद्धि के लिए यह नृत्त है अर्थात् पूर्वरङ्ग में वैचित्र्य, सौन्दर्य लाने के लिए नृत्त का प्रयोग होता है। वहां पर भी यह प्रश्न उठता है कि पूर्वरङ्ग में प्रयोज्य ब्रह्मगीति के साथ इसका प्रयोग होगा अथवा अङ्गाङ्गीभाव से ? इनमें प्रथम पक्ष अर्थात् ब्रह्मगीति के साथ इसका प्रयोग मानने पर असामञ्जस्य होगा और अन्तिम पक्ष अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से प्रयोग मानने पर आङ्गिक अभिनय हस्त, चारी आदि का अभाव कैसे होगा ?

विमर्श—यहाँ पर पाठभेद से 'आङ्गिक' के स्थान पर 'आहित' पाठ भी मिलता है। 'आहित' का अर्थ है उससे जुड़ा हुआ। इस प्रकार इसका अर्थ होगा कि अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से प्रयोग मानने पर उससे सम्बद्ध अर्थात् नृत्त से सम्बन्ध हस्त तथा चारी आदि का अभाव कैसे होगा ?

इसलिए कहा गया है—

"महागीतों में भी इन नृत्त की विधियों का अच्छी तरह अभिनय करोगे"।
(ना. शा. ४।१५)।

यहाँ पर यह कहते हैं—"जब अर्थों की प्राप्ति के लिए" अर्थात् गीतक पद से अभिधेय (वाच्य) अर्थों की प्राप्ति के लिए अर्थात् अभिमुख नयन के लिए यदि यह नृत्त अभिमत अभिनय विहित है तो अभिनय के तुल्य होने पर यह नृत्त नाट्य क्यों नहीं मान लिया जाता ? और भी गीतक पद से वाच्य अर्थों के करणीय अभिनय में हस्त, पाद, चारी आदि आङ्गिक अभिनयों के अतिरिक्त किस अन्य स्वरूप की अपेक्षा है अर्थात् किसी और स्वरूप (स्वभाव) की अपेक्षा नहीं है।

यहाँ यह कहा जाता हैं कि गीतक आदि पदार्थो के अभिनय के रूप में इसका उपयोग है, अन्यथा गीतक आदि के प्रयोग में इसका उपयोग क्यों होता ? इस पर कहते हैं—

१. क. कमन्यमाङ्गिकहस्तकार्याद्यभिनयव्यतिरिक्तं ।

न गीतकार्थसम्बद्धं न चाप्यर्थस्य भावकमिति ।

इह गीतकार्थास्तदारम्भकाः वस्त्वङ्गप्रभृतयः । तेषु न संबद्धं तन्मध्ये न परिगणितमित्यर्थः । यदि ह्यङ्गवस्त्वादितन्मध्यपरिगणनमस्य भवेन्न तद्भवेदप्यन्यतदुपयोगस्तदारम्भकत्वात् । नचैतदुपगतम् । न च युक्तम् । नृत्तस्य गीतद्वितीयजातीयत्वात् ।

ननु यथा तत्सुषिरादिवाद्यं तदङ्गसम्बद्धमपि तत्रोपयोगि तथेदं भविष्यतीत्याशङ्क्याह – न चाप्यर्थस्येति । [1]अर्थ्यते प्रधानतया गीतकादौ निरूप्यत इत्यर्थः । स्वरूपपदतालादिः । तस्याप्येतद्भावकं प्रापकं न भवति ।

एतदुक्तं भवति—स्वरात्मके भागे प्रतिबिम्बरूपतया लग्नस्वरत्वेन स्थानप्रदायितया स्वरपरमार्थप्रापकतया स्वरात्मगीतिभागे स्तुतः सुषिरोपयोगः । अवनद्धस्यापि तत्साम्योपायतालांशप्रापकत्वेन पदपातादभिधेयोपयोगित्वेऽप्यभिनयरूपया (भिनयरूपतया) नाट्यावभेद एव स्यादित्युक्तम् ।

"नृत्त न तो गीत के अर्थों से सम्बन्ध रखता है और न गीत के अर्थ का भावक (प्रापक) है ।" (ना, शा. ४।२६३) ।

यहां पर गीतक अर्थ के आरम्भक वस्तु और अङ्ग प्रभृति हैं । उनसे इनका कोई सम्बन्ध नही है अर्थात् उनके बीच में इसका परिगणन नहीं है । यदि यह अङ्ग और वस्तु रूप होता तो इसमें इसका परिगणन अवश्य होता, किन्तु ऐसा है नहीं यदि ऐसा होता तो आरम्भक होने से इसका कुछ और उपयोग होता । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि नृत्त गीत की अपेक्षा विजातीय है ।

अब जिस प्रकार सुषिर आदि वाद्य का गीत के अङ्गो से सम्बद्ध होने से वहाँ उनका उपयोग होता है । इसी प्रकार इसका भी उपयोग होगा, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—'गीत के अर्थ का भावक (प्रकाशक) भी नहीं होगा ? अर्थ्यते, अर्थात् प्रधान रूप से गीतक आदि में जिनका निरूपण किया जाता है, वे स्वर, पद, ताल आदि हैं । इसका भी यह (नृत्त) भावक (प्रकाशक) नहीं है ।

यह कहा गया है—सुषिर वाद्यों के स्वरात्मक गीति भाग का प्रतिबिम्ब रूप होने से, स्थान (तान) के प्रदाता के रूप में स्वर के साथ संलग्न (सम्बद्ध) होने से स्वर के परम अर्थ का प्रकाशक होने से स्वरात्मक गीतिभाग में उनका (सुषिर वाद्यों का) उपयोग संस्तुत है अर्थात् सुषिर वाद्य स्वरात्मक गीति भाग का प्रतिबिम्ब है, स्वर से सम्बद्ध होने से तान का प्रदाता है, और स्वर के परम अर्थ (उपरञ्जन) का प्रकाशक है अतः सुषिर वाद्य का उपयोग स्वरात्मक गीतिभाग में प्रस्तुत है । अवनद्ध वाद्यों के भी गीत साम्य के उपायभूत ताल रूप अंश के प्रकाशक

१. क-म. अन्ये तु प्रधानतया ।

[भरतः]—

अत्रोच्यते न खल्वर्थं कञ्चिन्नृत्तमपेक्षते[1] ।
किं तु शोभां [2]प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितम् ॥ २६९ ॥

अथोच्यते रेचकाङ्गहारनिबन्धात्मकं यन्नृत्तं न तेन कश्चिदर्थोऽभिनीयते । अपि तु यथा विशिष्टैर्मन्त्रैः भावनाविशेषैश्चाभ्युदयसिद्धिः तथा विशिष्टदेवता-सूचकैर्मन्त्रैस्तथा तद्गीते चाभ्यधायि । [3]ब्रह्मगीताङ्गवस्तुषु सप्तविंशति-सङ्ख्येष्वासारितेषु वर्धमानारम्भकेषु चतुर्षु चकारात्पाणिकायामित्येतेषु सम्बद्ध-मेतदङ्गहारात्मकं द्वात्रिंशत्कारं नृत्तमिति तत्सम्बन्धश्चेदानीं न किञ्चित् । पृथङ्नृत्तकाव्यादौ (पृथङ्निवृत्तकाव्यादौ) नाट्यरूपतैव । नाट्योपयोगित्वेनापि नृत्ततालगीतकाद्युपयोगोऽपि दुर्घट इति त्रिधा पूर्वपक्षसंक्षेपः ॥ २६७-२६८ ॥

एतत्परिहर्तुमाह - अत्रोच्यत इत्यादिश्लोकत्रयेण ।

होने से, पदपात से अभिधेय के उपयोगो होने पर भी अभिनय रूप होने से नृत्त को नाट्य से अभिन्नता ही है। भाव यह कि स्वरात्मक गीतिभाग में अवनद्ध वाद्य की भो उपयोगिता है। अवनद्ध वाद्य स्वर और लय के उपाय भूतकाल के प्रकाशक हैं। पदपात अर्थात् गात्रविक्षेप होने से नृत्त नाट्य से अभिन्न है।

कहा जाता हैं कि रेचक एवं अङ्गहारों का निबन्ध रूप जो वृत्त है, उससे किसो अर्थ का अभिनय नहीं होता, अपितु जिस प्रकार विशिष्ट मन्त्रों से और भावना विशेष के द्वारा विशिष्ट देवता के सूचक मन्त्रों से अभ्युदय की सिद्धि होती है उसी प्रकार उस देवता के गीत में भी सिद्धि कही गयी है। ब्रह्मगीत के अङ्ग वस्तु आसारित, बर्धमानक और पणिका इनसे सम्बन्ध अङ्गहार रूप नृत्त बत्तीस प्रकार का होता है, किन्तु उनका सम्बन्ध इस समय कुछ नहीं है। इस प्रकार अलग सम्पन्न होने वाले नृत्तरूप रागकाव्य आदि नाट्यरूप ही हैं। नाट्य के उपयोगी होने पर भी नृत्त, ताल, गोतक आदि का उपयोग भी दुर्घट है। इस प्रकार तीन प्रकार का पूर्वपक्ष का संक्षेप है, सार है ॥ २६७-२६८ ॥

अभिनव—पूर्वपक्ष की शङ्का का परिहार करने के लिए 'अत्रोच्यते' इत्यादि तीन श्लोकों से कहते हैं—

भरत ने कहा

अनुवाद—यहाँ जो कहा जाता है कि नृत्त किसी अर्थं की अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु शोभा को उत्पन्न करता है, इसलिए उसका प्रवर्त्तन किया गया है ।२६९।

---

१. ख. घ. नृत्त कञ्चिदपेक्षते ।

२. ख. घ जनयतीत्यतो नृत्तमिदं स्मृतम् । ग. जनयतीत्यतो नृत्यं प्रवर्त्तितम् ।
क-म. जनयतामिति नृत्तं प्रवर्त्तितम् ।

३. क. भवाभगीताद्यङ्गवस्तुषु । क-म. भवाभगिनीतरङ्गवस्तुषु ।

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः ।
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ २७० ॥

[1]विवाहप्रसवाहप्रमोदाभ्युदयादिषु ।
[2]विनोदकारणं चेति नृत्तमेतत्प्रवर्तितम् ॥ १७१ ॥

अस्मिन्पूर्वपक्षे तूच्यते प्रत्युत्तरमिति शेषः । तत्र यदुक्तमङ्गविक्षेपनृत्तगीतमयत्वान्नाट्यादेर्भेदो (नाट्यादभेदो) रागकाव्यादिनृत्तस्येति तदनैकान्तिक(त्व, मस्य हेतोः लौकिकनृत्तेऽपि स्फुटम् । नाट्यादिलक्षणसहगोपने तु लौकिके गात्रविक्षेपण(ण) पठ्यमानमभिनीयमानं वा यावत्पदजातमर्थो नाभिनीयते इति किं नानुसन्धीयते । किं वा न साक्षात्क्रियायोग्यतां नीयते । प्राप्यकल्पोऽसिद्धः । लोकेऽपि सौमनस्याभावादङ्गोपाङ्गपरिक्षेपानुयातस्य वाक्यादीरितस्य दृष्टत्वात् । गीयतां(गायतां) पदार्थसंवादकृततन्मयीभावदशा(बद्धा)याश्च स्फुटमेव सात्त्विकाङ्गतावलोकनात् ।

अनुवाद—प्रायः सभी लोगों को स्वभाव से ही नृत्त प्रिय होता है और मङ्गलकारी है यह समझ कर इस नृत्त का कथन किया है ॥२७०॥

अनुवाद—विवाह, प्रसव अर्थात् पुत्रजन्म, आवह अर्थात् सपत्नीक जामाता के श्वशुर घर आने पर प्रमोद तथा अभ्युदय के आदि अवसर पर मनोविनोद के साधन इस नृत्त को प्रवर्त्तित किया गया है ॥ २७१ ॥

अभिनव—पूर्वपक्ष में तो कहते हैं—'प्रत्युत्तर पद यहाँ शेष है जो श्लोक में नहीं कहा गया है। यहाँ पर जो यह कहा गया है कि अङ्गविक्षेपरूप नृत्त गीतमय होने से रागकाव्यादि नृत्त नाट्य से अभिन्न है वह अनैकान्तिक है, क्योंकि यह हेतु लौकिक नृत्त में भी स्पष्ट है । नाट्यादि लक्षण के साथ संयोजन करने पर तो लौकिक गात्रविक्षेपण के समय पठ्यमान (पढ़े जाने वाले) पद-समूह अथवा अभिनीयमान (अभिनय किये जाने वाले) अर्थ का अभिनय नहीं किया जाता है, इसका अनुसन्धान क्या नहीं किया जाता ? अथवा क्या इसका साक्षात्कार आप नहीं करते ? इससे प्रथम कल्प (पक्ष) 'नृत्त नाट्य से अभिन्न है' यह असिद्ध हो गया । लोक में भी सौमनस्य (सौहार्द) के अभाव होने से अङ्गों एवं उपाङ्गों का परिक्षेपण तथा वाणी से कथित (शब्द समूह) देखे जाते हैं । गाने वालों में पदार्थसंवाद (नाट्य-कथा) से उत्पन्न तन्मयीभाव की दशा में सात्त्विक भाव का स्पष्ट रूप देखा जाता है ।

---

१. क. ब. विवार्यं प्रसवोद्वाहप्रमोदाभ्युयादिषु । क-त. विवाहप्रसवाबास० ।

२. ख. घ. विनोदकरणं चैव नृत्तमेतत् प्रकीर्तितम् ।

अथापरः पक्षस्तु नृत्तेऽपि समानः(समानम्)। तथाहि—नृत्तकाव्ये डोम्बिकादौ वर्णच्युतादिव वर्णादिप्रयोगे तावदभिनयकथैव नास्तीति किं तत्र विचार्यते। केवलं नृत्तस्वभावमात्रमपि तत्केवलं भावितकाव्यार्थगतार्थतत्त्वसौकुमार्यकृतमङ्गस्य तथात्वमिति निर्णेष्यत इत्यास्तां तावदेतत्।

तदनन्तरं तु धारापरिक्रमपूर्वकलयप्रयोगावसरे "पाआलअलोससाहिणिहुजयजयलच्छिमच्चमलिआ" इत्यादि यद्गीयते तत्कस्योक्तिरूपम्। यदि तावन्नर्तितुमागताया लौकिक्या डोम्बिकाप्रवृत्तनर्तक्याः तदा सैवेदानीमेवंभूतं वस्तुरूपं लौकिकं वचनमभिधत्ते। गायनादिस्वक्रमिकस्ववाक्यत एकवाक्यतः साक्षात्कारकल्पार्थः। साक्षात्कारकल्पानुव्यवसायगोचरकार्यत्वं च नाट्यस्य लक्षणमित्यवोचाम।

तेन यथा कश्चित्कञ्चिदन्यापदेशगानादिक्रमेण[1] वस्तूद्बोधनकरणद्वारेण वा छन्दानुप्रवेशितया वा कस्यचिन्मनस्यावर्जनातिशयं विधत्ते। नृत्यन्नपि गायन्नपि तद्वदेव डोम्बिकादौ द्रष्टव्यम्। विडम्बिडोम्बीत्यादावपि(?) वचसि

और दूसरा पक्ष तो नृत्त में भी समान है। जैसे—डोम्बिका आदि नृत्तकाव्य में वर्णच्युत काव्य में वर्णादि के प्रयोग के समान अभिनय की कथा ही नहीं है अर्थात् जिस प्रकार वर्णच्युत काव्य में वर्ण प्रयोग की बात (कथा) या प्रसङ्ग ही नहीं है उसी प्रकार नृत्त काव्य में अभिनय का प्रसङ्ग ही नहीं है तो भेदाभेद के विषय में क्या विचार करना है? जो केवल नृत्त का स्वभाव मात्र है वह केवल भावना के द्वारा भाषित किये गये काव्यार्थगत अर्थतत्त्व के सौकुमार्य से किये गये अङ्ग का सहज धर्म है, इसका निर्णय आगे करेंगे, इसलिए इसे रहने दिया जाय।

तदनन्तर धाराप्रवाहपूर्वक लय के प्रयोग के अवसर पर "पाआल-अलोस०" इत्यादि जो गाया जाता है वह किसकी उक्ति है? यदि नाचने के लिए आई हुई डोम्बिका में प्रवृत्त लौकिकी नायिका की यह उक्ति है तो वही इस समय इस प्रकार की वस्तुरूप लौकिक वचन कहती है। गायन आदि में अपने क्रम के अनुरूप अपने वाक्य से एक वाक्यता से प्राप्त साक्षात्कार सदृश अर्थ है। साक्षात्कारकल्प अनुव्यवसायात्मक ज्ञान (अर्थ) नाट्य का लक्षण है, यह पहिले कह चुके हैं।

इसलिए जैसे कोई किसी अन्य के बहाने गायन आदि के क्रम से अथवा वस्तु के उद्बोधनकरण के द्वारा अथवा अभिप्राय के अनुसार नाचता हुआ और गाता हुआ किसी भी व्यक्ति के मन को अत्यधिक आकर्षित करता है। उसी प्रकार डोम्बिका आदि में समझना चाहिए। 'विडम्बिडोम्बी' इत्यादि वाक्य में वही डोम्बिका है।

१. क-म. तानादिक्रमेण।

सैव डोम्बिका। नरपतिपरितोषकार्थाभिधायिवचननिष्ठेन गीतेन नृत्तेन वान्येन (वाद्येन)च राजानमनुरञ्जयितुं गृहीतो मन्त्रित्वेन पूर्वं स्थित्वा मध्ये काचिदीदृशी चौर्यकामुककेलीवासमनासाद्य कापि पुनरेवंविधा कश्चिदेवम्भूतश्चौर्यकामुकः कोऽप्येवम्भूतस्तत्र काचिदेवम्भूता प्रौढदूतीत्येवमादि राजपुत्रहृदयानुप्रवेशयोग्यं तत्प्रसादेन धनार्जनोपायमभिदधती तमेव राजपुत्रं परत्वेन तथैव वा धनमुद्दिश्यान्यदपि चेष्टितमभिधीयते। डोम्बिकाकृत्यमेवोपसंहरति गुणमालायां "जामि हराधांतु गिअपुण्णं चिसमि" इत्यादौ। तत्र सा नृत्यती डोम्बिका च बहुतरोपरञ्चकगीतादिपटुचेटकपरिवृता त्वां प्रत्येवमहमुपश्लोकितवतीति तन्मध्यवर्तिगायनमुखसङ्क्रमितनिजवचना लौकिकेनैव रूपेण तद्गीयमानरूपकगतलयतालसाम्येन तावन्नृत्यति। तद्गीयमानपदार्थस्य च सातिशयमावर्जनीये राजादौ हृदयानुप्रवेशितां दर्शयितुं लौकिकव्यवहारगतहस्तभ्रूकर्मरोमाञ्चाक्षिविकारतुल्ययोगक्षेमतयैवाङ्गविकारादिसंभवमप्याक्षिपति।

एवं गीतेन रञ्जनं प्राधान्येन विधाय तदुपयोगिनं चाङ्गिनं चाङ्गव्यापारं प्रदर्श्य नृत्तेन पुनस्तच्चित्तग्रहणं कुर्वती नृत्तं प्रधानभावं गीतं च तदुपसर्जनभावं नयन्ती तत एव तदभिनयमनाद्रियमाणा तद्गीयमानाद्भावाद्विक्षप्ततदुदितभावमेवाङ्गविक्षेपं करोति लयपरिष्वक्तकरणादौ। तत्रत्यंशे लौकिकमात्रस्वभाव-

---

राजा को परितुष्ट करने वाले अर्थों के वाचक वाक्यनिष्ठ गीत, नृत्त और वाद्यों के द्वारा राजा को प्रसन्न करने के लिए स्वीकार किया और पहिले मन्त्री के रूप में स्थित होकर मध्य में कोई इस प्रकार की कामिनी चौर्यकामुक (प्रच्छन्न कामी) को केलीवास को प्राप्त न करके कोई इस प्रकार की कामिनी कोई इस प्रकार का कामुक प्रच्छन्न कामुक के साथ कोई इस प्रकार विट, कोई इस प्रकार की प्रौढदूती इस प्रकार राजपुत्र के हृदय में प्रवेश करने योग्य बातों से प्रसन्न करके धन कमाने का उपाय करती हुई उसी राजपुत्र को आकृष्ट करती है, उसी प्रकार धन कमाने के उद्देश्य से अन्य चेष्टाएँ भी करती हैं। डोम्बिका का उपसंहार करते हैं—'गुणमाला' में 'जामि हराधांतु' इत्यादि में। वहाँ पर वह नाचती हुई डोम्बिका अत्यधिक उपरञ्जक गीत आदि में कुशल चेटकों से घिरी हुई 'तुम्हारी मैंने इस प्रकार की स्तुति की' यह कहती हुई उसी बीच में गायन के व्याज से अपनी बातों को सुनाती हुई लौकिक रूप से ही गीयमान रूपकगत लय और ताल के साम्य से नाचती है। और उस गीयमान पदार्थ का अत्यन्त आवर्जनीय राजा आदि के हृदय में अनुप्रवेश दिखाने के लिए (प्रभाव डालने के लिए) लौकिक व्यवहारगत हस्त-संचालन भ्रूकर्म रोमाञ्च, आदि विकार (नेत्र-संचालन) के समान अङ्गसञ्चालन भी करती है।

रामनटादिव्यवहारवत् क्व प्रयोज्यप्रयोजकभावाशङ्का। कस्य वा सामाजिकस्य व्युत्पादनमभिसंहितम्। तदनन्तरं च यथैव सा गीतनृत्तादि प्रायुङ्क्त तथैव सदृशं न नर्तकी प्रयुङ्क्ते। न तु डोम्बिका साक्षात्कारकल्पेन दर्शयति तदीयाहार्यादिना स्वात्मरूपप्रच्छादनाद्यभावात्। तत एव न डोम्बिकां साक्षात्कारकल्पेन सा दर्शयति। अपि तु तथैव नृत्तं साभिनयं केवलं च प्रदर्शयति तेन। नाट्याङ्गतायां यत् दृष्टं पताकादि तद्दर्शनमात्रतया। अतो नाट्यं संस्कारकं नृत्तस्येत्यङ्गादिव्यपदेश इत्युपचारादुच्यते।

नाट्यस्य प्रस्तावनाप्राणप्रतिबिम्बकल्पं नृत्तमित्ययमपि व्यवहारस्ततस्त्य एव। नाट्यस्यात्र नामाप्यस्ति पदमूर्ध्वादौ चातुरश्रयभङ्गाभावे (?) तद्भावाद्ययोगात् नाट्यरूपत्वे हि साक्षात्कारकल्पानुव्यवसायसम्पत्त्युपयोगिनः पात्रं प्रति भाषानियमस्य छन्दोऽलङ्कारादिनियमोऽवश(श्य)रूपाद्योगयोगिन आहार्य-

इस प्रकार वह प्रधानरूप से गीत के द्वारा मनोरञ्जन करके उसके उपयोगी अर्थात् रञ्जनोपयोगी प्रमुख अङ्गव्यापार को प्रदर्शित करके नृत्त के द्वारा फिर उसके चित्त को आकृष्ट करती हुई नृत्त की प्रधानता और गीत की गौणता (अप्रधानता) सिद्ध करती हुई, इसलिए उस अभिनय की परवाह न करती हुई (अभिनय की उपेक्षा करती हुई), गीयमान भाव से विक्षिप्त उससे इन्द्रिय भाव में विभोर लय से समन्वित करण आदि के विषय में अङ्गविक्षेप करती है अर्थात् नाचती है। वहाँ इतने अंश में केवल लौकिक स्वभाव से बद्ध राम नटादि के व्यवहार के समान प्रयोज्य-प्रयोजक भाव को आशङ्का कहाँ है ? और किस सामाजिक के व्युत्पादन की अभिसन्धि है ? तदनन्तर जिस प्रकार उसने नृत्य गीतादि का प्रयोग किया था, इसी प्रकार नर्तकी उसी के समान प्रयोग करती है, डोम्बिका वैसा नहीं करती। वह तो प्रत्यक्ष के समान दिखाती है। क्योंकि वह आहार्य वेश-भूषा के द्वारा अपने स्वरूप का प्रच्छादन नहीं करती। इसलिए वह डोम्बिका को साक्षात्कार सदृश नहीं दिखाती। अपितु उसी प्रकार वह केवल साभिनय नृत्य प्रदर्शित करती है, जिससे नाट्याङ्ग के रूप में जो पताक आदि देखे गये हैं वह केवल दर्शन मात्र है। इसलिए नाट्य नृत्य का संस्कारक है, और नृत्य नाट्य अङ्गादि का नाम है, यह उपचार से कहा जाता है।

नाटक की प्रस्तावना का प्राणभूत नृत्त नाट्य का प्रतिबिम्बकल्प है, यह व्यवहार औपचारिक है। 'पदमूर्ध्वम्' इत्यादि में नाट्य का नाम भी है चतुरश्रय का अङ्ग न होने पर ऊर्ध्वीभवन आदि होगा ही नहीं। नृत्त के नाट्यरूप होने पर साक्षात्कारकल्प अनुव्यवसाय ज्ञान के उपयोगी पात्र के प्रति भाषा के नियम, छन्द एवं अलङ्कार आदि के नियम, रूप आदि के उपयोगी आहार्य विशेष, जाति, अंश,

विशेषस्य जात्यंशकादेरिति परिक्रमादेश्च स नास्यैवोपयोगो भवेत्। न वैवमस्ति। मूलभूतस्य च पाठ्यस्य सम्भावनानुषक्तमाकाशभाषितमपि स्यात्। पादताडितकादि भाणरूपक इव। इह तु मूलत एव न केनचित्किञ्चिदुच्यते। "अहो गाणे" त्यादि गायनं यच्चोक्तं "प्रमदा सैवानुकार्यत्र" इति तदप्यनेन प्रतिसमाहितं नर्तक्याः स्वरूपानाच्छादनात्। कलहान्तरितेयं खण्डितेयं नृत्यतीति व्यवहार औपचारिकः। तदर्थगीयमानरूपकगतगीतवाद्यानुसारित्वात्तन्नृत्तस्य। न तु मुख्यः। लम्बालकत्ववेणीधारणमङ्गलवलयापरिग्रहादितदुचितवेषादिपरिग्रहवैकल्यात्। यच्च नाट्यायितत्वमाशङ्कितं तदस्थाने भ्रान्तम्। सहृदयैर्नाट्यायितमिति हि तावन्तं गीयमानमभिनीयते असाङ्गत्यापत्तेः। अपि तु यादृशा लयतालादिना यादृगर्थसूचनयोग्याभिनयः सात्त्विकादिप्रधानरसानुसारितया प्रयोगयोग्यस्तदुचितार्थपरिपूरणं ध्रुवागीतेन क्रियते। सूच्या ह्यमी (सूक्ष्मा ह्यमी) पल्लवप्रकारा अङ्कुरादयो निवृत्त्यङ्कुरान्ता ये विघ्नायितवच्च नाट्यायितम्। एतच्च स्वक्षेत्र एव वितनिष्यामः।

कला आदि तथा परिक्रम आदि का उपयोग ही नहीं होगा अथवा ऐसा नहीं है। मूलभूत पाठ्य की सम्भावना से अनुषक्त (सम्बद्ध) आकाशभाषित भी नहीं होता, जैसे 'पादताड़ितक' आदि भाण रूपक। यहाँ तो मूल से ही कोई कुछ नहीं कहता है। "अहो गाणे०" इत्यादि गायन और जो कहा गया है "वहाँ पर प्रमदा अनुकार्य है" यह "नर्तकी ने अपने स्वरूप का आच्छादन नहीं किया है" इससे उसका भी समाधान हो गया है। यह कलहान्तरिता नाचती है, यह खण्डिता (नायिका) नाचती है, यह व्यवहार औपचारिक है मुख्य नहीं। मुख्य तो नाट्य के लिए गाये जाने वाले गीत और वाद्य हैं, नृत्त तो उस गीत और वाद्य का अनुगामी है। लम्बे बाल, वेणी का धारण करना, मङ्गल-वलय का धारण, तदनुरूप वेश-भूषा आदि का धारण करना, आदि निष्फल हो जायगा। जो नृत्त में नाट्यकी आशङ्का करते हैं वह अनवसर में भ्रान्ति है। सहृदय लोग नाट्य मानते हैं, क्योंकि उतने गीत का अभिनय करते हैं, यह असङ्गत हो जायगा और भी जैसा ताल और लय आदि के द्वारा जिस तरह के अर्थ के सूचना के योग्य अभिनय है, सात्त्विकादि प्रधान रस के अनुकूल प्रयोग के योग्य है, उस उचित अर्थ का पूरण ध्रुवा गीत से किया जाता है। सूच्य अङ्कुर से लेकर निवृत्युङ्कुर पर्यन्त जो पल्लव प्रकार नाट्यायित है। (नाट्यायित शारीराभिनय का एक भेद है)। यह सब अपने स्थान पर विस्तार से कहेंगे।

एवं नाटचायितशङ्काऽप्यत्र न काचित्। मूलभूतस्याभिनयस्यैवाभावात्। तद्भावे यथा—"मुंचइ वळवि अंअअ इरोअगुहंसणळिण अग्नि चिङज" इत्यादौ मूर्च्छादिसाक्षात्कारः शय्यायाश्चाङ्गनिपतनादिबाहुस्तथा नृत्तकाव्येऽपि स्यात् "होशं दणपक हमहुमाइषक" इत्यादौ। नचैवमस्तीत्युक्तमसकृत्। एतेन प्रयोजन-भेदोऽपि प्रत्याप्तः (प्रत्युक्तः)। नहि सामाजिकाः प्रीयन्तां व्युत्पद्यन्तां वेत्यभिसन्धिना नृत्तप्रयोगः। तत्सम्पत्तिस्तु नान्तरीयकत्वाद्भवतु। ज्योतिष्टोमादिप्रयोगसङ्गीतापनोदादिवददृष्टविशेषोद्देशेनैव हि तस्य प्रयोगः। डोम्बिकादेर्दृष्टोद्देशेन राजपुत्रादिप्रीतये यद्यपि प्रवृत्तिर्लौकिकी सा। अद्यत्वे तु न द्वयम्। नर्तक्याः प्रवृत्तिः प्रवर्तना वा देवतापरितोषफलैव। यथोक्तं तत्र—

"यत्किञ्चिल्लास्यमेतेन [1]देवस्तुष्यति नित्यशः।
यत्किञ्चित्ताण्डवं तेन सोमः सानुचरः शिवः"॥ इति।

मूले च सूदादेरिव वस्तुभूतरूपरसादिमध्यपातिविषयविशेषयोजनया कृता प्रीतिः साध्या। डोम्बिकावर्णनगतस्यैवालौकिकरूपान्तरप्रादुर्भावान्तरस्येति व्युत्पत्त्यभिसन्धानं चानुभवतीति केयं सम्भावना गेयेऽपि। नाट्ये तु तदेव प्रधानं भरत-

इस प्रकार यहाँ पर (नृत्त में) अभिनय की कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि नाटचरूप अभिनय का यहाँ अभाव है। नृत्त में नाट्य का सद्भाव मानने पर "मुंचइ वलवि" इत्यादि में मूर्च्छा आदि का साक्षात्कार और "होश दणपक" इत्यादि में शय्या पर अङ्गपतन आदि का आधिक्य नृत्त काव्य में भी होगा, किन्तु ऐसा नहीं है, यह कई बार कहा जा चुका है। इससे प्रयोजन भेद भी कह दिया। सामाजिक प्रसन्न हो जायँ अथवा व्युत्पन्न हो जायँ, इस प्रयोजन (अभिसन्धि) से नृत्त प्रयोग नहीं होता। इसकी प्राप्ति तो आवश्यक हो जायगी। ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के प्रयोग और संगीत के द्वारा मनोविनोद के समान अदृष्टविशेष को लक्ष्य करके ही इसका प्रयोग होता है। डोम्बिका आदि का प्रयोग राजपुत्र आदि को प्रसन्न करने के लिए दृष्ट फल के उद्देश्य से किया जाता है, किन्तु वह प्रवृत्ति लौकिकी है। आज तो दोनों (दृष्ट और अदृष्ट) नहीं हैं। नर्त्तकी की प्रवृत्ति तो देवता के परितोष फलक होती है। जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"जो कुछ कोमल नृत्त नारियों द्वारा किया जाता है उससे देवता प्रसन्न होते हैं और जो ताण्डव नृत्त पुरुषों के द्वारा किया जाता है, उससे उमा (पार्वती) और अनुचरों सहित शिव प्रसन्न होते हैं।"

१. क. देवी तुष्यति नित्यशः।

मुनिप्रभृतीनां तथैव मूलतः प्रवृत्तेः। अन्यत्वे तु जीविका (जीविता) पर्यवसितत्वमिति [1]पुरुषमितिपुरुषदौरात्म्यम्, एतद्धर्मादिचतुष्टयोपदेशि पुराकल्पोपदेशनमिव पुस्तकवाचकानां मूलेन प्रवर्त्तनात्तत्र व्युत्पत्त्यभिसन्धेरेवेति फलभेदः।

अन्योऽपि लक्षणभेदो नाट्यरूपताशङ्कापराकरणहेतुग्रन्थव्याख्यानावसरे वक्ष्यते। तन्नाट्यलक्षणप्रयोजनाभेदादित्यसिद्धो हेतुः। तदाह—नृत्तं कर्तृ कञ्चिदर्थमर्थ्यमानं साक्षात्कारं प्राप्यमानं नाट्यवेदमपेक्षते येन लक्षणभेदः स्यात्। तथा न कश्चिदर्थः सामाजिकान्प्रति व्युत्पादनीयधर्माद्युपायान्यतमं व्यपेक्षते, येन प्रयोजनभेदोऽपि स्यादित्यतो हेतोरेतन्नृत्तं प्रवर्तितं नृत्तवाचोयुक्त्यैव व्यवहृतम्। न तु (ननु) नाट्यमिति।

किञ्चिदपि शुद्धं नाट्याङ्गं पूर्वरङ्गादिकं वेति पाठो वा यदा प्राप्त्यर्थमित्यादि प्रतिसमाहितम्। ननु भवत्वेवं भूतं नृत्तं, नाट्यं तु कथमस्योपयोग इत्युक्तं गीतकस्यापि कथमुपयोगः।

मूल में अर्थात् 'प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः' (प्रायः सभी लोगों को नृत्त स्वभावतः प्रिय होता है) इस मूल वाक्य में सूद (रसोइयाँ) आदि के समान वस्तुभूत रूप, रस आदि के मध्यपाति विषय विशेष की योजना से प्रीति साध्य है। डोम्बिका के वर्णन गत अलौकिक रूपान्तर के प्रादुर्भाव से प्रीति साध्य है इस व्युत्पत्ति अभिसन्धान का जो अनुभव होता है, उसकी गेय में क्या सम्भावना है? नाट्य में तो वही प्रधान है। भरतमुनि प्रभृति की प्रारम्भ से ही उसी प्रकार प्रवृत्ति रही है। नृत्त में तो जीविका के लिए प्रवृत्ति होती है। यह पुरुष की दुरभिसन्धि है, यह नृत्त तो धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टय का उपदेश देने वाला है, इतिहास के उपदेश के समान पुस्तक पढ़ने वालों की उसमें प्रारम्भ से ही प्रवृत्ति होने से उसमें व्युत्पत्ति के उद्देश्य से फलभेद होता है।

अन्य लक्षणभेद को नाट्यरूपता की शङ्का के निराकरण हेतु ग्रन्थ के व्याख्यान के अवसर पर कहेंगे। उस नाट्य के लक्षण एवं प्रयोजन से अभेद होने से (अभिन्न होने से) यह हेतु असिद्ध है। इसलिए कहते हैं कि नृत्त किसी प्रयोजन को साक्षात्कार रूप अर्थ को प्राप्त कराने वाले नाट्यवेद की अपेक्षा करता है जिससे लक्षणभेद हो। ऐसा कोई अर्थ नहीं है जो सामाजिकों के प्रति व्युत्पादनीय धर्मादि उपायों में से अन्यतम उपाय की अपेक्षा करता हो, जिससे प्रयोजनभेद भी हो, इसलिए इस नृत्त का प्रवर्त्तन हुआ अर्थात् नृत्त शब्द से व्यवहृत हुआ। अतः नृत्त नाट्य नहीं है।

१. क. पुरुषमतिपुरुषदौरात्म्यम्।

उक्तं—"यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात्" इति "यत्तु काव्येन नोक्तं स्यात्" इति। ध्रुवायास्तु सम्पाठमात्रमेवास्तु। अलं वर्णालङ्कारयोजनात्मकगानक्रियादिप्रसारायासेन।

ननु रामरावणादिगत(ता)ग्राह्यत्याज्यरूपचरितार्थडम्बरस्य हृदयानुप्रवेशद्वारभूतं हृद्यं तत्सूचीकल्पं स्वयं हृदयानुप्रवेशित्वादित्युक्तं प्राक्। तत एव तर्हि नृत्तस्य वलनावर्तनादेरन्तरङ्गेऽस्य नाट्यः उपयोगः विशेषतो हि तद्विनाऽलातचक्रप्रतिमत्वे तैर्बुद्धिग्राह्यमेव नाट्यं न स्यात्। तत एव विमलाभिनयमाणिक्यगुम्फविधायिसूत्रस्थानीयं वलनादिरूपनृत्तसजातीयत्वान्निकटत्वादन्तरङ्गगीतादिव्यापि नाट्यम्।

तदेतदाह – किन्तु शोभां प्रजनयेदिति। नृत्तं प्रवर्तितं प्रकृष्टमत्रुटितं वर्णनाविलासवलनादिदक्षिणं यद्वर्णितं कायावयवानां कायस्य च विलासचेष्टावस्थानात्मकं वर्तितं तदात्मकं यन्नृत्तं तच्छोभां रञ्जनायोग्यत्वं शोभानान्तरीयकचमत्कारं प्रकर्षेण गानादिना वैलक्षण्येन जनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितमित्यन्तेनाभिसम्बन्धः। हेतौ लिङ्।

कुछ भी शुद्ध नाट्य का अङ्ग पूर्वरङ्ग आदि है, यह पाठ भी 'यदा प्राप्त्यर्थम्' इत्यादि से समाधान हो गया। अच्छा, इस प्रकार का नृत्त होवे, किन्तु नाट्य में इसका उपयोग कैसे होगा ? इस प्रकार कहा गया है कि – गीत का भी उपयोग कैसे होगा ?

कहा भी है—जिनको वाक्यों से न कहा जा सकें' और 'जिसे काव्य से न कहा जा सके' इत्यादि। ध्रुवा का तो केवल पाठ ही होता है। अतः वर्ण, अलङ्कार के योजना रूप (वर्णालङ्कारयोजनात्मक) गानक्रिया के प्रसार का आयास (प्रयत्न) व्यर्थ है।

राम और रावण के ग्राह्य और त्याज्य रूप अर्थाडम्बर के हृदय में प्रवेश के द्वारभूत जो हृद्य है वह सूचोकल्प (सूई के समान) स्वयं हृदय में अनुप्रवेश करने योग्य है। यह पहिले कहा जा चुका है। इसीलिए वलन, आवर्त्तन रूप नृत्त का नाट्य में उपयोग होता है। विशेष रूप से उसके नृत्त के विना अलातचक्र के समान यह नाट्य सहृदयों के द्वारा बुद्धि से ग्राह्य नहीं होगा। इसलिए निर्मल अभिनय रूप माणिक्य के गुम्फन करने वाला सूत्रस्थानीय नाट्य है, वह नाट्य वलनादि रूप नृत्त के सजातीय एवं निकट होने के कारण अन्तरङ्ग गीत आदि में व्याप्त है।

उसे कहते हैं – 'किन्तु शोभा प्रजनयेति नृत्तं प्रवर्त्तितम्' अर्थात् 'नृत्त शोभा (सौन्दर्य) को उत्पन्न करेगा, इसलिए नृत्त को प्रवर्त्तित किया'। प्रकृष्ट अर्थात्

ननु रञ्जकत्वं भोजनादीनामप्यस्ति । तत्तदनुप्रवेशनियमोऽत्रेत्याशङ्कां-मध्येऽपाकरोति—प्रायेणेति ।

विवाहप्रसवावाहादिषु सर्वस्य लोकस्य स्वभावतः स्वभावेष्वात्माभिमतेषु स्वदेहेनात्मना नर्तनमिष्टं वल्लभम् । सर्वोऽपि जनो विवाहादौ नृत्यति योऽपि वादयन्नृत्यति तेनापि । दर्दुरूढेनापि(दरिद्रेणापि) मङ्गल्यमिति । विवाहो वध्वा आनयनम् । तत्पूर्वकः सर्वं उत्सवः । पुत्रजन्म प्रसवः । ततो जामातुः सवधूकस्य सर्वत्र श्वशुरभवनगमनमावाहः । प्रमोदा राज्ञामर्थकरणादयः । अभ्युदयो मनोरथ-प्राप्तिरभिलषितस्योदय इति । आदिग्रहणेनानाकाङ्क्षितशुभप्राप्त्यादि । एतेन विनोदनमिति श्लोकत्रयस्य सम्बन्धः । एतच्च "कैशिकीमपि योजय" (ना. शा. १-४२) इत्यत्र दर्शितम् ॥ २६९-२७१ ॥

कं स्वभावमपेक्षत इति प्रतिसमाधातुमाह—अतश्चैवेति ।

अत्रुटित वर्णन, विलास एवं वलनादि के अनुकूल शरीर के अवयवों का और शरीर का विलास, चेष्टा, अवस्थान रूप जो वर्णन है और तदात्मक जो नृत्त है (अङ्ग-विक्षेप रूप) वह शोभा अर्थात् शोभा के आवश्यक चमत्कार गान (गीत), वाद्य आदि की विलक्षणता से उत्पन्न होगा, इसलिए नृत्त को प्रवर्तित किया, यहाँ तक पूर्ववाक्य का सम्बन्ध है। 'प्रजनयेत्' में हेतु में लिङ् लकार है।

प्रश्न यह है कि रञ्जकता तो भोजन आदि में भी है और वे भी नियम से हृदयानुप्रवेशी हृदय में प्रविष्ट होते हैं तो उन्हें भी नाट्य का अङ्ग क्यों नहीं मान लिया जाता ? इस प्रकार शङ्का करके 'प्रायेण' इत्यादि के द्वारा बीच में ही इसका निराकरण करते हैं।

'विवाह, पुत्रजन्म, वर के स्वागतार्थं मनोविनोद के लिए नृत्त प्रवृत्त होता है।' यह नृत्त सभी लोगों को स्वभाव से प्रिय है। सभी लोग विवाह के अवसर पर नाचते हैं, बाजे बजाते हुए नाचते हैं। यहाँ तक कि नास्तिक व्यक्ति भी मङ्गल समझकर नाचता है। वधू को घर में लाना, तत्सम्बन्धी उत्सव विवाहोत्सव है। **प्रसव** का अर्थ पुत्रजन्म है। उसके बाद वहू के साथ दामाद का ससुर के घर में जाना '**आवह**' है। 'प्रमोद' राजाओं का अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि और 'अभ्युदय' अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति है, आदि पद से अभीष्ट शुभ की प्राप्ति ग्राह्य है। इससे 'विनोदकरणम्' तीन श्लोकों का सम्बन्ध है। यह कैशिकी की भी नाट्य में 'योजना कीजिए' इत्यादि में दिखा दिया है ॥ २६९-२७१ ॥

अब नृत्त किस किस स्वरूप की अपेक्षा करता है' इसका समाधान करने के लिए कहते हैं—

अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भूतसङ्घैः प्रवर्तिताः[1]।
ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ्नृत्तविभागकाः[2] ॥ २७२ ॥

अतश्च कारणान्नृत्तं प्रवर्तितम्। प्रारम्भे पूर्वरङ्गे लक्षणवर्तितं योजितमिति सम्बन्धः। एवकारो हेतौ यस्मात्प्रतिक्षेपात्। ज्झण्टुमाद्याः शुष्काक्षराः देवैः प्रतिक्षिप्तत्वात् भूतसङ्घैश्च दैत्यादिभिः प्रवर्तिता।

"निर्गीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहे वयम्"। (ना. शा. ५-३५)

इति वक्ष्यते।

अत एवम्भूता गीतानां मद्रकादीनामादौ सम्यङ्नृत्तस्याभिनेयपदार्थाभावेनाभिनयशून्यतया नाश(तयाश)ङ्किता नाट्याङ्गस्य शुद्धस्य विभागका

अनुवाद—इसलिए भूतगणों ने प्रतिक्षेप से नृत्त का प्रवर्त्तन किया जो गीत के प्रारम्भ में प्रयुक्त किये जाते है और नृत्त के विभागों का सम्यक् नियोजन करते है ॥ २७२ ॥

विमर्श—भगवान् शङ्कर ने प्रतिक्षेप से ताण्डव नृत्त का प्रारम्भ किया था अतः भूतगणों ने नृत्त का प्रारम्भ प्रतिक्षेप से किया। अग्निपुराण में प्रतिक्षेप का अर्थ 'प्रचुरस्तुति से युक्त गीत विशेष' किया गया है। तदनुसार इसका अर्थ होगा भूतसमुदाय ने प्रचुर स्तुति से युक्त गीतविशेष के साथ नृत्त का प्रारम्भ किया। अभिनवभारती में उद्धृत एक अन्य मत के अनुसार 'गीत के अन्त में अङ्गों के प्रक्षेप से सम्पन्न वैचित्र्य से आश्रित नृत्त' प्रतिक्षेप का अर्थ है। नाट्यशास्त्र में वाद्ययन्त्रों का क्षेप-प्रतिक्षेप के साथ बजाये जाने का निर्देश है तदनुसार इसका अर्थ यह किया जा सकता है—'भूतगणों ने वाद्ययन्त्रों के क्षेप-प्रतिक्षेपपूर्वक वादन के साथ नृत्य का प्रारम्भ किया'। ॥ २७२ ॥

अभिनव—इसलिए नृत्त का प्रवर्त्तन किया अर्थात् प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग में लक्षण को योजित कर दिया। यहाँ पर 'एव' का अर्थ हेतु है, जिस प्रतिक्षेपरूप हेतु से देवताओं के 'ज्झण्टुम' आदि शुष्क अक्षरों के प्रतिक्षेप के कारण भूतसङ्घ दैत्यों ने नृत्त को प्रवर्त्तित किया। जैसा कि—

"वाद्ययन्त्रों के साथ शुष्काक्षरों के प्रयोगसहित निर्गीत को हमलोग ग्रहण करते हैं" (ना. शा. ५।३५)।

यह आगे कहेंगे।

---

१. ख. घ. अतश्चैव प्रतिक्षेपात् भूतसङ्घैः प्रकीर्तिताः।
ग. अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भुजाक्षेपैः प्रवर्त्तिताः।

२. ख. सम्यङ्नृत्तविभावकाः।

विभागप्रापका आदौ प्रयुज्यन्ते। एतदुक्तं भवति—गीतकानां यान्युपोहनानि तत्र तावन्नृत्तं शुद्धमेवं कर्तव्यम्। यद्वक्ष्यति—

"तत्रावतरणं कार्यं नर्तक्याः सर्वभाण्डकम्।
क्षेपप्रतिक्षेपकृतं भाण्डोपोहनसंयुतम्" ॥ इति (ना. शा. ४-३००)

ततश्च (तद्गतश्च)गीतकाङ्गमध्ये तु प्रवेशाभावोऽसिद्धः[1]। विचारणीयस्य चावापनिष्क्रामादेरगीतकाङ्गत्वमस्त्येव। यद्यपि "महागीतेषु चैवार्थान्" (ना० शा० ४-१५) इत्युक्तं वक्ष्यते च "ततोऽभिनयमाचरेत्" (ना० शा० ४-२९०) इति प्रथमत्वेऽभिनयनेऽस्यापि तथापि तत्र न मुख्यो नाट्यप्रसिद्धोऽभिनयार्थं इत्युक्तम्।

किञ्चाभिनेयत्वेन नाट्याङ्गत्वदशायामवलोकनात् तथा वाचोयुक्तिः। लौकिककथास्विवाङ्गव्यवहारादावभिमुखीभावमात्रनयनश्चापि स्वार्थो यथा-वाच्यमभिनीतः। नहि तत्र साक्षात्कारकल्पतापादनमभिनयार्थः। किन्तु तल्लया-द्याहारित्वमात्रम्। एवमत्रापि तदर्थानुसारित्वमात्रं परप्रतिपत्तिमात्रं स्यात्।

अतः इस प्रकार मद्रक आदि गीतों के प्रारम्भ में अभिनेय पदार्थ के अभाव होने से जो अभिनयशून्य सम्यक् प्रयोज्य नाट्य के अङ्गभूत शुद्ध नृत्त के विभाजक नृत्त का प्रारम्भ में प्रयोग किया जाता है। यह कहा गया है कि—गीतों के जो उपोहन है उनमें इस प्रकार शुद्ध नृत्त करना चाहिए। जैसाकि आगे कहेंगे—

"गीत के प्रयोग में सर्वप्रथम नर्तकी का प्रवेश होता और क्षेप-प्रतिक्षेप के साथ समस्त वाद्यों का वादन होता है।" (ना० शा० ४।२९८)।

इससे गीत के अङ्गों के बीच में नृत्त के प्रवेश का अभाव सिद्ध नहीं होता। पाठभेद से नृत्त के प्रवेश का अभाव सिद्ध होता है और विचारणीय आवाज, निष्क्रम आदि गीत के अङ्ग नहीं है। यद्यपि "महागीतों में अर्थों को अच्छी तरह अभिनय करोगे" (ना० शा०-४।१५)। यह कहा है और आगे कहेंगे "इसके बाद अभिनय का प्रयोग करे" (ना. शा. ४।२९०)। इस प्रकार अभिनय में नृत्त का प्राथमिकता कहेंगे, तथापि वहाँ पर नाट्यप्रसिद्ध मुख्य अभिनय नहीं है, यह कहा गया है।

और भी अभिनेय होने से नृत्त के नाट्य के अङ्ग होने की दशा में देखे जाने से नृत्त का अभिनयत्व सिद्ध होता है। लौकिक कथा के समान अङ्गों के व्यवहार आदि में अभिमुखीभाव रूप नयन है, यह अर्थ भी अभिधा से प्राप्त होता है। वहाँ पर साक्षात्कारसदृश भाव का प्रतिपादन अभिनय का अर्थ नहीं है। किन्तु अभिनय से अनुस्यूत केवल ताल, लय आदि की आहार्यता है। इस प्रकार यहाँ भो केवल उसके अर्थ का अनुसरण परप्रतिपत्ति अर्थात् उत्तम ज्ञान मात्र है। इस प्रकार उसका अङ्ग

---

१. क. प्रवेशाभावः सिद्धः।

[1]देवेन चापि सम्प्रोक्तस्तण्डुस्ताण्डवपूर्वकम् ।
गीतप्रयोगमाश्रित्य [2]नृत्तमेतत्प्रवर्त्यताम् ॥ २७३ ॥

प्रचुरस्तुतियदस्थेनैवाङ्गभूतत्वेप्यनुगयिते[3] (गमित) कालात्पृथग्भूत एवादौ प्रयुज्यमानो लोकप्रसिद्धप्रथमगीयमानाक्षिप्तडोम्बिकाप्रायः प्रचुरस्तुतिपदयुक्तो गीतिविशेषप्रतिक्षेप इत्याह । इदं भरतमुनिना न क्वचिल्लक्षितम् ।

अन्ये तु गीतान्ते [4]प्रयोज्याश्छन्दकादय एवं नृत्तवैचित्र्याश्रया यथारुचि प्रतिक्षिप्यमाणाङ्गकाः प्रतिक्षेपाः । आदिशब्दश्च व्यवस्थायामासारितादिसङ्ग्रहार्थः प्रयुक्तः । सतीति चाध्याहार इति । मुनिमतं चाद्य तयोरनुग्राहकम् । एवं [5]नाट्याङ्गानां नृत्तवाद्यगीताङ्गाद्युपयोगश्च समर्थितः । ॥ २७२ ॥

अधुनानृत्तप्रधानरागकाव्यादिविषयः काव्यं च नाट्याङ्गमिति दर्शयन्पुराकल्पच्छायया प्रकारान्तरमपि नृत्तस्य समर्थयितुमाह—देवेनेत्यादि ।

भूत होने पर भी अनुगीयमान काल से पृथक् प्रारम्भ में प्रयुज्यमान लोकप्रसिद्ध प्रथम गीयमान गीत से आक्षिप्त डोम्बिका प्रचुर स्तुतिपदों से युक्त गीतविशेष का नाम प्रतिक्षेप है, यह कहा गया है। भरतमुनि ने इसको कहीं भी लक्षित नहीं किया है। अर्थात् भरतमुनि ने प्रतिक्षेप का लक्षण नहीं किया है।

अन्य आचार्य तो कहते हैं कि गीत के अन्त में प्रयुक्त किये जाने वाले छन्दक आदि नृत्त में वैचित्र्य को उत्पन्न करने के लिए यथारुचि प्रतिक्षिप्त किये जाने के कारण अङ्गभूत होने से प्रतिक्षेप कहा जाता है। आदि शब्द व्यवस्था में आसारित आदि के संग्रह के लिए प्रयुक्त है। यहाँ 'सति' का अध्याहार है। मुनि का मत यहाँ इन दोनों का ग्राहक है। इस प्रकार नाट्य के अङ्ग नृत्त और गीत आदि के उपयोग का समर्थन कर दिया गया है ॥ २७२ ॥

अब नृत्तप्रधान रागकाव्यादि विषयक काव्य नाट्य के अङ्ग हैं, यह दिखाते हुए इतिहास के अनुसार प्रकारान्तर से भी नृत्त का समर्थन करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—महादेव शङ्कर ने भी तण्डु से कहा कि ताण्डव के साथ गीत के प्रयोग का आश्रय लेकर इस नृत्त को प्रवर्तित कीजिए अर्थात् इस नृत्त का प्रयोग कीजिये ॥ २७३ ॥

१. ख. घ. देवेन वापि सम्प्रोक्तस्ताण्ड्यस्ताण्डवपूर्वकः ।
क-अ. देवेन चापि सम्प्रोक्तस्ताण्डिस्ताण्डवपूर्वकम् ।
२. ख. नृत्यमेतत् प्रनृत्यताम् । क त. नृत्तमेतत् प्रयुज्यताम् । क-ब. नृत्तमेतत्प्रवर्त्तताम् ।
३. क-म. अनुगीयलकान्तलात् ।
४. क. प्रयोज्याश्छन्दाद्याः ।
५. क. पुस्तके नाट्याङ्गानां ... गीताङ्गाद्युपयोगश्चेति पाठः ।

चकार एवकारार्थे। देवेनैव महेश्वरेणैव। तण्डुः सन्तोषपूर्वकं प्रकर्षेणादरेणोक्तः। किमित्याह--गीयत इति गीतं काव्यम्। तस्य यः प्रकर्षेण योगस्तदर्थानुप्रवेशलक्षण(स्त)माश्रित्य न छायाम्। आसमन्ताच्छ्रित्वा। अङ्गविक्षेपिताङ्गत्वं सामरस्यलयसत्त्वादिना नृत्तं तच्छब्दस्वभावमपि यदभूत्ताण्डवप्रभृति नृत्तं तद्गीयमानरूपकगतवर्णालङ्कारलयदार्थवाक्यार्थसम्मिलितं यत्तत्प्रवर्त्यताम्। तदुक्तं कोहलेन—

"सन्ध्यायां नृत्यतः शम्भोर्भक्त्याऽऽर्द्रो नारदः पुरा।
गीतवांस्त्रिपुरोन्माथं तच्चित्तस्त्वथ गीतके॥
चकाराभिनयं प्रीतस्ततस्तण्डुं च सोऽब्रवीत्।
नाट्योक्त्याभिनयेनेदं वत्स योजय ताण्डवम्"॥ इति।

अथशब्दान्न केवलमिदं शुद्धमेव। नापि गानक्रिया। भाण्डवाद्यमात्रसम्बन्धमेव यावदगीत्याधारपदानुसार्यपि। तदर्थानुसरणाच्च तदनुसारणमिति॥ २७३॥

ननु किं तत्ताण्डवप्रवृत्तिनिमित्तमित्याशङ्क्याह--प्रायेणेति।

अभिनव—यहाँ पर 'देवेन चापि' में 'च' का प्रयोग 'एव' के अर्थ में हुआ है। अतः 'देवेन चापि' का अर्थ 'देवेनैव' अर्थात् देव महेश्वर के द्वारा ही अर्थात् महेश्वर ने सन्तोषपूर्वक अर्थात् आदर के साथ तण्डु से कहा। क्या कहा? बताते हैं—जो गाया जाय, उसे गीत कहते हैं अर्थात् काव्य। उसका जो आदर के साथ योग अर्थात् उसके अर्थ का हृदय में अनुप्रवेश है उसका आश्रय लेकर चारों ओर से श्रयण करके। अङ्गविक्षेपात्मक लयादि से युक्त नृत्त है और ताण्डवप्रभृति नृत्त है, जिसमे गीयमान रूपक के वर्ण, अलङ्कार, लय, पदार्थ और वाक्यार्थ से सम्मिलित नृत्त है, उसे प्रवर्त्तित करो। जैसाकि कोहल ने कहा—

"पहिले सन्ध्या के समय नृत्य करते हुए शम्भु के समक्ष भक्ति से आर्द्र होकर नारद ने गान किया और गीत में दत्तचित्त होकर त्रिपुरोन्माथ (त्रिपुरदाह) नामक रूपक का अभिनय किया तो प्रसन्न होकर शम्भु ने तण्डु से कहा कि—हे वत्स! नाट्योक्तिमय अभिनय के द्वारा इस ताण्डव की योजना करो।"

यहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द से सूचित होता है कि यह केवल शुद्ध गान नहीं है और न गान क्रिया है, भाण्डवाद्य आदि का सम्बन्ध मात्र है और गीति के आधारभूत पदों का अनुसरण है और पदों के अर्थ के अनुसार उनका अभिनय है॥ २७३॥

अब प्रश्न उठता है कि उस ताण्डव की प्रवृत्ति-निमित्त क्या है? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

[1]प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत् ।
[2]सुकुमारप्रयोगश्च शृङ्गाररससम्भवः ॥ २७४ ॥

ताण्डवमिति सर्वं नृत्तमुच्यते। लास्यशब्देन सन्निधौ गोबलीवर्दन्यायेन प्रवर्तते। तत्र विधीयतेऽस्मिन्नृत्तमिति विधिः विधीयमानं काव्यं सदैव(यद्देव) स्तुतिं वर्णनीयत्वेन चाश्रयति। तेन धर्मवीरप्रधानं तत्र काव्यम्। ([3]इत्युद्धतरूपतासूचनेनान्यरसपरिग्रहः)। प्रयुज्य इति प्रयोगः काव्यं सुकुमारो मसृणोऽनुसृतो यस्य तं दर्शयति। शृङ्गाररसस्य सम्भवो विद्यमानत्वमस्मिन्। शृङ्गाररसाच्च परिपूर्णात्सम्भवो यस्य कामावस्था मनसोऽस्मिन्नस्तीति। शृङ्गारेण पूर्णापूर्णरूपेण मसृणप्रयोगोपलक्षणम्। यद्यपि च नाट्यान्नान्यत्र रस इति वक्ष्यते तथापि काव्यान्नाट्यं निष्पद्यत एवेत्यस्ति रसानुप्रवेशः। अनेन च [4]रसाङ्गान्नृत्तस्य नाट्यम् (रसाङ्गं नृत्तं नाट्यम्)। प्रायेणेति वचनान्नरपति-

अनुवाद—प्रायः ताण्डव नृत्त का विधान देवताओं की स्तुति के साथ किया जाता है और सुकुमार नृत्य का प्रयोग शृङ्गार रस के सम्बन्ध में होता है ॥ २७३ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि ताण्डवनृत्य देवता की स्तुति प्रसङ्ग में किया जाता है और सुकुमार नृत्य लास्य का प्रयोग शृङ्गार रस के सन्दर्भ में किया जाता है। ऐसा देखा जाता है कि कुछ ऐसे नृत्तात्मक काव्य हैं जो नाट्यात्मक नहीं है। जैसे—डोम्बिका, षिद्गक, प्रस्थान, भाणिका, हल्लीसक, रासक आदि ॥ २७३ ॥

अभिनव—यहाँ पर ताण्डव पद से समस्त नृत्तों का ग्रहण होता है। अतः ताण्डव के सन्निधान में गोबलीबर्दन्याय से लास्य शब्द भी प्रवृत्त होता है। जिसमें विधान किया जाता है वह विधि है अर्थात् विधीयमान काव्य जो सदैव वर्णनीय रूप में स्तुति का आश्रय लेता है। इससे वहां धर्मवीर प्रधान काव्य है। (इस प्रकार उद्धतरूपता की सूचना से अन्य रसों का भी ग्रहण होता है)।[5]

जो प्रयुक्त किया जाय वह प्रयोग काव्य है जो सुकुमार अर्थ का अनुसरण करता है। जिसमें शृङ्गार रस विद्यमान हो अथवा शृङ्गार रस से परिपूर्ण जिसके मन की कामावस्था जिसमें सम्भव हो। यहाँ पर पूर्ण और अपूर्ण रूप शृङ्गार रस का मसृण प्रयोग उपलक्षित है। यद्यपि नाट्य से अन्यत्र रस नहीं होता, यह कहेंगे, तथापि

१. क-ख. सर्वोऽपि।
२. ख. घ. सुकुमारप्रयोगस्तु ।
३. 'इत्युद्धतरूपतासूचनेनान्यरसपरिग्रहः' क. पुस्तके इत्यधिकपाठः।
४ क. रसाङ्गं नृत्तस्य नाट्यम्।
५. यह कोष्ठकान्तर्गत अंश कुछ संस्करणों में नहीं मिलता है।

चाटुकाद्यपि सङ्गृहीतम् । चकारान्मसृणमप्युद्धतमिश्रमुद्धतं च मसृणमिश्रमित्यादिकमपि सङ्गृहीतं भविष्यतीति सर्वं लक्ष्यमनेन सूचितम् । तथाहि—डोम्बिकासु नरपतिचाटुकप्राधान्येन प्रवृत्तासु सुकुमारमेव शुद्धं रूपम् । भाणकेषु नृसिंहादिचरितवर्णनमुद्धतमेव । यत्पुनर्मसृणेऽप्युद्धतं प्रविशति तत्तदुचितमेव । ततोऽप्यल्पत्वबहुत्वकृतो भेदः [[1]पूर्वः प्रस्थानप्रबन्धः । उत्तरः षिद्गकभेदः । उद्धते तु मसृणानुप्रवेशाद्भाणिकाभेदः ।] अन्यदपि प्रेरणरामाक्रीडकरासकहल्लीसकादिकमल्पत्वबहुत्ववैचित्र्यकृतमिहैव प्रविष्टं वेदितव्यम् ।

तदुक्तं चिरन्तनैः—

"छन्नानुरागगर्भाभिरुक्तिभिर्यत्र भूपतेः ।
आवर्ज्यते मनः सा तु मसृणा डोम्बिका मता ।।
नृसिंहसूकरादीनां वर्णनां जल्पयेद्यतः ।
नर्तकी तेन भाणः स्यादुद्धताङ्गप्रवर्तितः ।।

काव्य से नाट्य निष्यन्द होता है, अतः काव्य में भी रस का प्रवेश रहता है । इससे रस का अङ्ग होने से नृत्त नाट्य है ।

'प्रायेण' इस कथन से राजा की चापलूसी आदि का भी संग्रह होगया । चकार से मसृण भी उद्धत से मिश्र और उद्धत मसृण से मिश्र होता है, इत्यादि का भी संग्रह हो जायगा । इस प्रकार इससे सभी लक्ष्यों की सूचना हो गई । जैसे, प्रधानरूप से राजाओं की चापलूसी से प्रवृत्त डोम्बिकाओं में शुद्ध सुकुमार रूप है । भाणकों में नृसिंह आदि का चरित्र-वर्णन उद्धत ही है । तो फिर मसृण में जो उद्धत का प्रवेश होता है वह उचित ही है, किन्तु उसमें भी अल्पत्व और बहुत्व का भेद होता है । जैसे मसृण में मसृणता अधिक और उद्धतता कम होती है उसी प्रकार उद्धत में औद्धत्य अधिक और मसृणता कम होती है ।[[2]इनमें पहिला 'प्रस्थान' नामक प्रबन्ध है दूसरा षिद्गक' भेद है । उद्धत में तो मसृणता के प्रवेश से 'भाणिका' नामक भेद होता है ।] और भी प्रेरण, रामाक्रीड़क, रासक, हल्लीसक आदि में भी अल्पत्व-बहुत्व की विचित्रता से होने वाले भेदों को इन्हीं में प्रविष्ट समझना चाहिए ।

जैसाकि चिरन्तर आचार्यों ने कहा है—

"जहाँ पर प्रच्छन्न अनुराग से पूर्ण उक्तियों (कथाओं) के द्वारा राजा के मन का आकर्षण किया जाय वह मसृण प्रबन्ध '**डोम्बिका**' कही जाती है ।"

१ कोष्ठकान्तर्गतोऽशः क-म. पुस्तके नास्ति ।

२ कोष्ठकान्तर्गत अंश कुछ संस्करणों में प्राप्त नहीं होता ।

गजादीनां गतिं तुल्यां कृत्वा प्रवसनं तथा।
अल्पाविद्धं सुमसृणं तत्प्रस्थानं प्रचक्षते ॥
सख्या: समक्षं भर्तुर्यद्‌दुद्धतं वृत्तमुच्यते।
मसृणं च क्वचिद्धूर्तचरितं षिद्‌गकस्तु सः ॥
बालक्रीडानियुद्धादि तथा सूकरसिंहजा।
ध्वजादिना कृता क्रीडा यत्र सा भाणिका मता ॥
हास्यप्रायं प्रेरणं तु स्यात्प्रहेलिकयाऽन्वितम्।
ऋतुवर्णनसंयुक्तं रामाक्रीडं तु भाष्यते ॥
मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्याद्‌गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥
अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्" ॥ इत्यादि।

जहाँ पर नर्त्तकी नृसिंह, शूकर (वराह) आदि अवतारों का वर्णन करती है वह उद्धत अङ्गों से प्रवर्त्तित नृत्त **'भाण'** कहलाता है।"

"जहाँ पर गज की गति के समान नायिका की गति हो और प्रवास-गमन का वर्णन हो तथा उद्धत कम और मसृण (कोमलता) अधिक हो, उसे **"प्रस्थान'** कहते हैं"।

"जहाँ पर सखी के समक्ष पति के उद्धत वृत्त का कथन किया जाता है। मसृण वर्णन और कहीं धूर्त्त के चरित का वर्णन हो वह **'षिद्‌गक'** कहा जाता है"।

"जहाँ पर बालक्रीड़ा, बाहुयुद्ध आदि का वर्णन हो और नृसिंह एव वराहावतार की कथाएँ तथा ध्वज आदि के साथ क्रीड़ा का वर्णन हो, वहां **"भाणिका'** होंती है"।

"जहाँ पर पहेलियों के साथ हास्यप्राय वर्णन हो, उसे **'प्रेरणा'** कहते हैं"।

"जहाँ पर ऋतुओं का वर्णन किया गया हो उसे **'रामाक्रीड़'** कहा जाता है।"

"जहाँ पर स्त्रियाँ मण्डलाकार नृत्य करती हैं, उसे **'हल्लीसक'** कहते हैं।"

"जहाँ पर एक नायक होता है जिस प्रकार गोपिकाओं मे कृष्ण और जा चित्र और लय से युक्त अनेक नर्त्तकियों द्वारा प्रयोज्य होता है और चौसठ व्यक्तियों की जोड़ो नृत्य करती है तथा जो मसृण और उद्धत होता है वह **'रासक'** कहा जाता है।"

[¹एते प्रबन्धा नृत्तात्मका: न नाट्यात्मकनाटकादिविलक्षणा:। राघवविजयमारीचवधादिकं रागकाव्यम्।] एतच्च ग्रन्थविस्तारभीत्या बहुतरं यथासम्भवं न लिखितमनुपयोगाच्च। यत्तूपयोगि तद्यथावसरं वर्णयिष्याम:।

एष तावत्पदगते चोद्यकप्रकार:। तत्र तु परस्परमसङ्गतिदोषोऽयं कैश्चिदुद्भाव्यते। स पूर्वादिनैव प्रतिसमाहित:। एक एव तु प्रकार: कलाविधिना निबध्यमानो राघवविजयमारीचवधादिकं रागकाव्यभेदमुद्भावयतीति। यथोक्तं कोहलेन—

²लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विवेचितम्।
नानारसं सुनिर्वाह्यकथं काव्यमिति स्मृतम्॥

लयतश्चास्य गीत्याधारत्वेनाप्राधान्ये गीतेरेव प्राधान्यमिति न काव्यार्थविपर्यासवशेन रागभाषादिविपर्यासो नाट्य इव।

तथा हि राघवविजयस्य हि ठक्करागेणैव विचित्रवर्णनीयत्वेऽपि निर्वाह:। मारीचवधस्य ककुभग्रामरागेणैव। अतएव रागकाव्यानीत्युच्यन्त एतानि। रागो गीत्यात्मकत्वात्स्व(क: स्व)रस्य तदाधारभूतं काव्यमिति। एवमिदं च नृत्तं

[³ ये सभी प्रबन्ध नृत्तात्मक होते हैं। नाटक आदि से विलक्षण नाट्यात्मक नहीं हैं 'राघवविजय' और 'मारीचवध' ये दो रागकाव्य हैं] ग्रन्थ के विस्तार के भय से तथा प्रकृत में इसका उपयोग न होने से इसके सम्बन्ध में बहुत अधिक नहीं लिखा गया है। जो उपयोगी होगा उसे यथावसर वर्णन करेंगे।]

यह तो पदगत आक्षेप का प्रकार है। यहाँ पर कुछ लोग परस्पर असङ्गति रूप दोष का उद्भावन करते हैं। उसका समाधान पूर्व और उत्तर आदि के द्वारा कर दिया गया है। यहीं एक प्रकार कला की विधि निबध्यमान राघवविजय और मारीचवध आदि रागकाव्य के भेद का उद्भावन करते हैं। जैसाकि कोहल ने कहा है—

"विभिन्न लय के प्रयोग से और रागों के द्वारा विवेचित, नाना रसों से सम्पन्न, सुन्दर कथाओं के ग्रथन से युक्त 'काव्य' होता है।"

अभिनवगुप्त के अनुसार यह 'रागकाव्य' है। यहाँ गीत के आधार पर लय का प्रयोग होने से लय की अप्रधानता और गीति की प्रधानता होती है। जिस प्रकार नाट्य में काव्यार्थ के परिवर्त्तन से राग, भाषा आदि का परिवर्त्तन होता है, उस प्रकार यहाँ काव्यार्थ के विपर्यय से राग, भाषा आदि का परिवर्तन नहीं होता अर्थात् राग, भाषा, ताल, लय आदि अपरिवर्त्तित रहते हैं।

१. कोष्ठकान्तर्गतो भाग: क-म. पुस्तके नास्ति।
२. अयं श्लोकार्द्ध: क.-भ. पुस्तके नास्ति।
३. कोष्ठकान्तर्गत अंश कुछ संस्करणों में नहीं मिलता।

सप्तकृतिप्रकारैर्भगवत एव प्रसृतम्। तथाहि--शुद्धमेव नृत्तं रेचकाङ्गहारात्मकम्। ततो गीतकाद्यभिनयोन्मुखम्। ततोऽपि गानक्रियामात्रानुसारि वाद्यतालानुसारि च। बाहुप्रेङ्खणोरःकम्पपार्श्वनमनोन्नमनचरणसरणस्फुरितकम्पितभ्रूतारापरिस्पन्दकटिच्छेदाङ्गवलनमात्ररूपम्। [1]यत्रोक्तं--

"तण्डुनापि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः।
नृत्तप्रयोगः" ॥ इत्यादि। (ना. शा. ४-२६०)

गीतिर्गानमिति ह्यत्र व्युत्पत्तिरुक्ता। ततोऽप्युद्धतसुकुमारमिश्रात्मकभेदचतुष्टयभिन्नकाव्यार्थानुसारितया चतुर्विधम्। तत्र प्रथमो भेदो लौकिके स्वतन्त्रनृत्ते देवतातोषणादौ वा। द्वितीयः पूर्वरङ्गविधौ परिशिष्टनृत्तलक्ष्यतया वास्य ताण्डवादि विश्वं व्याप्तमितीह पूर्वमुक्तम्--

और भी राघवविजय में वर्णनीय विषय की विचित्रता होने पर भी ठक्कराग के द्वारा उसका निर्वाह होता है और मारीचवध में वर्णन-वैचित्र्य होने पर भी ककुभ राग के द्वारा निर्वाह होता है। भाव यह कि राघवविजय में ठक्क राग का और मारीचवध में ककुभराग का प्रयोग होता है। इसलिए ये रागकाव्य कहे जाते हैं राग गीत्यात्मक होने से स्वरप्रधान है और स्वर का आधारभूत यह काव्य है। इस प्रकार यह नृत्त डोम्बिका आदि सात प्रकारों से भगवान् से ही प्रचालित (प्रसृत) हैं। जैसे--रेचक और अङ्गहार रूप नृत्त शुद्ध है। उसके बाद वह नृत्त गीतकाद्युन्मुख और अभिनयोन्मुख होता है। तत्पश्चात् वह केवल गान-क्रियानुसारी और वाद्य-तालानुसारी होता है, फिर वह अङ्गविक्षेपण रूप अर्थात् भुजोत्क्षेपण, उरःकम्पन, पार्श्व नमनोन्नमन, पाद-सरण, नेत्र-स्फुरण, कम्पन, भौंह, और पुतलियों का परिस्पन्दन, कटिच्छेद (कमर की लचक) तथा अङ्गवलन रूप होता है। जैसाकि कहा गया है—

"इतके बाद तण्डु ने गान और भाण्डवाद्य से समन्वित नृत्त प्रयोग की रचना की"। (ना० शा० ४।२६६)

गीति गान है, यहाँ पर यहो व्युत्पत्ति कही गई है। वह भो उद्धत, सुकुमार और मिश्रात्मक चार भेदों से भिन्न काव्यार्थ के अनुसार चार प्रकार का होता है।[2] उनमें पहला भेद लौकिक स्वतन्त्र नृत्त में अथवा देवता के परितोषण आदि में होता है और दूसरा भेद पूर्वरङ्ग के विधान में अथवा परिशिष्ट नृत्त ताण्डव आदि के विधान में निहित है, यह पहिले कहा जा चुका है—

१. क. यच्चोक्तं --

२. यहाँ पर भेदचतुष्टय कहा है किन्तु उद्धत, सुकुमार और मिश्र तीन भेदों का ही उल्लेख है किन्तु यहाँ मिश्र के दो भेद मानकर भेदचतुष्टय कहा गया है। प्रथम दो

तस्य [1]तण्डुप्रयुक्तस्य ताण्डवस्य विधिक्रियाम्[2] ।
वर्धमानकमासाद्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।। २७५ ।।

"प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व भरताय वै" । इति (ना. शा. ४-१८)

भगवता तत्र तण्डुनाऽङ्गहाराः सप्रयोगाः प्रोक्ताः । तत्रैव भूतास्तावदङ्गहारा मह्यं प्रोक्ता इति रेचकैः पिण्डीबन्धैश्च सहितं मुनिना निरूपिताः । करणान्यपि तदुपयोगित्वेनाशङ्कितचोद्यनिराकरणप्रसक्तानुप्रसक्तं नृत्तस्वरूपं दर्शितम् ।। २७४ ।।

अधुना तु प्रयोगः कीदृशोऽङ्गहाराणां प्रोक्त इति प्रकृतमेवानुसन्धातुमाह— तस्य तण्डुप्रयुक्तस्येति ।

तत्र पूर्वरङ्गोचितत्वाङ्गहारप्रयोग इत्युक्तम् । तत्र च "ताण्डव यत्र युज्यते ।" (ना. शा. ४-१३) इति वर्धमानकताल एव ताण्डवयोगयोग्य इति पूर्वं वर्धमानं गृह्णाति । तदनन्तरं तु गीतकादिविषयो विधिर्वक्ष्यते । तस्येति व्यवहितानुसन्धानार्थः परामर्शः । तण्डुप्रयुक्तग्रहणं समनन्तरोक्तनृत्तकाव्यादिविषयताण्डवशङ्कां निरस्यति । निधीयतेऽनेनेति विधिः गात्रम् । तत् दृष्ट्वा येयं क्रिया प्रयोगः सैव लक्षणम् । अन्यतो व्यवच्छेदकत्वात् । तत्र क्रियात्मकं लक्षणं वक्ष्यामीति सम्बन्धः ।

"अङ्गहारों का प्रयोग भरत के लिए कहिए ।" (ना० शा० ४।१८)

भगवान् तण्डु ने प्रयोगों के साथ अङ्गहारों का निरूपण किया है इस प्रकार उन अङ्गहारों को मेरे लिए कहा, इस प्रकार रेचक और पिण्डीबन्धों के साथ मुनि ने निरूपण किया है और अङ्गहारों के उपयोगी करणों का भी निरूपण किया है । फिर आशङ्कित प्रश्नों के निराकरण से सम्बद्ध नृत्य के स्वरूप को भी प्रदर्शित किया है ।। २७४ ।।

अब अङ्गहारों का प्रयोग किस प्रकार कहा, इस प्रकृत का अनुसन्धान करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—अब मैं वर्धमानक के साथ उस तण्डुमुनि के द्वारा प्रयुक्त ताण्डव नृत्त की विधिक्रिया (विधान) और लक्षणों को कहूंगा ।। २७५ ।।

भेद होते हैं—उद्धत और सुकुमार । फिर उद्धत मसृणमिश्रित और मसृण उद्धतमिश्रित भेद से मिश्र दो प्रकार का होता है । इस प्रकार (१) उद्धत (२) सुकुमार (३) सुकुमारमिश्र उद्धत अर्थात् उद्धत अधिक सुकुमार कम (४) उद्धतमिश्र सुकुमार अर्थात् सुकुमार अधिक उद्धत कम ये चार भेद होते है । इसलिए भेदचतुष्टय कहा है ।

१. ख. ताण्डवप्रयुक्तस्य । क. अ. ताण्डिप्रयुक्तस्य । २. ग. विधिक्रिया ।

ननु सा क्रियोक्ता करणाङ्गहारविषया। सत्यम्। गीततालसंमिश्रा तु नोक्ता। इह तु वर्धमानाख्यं तालमासाद्य साम्यापादनायोपायतां नीत्वा तत्प्रमितिगीत्याधारत्वाच्च वर्धमानशब्दवाच्यं "देवं देवैः संस्तुतमीशम्।" (ना० शा० ३१-९८) इत्यादिवाक्यसमूहमासाद्याभिनेयतयाश्रित्य तदाक्षिप्तञ्च गीतविशेषमासाद्याङ्गस्य वलनावर्तनादिगतद्रुततारादिनियमकारित्वेनावलम्ब्य वक्ष्यामीति सम्बन्धः। वर्धमानकगीततालाभिनयसम्बन्धतयोदितं ताण्डवं वक्ष्यतीति यावत्॥ २७५॥

तत्र वर्धमानस्य भविष्यल्लक्षणानुवादेन (ना० शा० अ-३१) ताण्डवयोगाभिधानायाद्यरूपमाह– कलानामित्यादि।

अभिनव—वहाँ पूर्वरङ्ग में प्रयोग करने के योग्य होने से अर्थात् पूर्वरङ्ग के औचित्य के लिए अङ्गहारों का प्रयोग होता है, यह कहा गया है। 'जहाँ ताण्डव का प्रयोग होता है' (ना. शा. ५।१३) इस प्रकार वर्धमानक ताल ही ताण्डव के प्रयोग के योग्य है, इसलिए पहिले वर्धमानक को ग्रहण करते हैं। इसके बाद गीत आदि के सम्बन्ध में विधि को कहेंगे। 'तस्य' में 'तत्' शब्द व्यवहित कहे हुए अनुसन्धान के लिए परामर्श है। 'तण्डुप्रयुक्त' पद का ग्रहण समनन्तर (तत्काल) कहे हुए नृत्तकाव्य के विषय में उत्पन्न ताण्डव की शङ्का का निराकरण करता है। जिससे विधान किया जाय वह विधि शरीर है. उसे देखकर जो क्रिया (प्रयोग) है वही लक्षण है। अन्य से व्यवच्छेदक होने के कारण उसका क्रियात्मक लक्षण कहूँगा, यह सम्बन्ध है।

अब प्रश्न होता है कि करण और अङ्गहारों से सम्बद्ध जो क्रिया है वह कह दी गई है, यह सत्य है; किन्तु गीत और ताल से मिश्रित क्रिया को नहीं कहा है। यहाँ पर तो वर्धमान नामक ताल को लेकर अर्थात् साम्य सम्पादन के उपाय को प्राप्त कर उससे प्रमिति गीति का आधार होने से वर्धमान शब्द से वाच्य 'देवैः देवं संस्तुतमीशं' इत्यादि वाक्यसमूह का अभिनेयत्वेन आश्रयण करके उससे आक्षिप्त गीतिविशेष को ग्रहण करके (प्राप्त करके) अङ्ग के वलन, आवर्त्तन आदि में रहने वाले द्रुत तार आदि के नियमकारी के रूप में ग्रहण करके कहूँगा, यह सम्बन्ध है। वर्धमानक गीत, ताल, अभिनय से सम्बद्ध रूप में कहे गये ताण्डव को कहूँगा॥२७५॥

वर्धमानक

अब वर्धमान के भविष्य में अर्थात् आगे कहे जाने वाले लक्षण के अनुवाद के द्वारा ताण्डव से सम्बन्ध बताने के लिए आद्य रूप को कहते हैं—

कलानां [1]वृद्धिमासाद्य [2]ह्यक्षराणां च वर्धनात् ।
[3]लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ॥ २७६ ॥

सप्तदशकलः कनिष्ठासारितकः । स एव द्विगुणलयो लयान्तरः । त्रयस्त्रिंशत्कलो मध्यमः । पञ्चषष्टिकलो ज्येष्ठः । तेन कलानां लयद्वारेण सङ्ख्याद्वारेण च वृद्धिः । तद्वृद्ध्यै च हीयमानपदवृद्धिराक्षिप्ता (हीयमानपदवृत्तिराक्षिप्ता) । यद्वक्ष्यते—"चत्वारस्तु गणा युग्मे ओजे" इत्यादि (ना० शा० ३१-९७) । इह त्वक्षराणि तेषां वृद्धिः कलानुसारेणैव नर्त्तकीनां च वृद्धिः । एका हि प्रथमासारिते न तत्प्रयोक्त्री । द्वितीये द्वे इत्यादिक्रमेण । अतो वृद्धियोगाद्वर्धमानकम् । ततः संज्ञायां कन् । कण्डिकानां च दशपरिवर्तक्रमो भविष्यति । प्रयोगे यथा यथाक्षरं विनिवृत्तमित्यपि यो भेदो भविष्यति तेनापि क्रमेण कलादीनां वृद्धिः । अतोऽत्राङ्गहारप्रयोगस्य परिपूर्णस्य च पिण्डीबन्धविधेः सम्यङ्निष्पत्तिर्भवतीति तात्पर्यम् ।

वर्धमानक का लक्षण

अनुवाद—जहाँ पर कलाओं की वृद्धि के साथ अक्षरों की वृद्धि होती है और लय की वृद्धि होती है, उसे 'वर्धमानक' कहते हैं ॥ २७६ ॥

अभिनव—वर्धमानक एक प्राचीन गीत है । इसमें कलाओं, अक्षरों और लयों की वृद्धि होती है । वर्धमानक आसारित गीत पर आधारित है । आसारित गीत में लय आदि की वृद्धि कर देने पर 'वर्धमानक' की निष्पत्ति होती है । आसारित गीत के चार प्रकार होते हैं–कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ । इनमें कनिष्ठ आसारित सत्तरह कलाओं का होता है, वही द्विगुणित होकर लयान्तर होता है अर्थात् कनिष्ठ आसारित में जितने अक्षर होते हैं उनसे दुगुना होने पर लयान्तर होता है । मध्यम आसारित तैंतीस कलाओं का होता है और ज्येष्ठ आसारित पैंसठ कलाओं का होता है । इस प्रकार कलाओं की वृद्धि लय और संख्या दोनों के द्वारा होती है । उनकी वृद्धि के लिए हीयमान पदों की वृद्धि का आक्षेप किया जाता है । जैसाकि कहा कायगा—

"समपाद में चार गण और विषमपाद में छः गण होते हैं ।" (ना.शा.३१।१९६)

यहाँ तो अक्षरों की वृद्धि होती है और कलाओं की वृद्धि के अनुसार नर्त्तकियों की वृद्धि होती है । प्रथम आसारितक नृत्त में एक नर्त्तकी, द्वितीय आसारितक नृत्त में दो नर्त्तकियाँ प्रयोग करती हैं, इसी क्रम से आगे भी वृद्धि होती है । इसलिए वृद्धि

---

१. क-अ. वृद्धिमालोक्य ।
२. ख. ब. त्वक्षराणाम् ।
३. ग वर्धनान्नर्तकीनाञ्च वर्धमानकमुच्यते । ख. लक्ष्यस्य बन्धनाच्चापि वधमानकमुच्यते ।

कृत्वा कुतपविन्यासं [1]यथावद्द्विजसत्तमाः ।
[2]आसारितप्रयोगस्तु ततः कार्यः प्रयोक्तृभिः ।। २७७ ।।

एवं लक्षणानुवादेन ताण्डवोपयोगमभिधाय विधिदृष्टां क्रियां प्रतिज्ञानपूर्वमाह—कृत्वेत्यादि ।

पूर्वरङ्गविधौ वक्ष्यते—

'कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया ।

कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा ।।" इति (ना० शा० ५-२१) । तत्र प्रथमार्धेन शुष्काक्षरैरासारितप्रयोगमाह । तथा च वक्ष्यति—

"एतानि तु बहिर्गीते त्वन्तर्यवनिकागतैः ।।" इति (ना०शा० ५-११) । बहिर्गीतशब्देन द्वितीयार्धेन सार्थकपदयुक्तमासारितप्रयोगमाह । तत्रैव चोच्यते—

के योग से वर्धमानक होता है । कण्डिकाओं के दश परिवर्त्तक्रम होंगे । प्रयोग में जैसे 'यथाक्षरं विनिवृत्तम्" अर्थात् जिसमें अक्षर निवृत्त नहीं होता, यह यथाक्षर नामक जो भेद होगा उसके क्रम से भी कलाओं की वृद्धि होती है । इसलिए यहाँ पर अङ्गहार से परिपूर्ण अर्थात् नृत्ताङ्गहारोपलक्षित पिण्डोबन्ध नृत्त की सम्यक् निष्पत्ति होती है, यह तात्पर्य है ।। २७६ ।।

आसारित

इस प्रकार लक्षण के अनुवाद के द्वारा ताण्डव नृत्त के प्रयोग का अभिधान करके प्रतिज्ञापूर्वक विधि से दृष्ट क्रिया को कहते हैं—

अनुवाद—हे ब्राह्मणश्रेष्ठों ? कुतुपों अर्थात् वाद्ययन्त्रों की विधिवत् स्थापना करके फिर प्रयोक्ताओं को आसारित का प्रयोग करना चाहिए ।।२७७।।

अभिनव—जैसाकि पूर्वरङ्ग के विधान में आगे कहेंगे—

"कला और पात का विभाग करने के लिए 'आसारित' क्रिया की जाती है। और देवताओं के कीर्त्तन करने से गीत या गीतक विधि का प्रयोग समझना चाहिए।" (ना० शा० ५।२१) ।

उसमें पूर्वार्द्ध के द्वारा शुष्काक्षरों से आसारित प्रयोग को कहते है और आगे कहेंगे—

"इन बहिर्गीतों का प्रयोग यवनिका के भीतर सम्पादित करना चाहिए।" (ना० शा० ५।११)

बहिर्गीत शब्द से उत्तरार्द्ध के द्वारा सार्थक पदों से युक्त 'आसारित' प्रयोग को कहते हैं और आगे कहेंगे—

१. क. प. यथावदनुपूर्वशः ।
२. ब. आसारितप्रयोगस्तु । क-अ. प्रसारितप्रयोगस्तु ।

"ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघाट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥"

गीतानां मद्रकादीनाम् । (ना० शा० ५-१२) इत्यादि ।

तस्मिन्नवसरेऽयं नृत्तप्रयोग इति तमेवावसरं दर्शयन्ति—कृत्वेत्यर्धेन ।

कुतं शब्दं पातीति चतुर्विधमातोद्यं कुतपं तत्प्रयोक्तृजातञ्च । तस्य विशेषेण व्यवस्थापनम् । तत्र विशेषेण न्यासो यथायोगं स्वरताललयकलादिनिवेशनम् । स एव प्रत्याहारादिरासारितक्रियान्तःपरिपूर्णो विन्यासः । आसारितक्रियाभिघाततातोद्ये तत्प्रयोक्तरि च प्रयोक्ष्यमाणासारितगतकलापातप्रस्ताव एवं क्रियत इत्युक्तम् । स च परिपूर्णो विन्यासो यथावच्छब्देन दर्शितः । अनुपूर्वश इति पाठे प्रत्याहारावतरणाद्यङ्गजातं सूचयति । तेन (एतदुक्तं) तदुक्तं भवति—अन्तर्यवनिकागते शुष्काक्षरप्रयोगप्राणभविष्यदातोद्यप्रस्तावनात्मके दृष्टफलदैत्यादिपरितोषणया तद्विध्नशामनशास्त्रीयफले च प्रयुक्तेऽङ्गकलापेऽयं प्रयोगविधिः । आसारितप्रयोग इति सार्थकपदं य इत्यर्थः । प्रयोक्तृभिरित्यातोद्यान्तरसाहित्य बहुवचनेनाह ॥ २७६ ॥

"इसके बाद यहाँ यवनिका को हटाकर सभी वाद्ययन्त्रों के साथ नृत्त तथा पाठ्य का संयुक्त प्रयोग करना चाहिए और मद्रक आदि गीतों में किसी एक गीत की योजना करनी चाहिए।" (ना० शा० ५।१२-१३)।

उस अवसर पर यह नृत्त प्रयोग होता है, 'कृत्वा' इत्यादि अर्द्धश्लोक द्वारा उसी अवसर को दिखाते हैं—

कुतुपविन्यासमिह—'कुतं शब्दं पाति रक्षति इति कुतुपः' अर्थात् जो शब्द की रक्षा करता है उसे 'कुतुप' कहते हैं। चार प्रकार के वाद्य तथा उनके प्रयोगकर्त्ता 'कुतुप' कहलाते हैं। उनका विशेष रूप से व्यवस्थापन विन्यास है। वहाँ विशेष रूप से न्यास अर्थात् स्वर, ताल, लय, कला आदि का यथायोग सन्निवेश। वहीं प्रत्याहार से लेकर आसारित क्रिया पर्यन्त पूर्णरूप से (परिपूर्ण) विन्यास है। आसारित क्रिया के द्वारा अभिघात (पात) किये गये वाद्य और उनके प्रयोक्ताओं द्वारा किये गये आसारितगत कला एवं पात का प्रस्ताव इस प्रकार किया जाता है, यह कहा गया है। वह परिपूर्ण विन्यास 'यथावत्' शब्द के द्वारा दिखा दिया है। 'अनुपूर्वशः' इस पाठ को स्वीकार करने पर प्रत्याहार, अवतरण आदि अङ्गों की सूचना मिलती है। इससे यह कहा गया है कि–यवनिका के भीतर शुष्काक्षर प्रयोगात्मक आतोद्यो (वाद्यों) के प्रयोग से युक्त प्रस्तावनात्मक दृष्ट फल वाले दैत्यादि (विष्णु) के परितोष से नाट्य-विघ्नों के शमन रूप शास्त्रीय फल वाले पात्रों द्वारा प्रयुक्त यह आङ्गिक अभिनय है। 'आसारित प्रयोग' यह सार्थक पद है। 'प्रयोक्तृभिः' इस बहुवचन से आतोद्यान्तर का कथन है ॥ २७७ ॥

[1]तत्र तूपोहनं कृत्वा [2]तन्त्रीगानसमन्वितम् ।
कार्यः प्रवेशो नर्तक्या भाण्डवाद्यसमन्वितः ।। २७८ ।।
विशुद्धकरणायां तु जात्यां [3]वाद्यं प्रयोजयेत् ।
[4]गत्या वाद्यानुसारिण्या तस्याश्चारीं प्रयोजयेत् ।। २७९ ।।

प्रयोगक्रमं दर्शयति—तत्र त्वित्यादिना ।

उपोहनं शुष्काक्षरं कनिष्ठासारिते पञ्चकलम् । उपोह्यन्ते समासव्यासतः पदकालतालमभिहिताः स्वरा यस्मिन्नङ्गे तत्तथोक्तम् । गानं सुषिरातोद्यं गीयते यतः स्थानस्वरादिति गानम् । तेन घनावनद्धातोद्यद्वयस्यात्र निराशः । उपोहन-समाप्तौ नर्तक्याः प्रवेशः । तत्र भाण्डवाद्यं पुष्करवाद्यं तत्र विशुद्धकरणजातौ[5] । सा च मध्यस्त्रीणां लक्ष्यते । तत एवात्रानुकारसाक्षात्कारशङ्कानिराकरणम् ।

अब प्रयोग के क्रम को दिखाते हैं—

अनुवाद तदनन्तर तन्त्रीवाद्य पर गाने (गायन) **के साथ उपोहन करके भाण्डवाद्य के वादन के साथ नर्त्तकी को रङ्गमञ्च पर प्रवेश करना चाहिए ।। २७८ ।।**

अनुवाद--विशुद्ध करणों तथा जातियों में वाद्ययन्त्रों का प्रयोग करे। और वाद्यानुसारिणी अर्थात् वाद्यों का अनुसरण करने वाली गति से चारी का प्रयोग करे ।। २७९ ।।

अभिनव—अभिनवगुप्त ने कनिष्ठासारित में पाँच कलों के अन्तर्गत शुष्काक्षर के प्रयोग को 'उपोहन' कहा है। जिस अङ्ग में पद, काल, ताल के साथ स्वरों का संक्षेप (समास) एवं विस्तार (व्यास) से उपोहन किया जाता है उसे 'उपो-हन' कहते हैं। तत और सुषिर आतोद्य पर जो गाया जाता है उसे गान कहते हैं। इससे घन और अवनद्ध वाद्यों का निरास (निराकरण) हो गया। उपोहन की समाप्ति पर नर्त्तकी का प्रवेश होता है। इसके साथ भाण्डवाद्य (पुष्करवाद्य) का विशुद्ध करण और जाति में प्रयोग होता है। वह जाति मध्यम वर्ग की स्त्रियों में दिखाई देता है। उसी से यहाँ अनुकार (अनुकरण) के साक्षात्कार की शङ्का का निराकरण हो गया।

---

१. ख. घ. तत्र चोपोहनं । क-अ. तत्रोपवहनम् । क-प. ततस्तूपोहनम् ।
२. ख-घ. तन्त्रीभाण्डसमन्वितम् । ३. क-अ. भाण्डम् ।
४. क ख. गीत्या वाद्यानुसर्पिण्या ततश्चारीं प्रयोजयेत् । घ. गत्या वाद्यानुसर्पिण्या ततश्चारी प्रयोजयेत् । क. गत्या वाद्यानुसर्पिण्या तस्यां चारीं प्रयोजयेत् । अ. गत्यावाद्यानु-सर्पिण्या तस्माच्चारी प्रयजयेत् ।
५. क. म. विशुद्धकरणताली

तथा हि—सति परमेश्वरस्य रामादिवत्प्रयोज्यत्वे [1]प्रथमप्रकृत्यादिचित्त-जातिप्रसङ्गः। तत्र—

"एकाक्षरं विशुद्धायां वाद्यं स्यात्सर्वमार्गकम्।"
"द्व द्वं खो खो णा णादि या विहितवाक्या।
सा शुद्धा विज्ञेया मध्यस्त्रीणां समा जातिः॥" इति।
(ना. शा. ३४।१३६-१३८)

अद्यत्वे अयमेव वर्णस्तत्तत् "रुन्दहि रुन्दहि" इत्यादि। तथाविधवाद्यानुसारिणी या गतिः तदुपलक्षणचारीति सम्बन्धः। 'करणाङ्गहारान्प्रयुञ्जीत' इति भाण्ड-वाद्यस्यानुप्रयोज्यता प्राधान्येनोक्ता। यथोक्तं भवति भट्टतौतेन—"पर्यायशास्त्र-स्यास्य प्रयोगः" इति॥ ३७८-३७९॥

जैसा कि, रामादि के समान आचरण करने के लिए राजा के प्रयोज्य होने पर प्रकृत्यादि से प्राप्त जाति का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

वहाँ—

"विशुद्धा जाति में एकाक्षर की आवृत्ति होती है और रस एवं भावों के औचित्य से सभी मार्गों का अनुसरण करने वाले वाद्य का प्रयोग होता है और वह नित्य करण के योग से अन्वित होती है।"

जैसे-—"द्वं द्वं खो खो णा णा" आदि से बने हुए वाक्यों वाली शुद्धा जाति सदा मध्यम श्रेणी की स्त्रियों में रहती है।" (ना० शा० ३४।१५०-१५१)

प्रथम अर्थात् एकाक्षर की आवृत्ति में वही वर्ण (अक्षर) बार-बार आता है। जैसे 'रुन्दहि रुन्दहि' इत्यादि में। इसके बाद वाद्यों का अनुसरण करने वाली गति से उपलक्षित 'चारी' का प्रयोग होता है, यह सम्बन्ध है। "करण और अङ्गहारों का का प्रयोग करे" इस प्रकार भाण्डवाद्यों की अनुप्रयोज्यता प्रधान रूप से कही गई है। जैसा कि भट्टतौत ने कहा है कि—"क्रमशः (क्रम से) इसका प्रयोग होता है।" ॥ २७८-२७९॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ताण्डव नृत्य में वर्धमानक के प्रयोग को आवश्यक बताया गया है क्योंकि वर्धमानक के बिना ताण्डव का प्रयोग सम्भव नहीं है। वर्धमानक में कलाओं, अक्षरों और लयों की वृद्धि होती है। आसारित के समुदित रूप को वर्धमानक कहते है। आसारित चार प्रकार का होता है—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। समय के विभाग को कला कहते हैं। सत्तरह कलों का कनिष्ठासारित होता है। तैंतीस कलों का मध्यमापसारित और पैंसठ कलों का ज्येष्ठापसारित होता है। इस प्रकार लय और संख्या दोनों के द्वारा कलाओं की वृद्धि होती है और उसकी वृद्धि के लिए

१. प्रथमप्रकृत्यादविचितजातिप्रसङ्गः।

हीयमान पदों की वृद्धि कर आक्षेप किया जाता हैं। अक्षरों की वृद्धि भी कलाओं के अनुसार होती है। कला तथा अक्षरों की वृद्धि के अनुसार नर्त्तकियों की संख्यावृद्धि होती है। जैसे प्रथम आसारित में एक नर्तकी, द्वितीय आसारित में दो नर्त्तकी और तृतीय आसारित में तीन नर्त्तकियों की वृद्धि होती है। इस प्रकार वृद्धि के योग से वर्धमानक होता है।

आसारित का योग वर्धमानक कहा जाता है। अर्थात् आसारित में ताल, लय, वाद्य, अभिनय आदि की वृद्धि कर देने से वर्धमानक होता है। वर्धमानक चार खण्डों में विभाजित है जिन्हें कण्डिका कहते हैं। देवताओं ने ध्रुवक और कलाओं के आश्रय से कण्डिकाओं का निर्माण किया है। कण्डिकाओं का दश संख्या में परिवर्त्तक्रम होता है। बिस्तार के भय से इनका विस्तृत विवेचन नहीं करते हैं। उनका विस्तार आगे यथावसर किया जायगा।

अक्षरसंख्या के अनुसार आसारित के तीन भेद बताये गये हैं—यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात।

आसारितानां सर्वेषां त्रयो भेदाः प्रकीर्त्तिताः।
यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि च॥ (ना० शा० ३१।११४)

इनमें यथाक्षर अनिवृत्ताक्षर पद होता है अर्थात् यथाक्षर में अक्षरों और पदों की निवृत्ति (आवृत्ति) नहीं होती। अर्थात् यथाक्षर आवृत्तिशून्य होता हैं। यहाँ पर निवृत्ति' का अर्थ आवृत्ति है। (**निवत्तिरावृत्तिरुच्यते**—अभिनव)। अन्य दोनों भेदों में निवृत्ति (आवृत्ति) का विधान है। यह आवृत्ति द्विसंख्यात में दो बार और त्रिसंख्यात में तीन बार होती है।

अनिवृत्ताक्षरपदं यथाक्षरमिति स्मृतम्।
निवृत्या यत् समायुक्तं द्विसंख्यातं तदुच्यते।
निवृत्तिद्वयसंयुक्तं त्रिसंख्यातमपीष्यते॥
(ना०शा० ३१।११५-११६)

इसके बाद कुतप विन्यास करके आसारित का प्रयोग करना चाहिए। कला-पात के विभाजन के लिए आसारित क्रिया की जाती है। इसमें शुष्काक्षरों के द्वारा यवनिका के भीतर सभी भाण्डवाद्यों के संयोग से प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त अङ्गों का सम्पादन किया जाता है। इसके बाद यवनिका को हटाकर कुतप-विन्यास करना चाहिए। नाट्यशास्त्र में वादक एवं वाद्यवृन्द के लिए 'कुतप' शब्द का प्रयोग हुआ है। व्युत्पत्ति के अनुसार कुतप शब्द का अर्थ है—'कुतं शब्दं पाति रक्षति इति कुतपः' अथवा 'कुं नाट्यभूमिं तपति उज्ज्वलयति इति कुतपः' अर्थात् जो शब्दों की रक्षा करता है अथवा जो नाट्यभूमि को प्रकाशित करता है, उसे 'कुतप' कहते हैं। इस प्रकार

तदनन्तरं प्रयोगमाह—वैशाखस्थानकेनेत्यादि ।

अभिनवगुप्त ने गायक-वादकों के समुदाय को 'कुतप' कहा है तदनुसार रङ्गमञ्च पर पूर्व-रङ्ग विधि के पहिले 'कुतप-विन्यास' करने का विधान बताया गया है। भरत ने कुतप का त्रिविध विभाजन किया है—१-तत कुतप २-अवनद्ध कुतप ३-नाट्य कुतप। ततकुतप में तन्त्री एवं सुषिर वाद्यों का विन्यास किया जाता था और वैपञ्चिक, वैणिक तथा वंशवादक का सन्निवेश किया जाता था। अवनद्ध कुतप में मार्दङ्गिक, पाणविक और दार्दुरिक आदि वादकों का समावेश था। नाट्यकुतप में गायक-वादक तथा नट-नर्त्तकियों के रङ्गमञ्च पर बैठने का विधान बताया गया है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के वाद्यवृन्द एवं गायक, वादक तथा नट-नर्त्तकियों के समूह के लिए 'कुतप' शब्द का प्रयोग होता है। आसारित क्रिया के बाद तन्त्रीगान के साथ उपोहन का सम्पादन किया जाता है। अभिनवगुप्त ने कनिष्ठापसारित में पाँच कलों के अन्तर्गत शुष्काक्षर के प्रयोग को उपोहन माना है। भरत ने उपोहन की परिभाषा निम्न प्रकार दी है—

उपोह्यन्ते स्वरा येन तेन गीतं प्रवर्त्तते।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं शुष्काक्षरसमन्वितम् ॥
अथवोपोह्यते यस्मात् प्रयोगः सूचनादिभिः।
तस्मादुपोहनं ह्येतद् गानभाण्डसमाश्रयम् ॥
(नाशा० ३१।१३८-१३९)

अर्थात् जिससे स्वर धारण (उपवहन) किये जाते हैं और उससे गीत का प्रवर्त्तन होता है, शुष्काक्षर से समन्वित उसे 'उपोहन' कहते हैं। (ना० शा० ३१-१३८)

अथवा

जिससे नाट्यप्रयोग की सूचना अभिनय के द्वारा अथवा शुष्काक्षर गान एवं भाण्डवाद्य के द्वारा जाती है उसे 'उपोहन' कहते हैं। (ना० शा० ३१।१३९)।

अभिनवगुप्त के अनुसार जिससे अङ्ग में पद, काल, ताल सहित स्वरों का संक्षेप और विस्तार से उपोहन किया जाता है, उसे उपोहन कहते (**उपोह्यन्ते समासव्यासतः पादकालतालमभिहताः स्वरा यस्मिन्नङ्गे तदुपोहनम्**)।

इस प्रकार उपोहन गीत का प्रारम्भिक भाग है जिसमें स्वरों का शुष्काक्षरों द्वारा गायन होता है। उपोहन के समाप्त होने पर नर्त्तकी का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है। यहाँ पर पुष्करवाद्यों (भाण्डवाद्य) पर विशुद्ध करण और जाति का प्रयोग किया है। वह जाति मध्यम श्रेणी की नारियो में होती है। तदनन्तर वाद्यों की अनुसरण करनेवाली गति से चारी का प्रयोग किया जाता है ॥ २७९ ॥

अब इसके बाद प्रयोग को कहते हैं—

[1]वैशाखस्थानकेनेह सर्वरेचकचारिणो ।
पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रङ्गमण्डपम् ॥ २८० ॥
पुष्पाञ्जलिं विसृज्याथ रङ्गपीठं परीत्य च ।
प्रणम्य [2]देवताभ्यश्च ततोऽभिनयमाचरेत ॥ २८१ ॥

वैशाखरेचितकरणमनेन लक्षयति—

"रेचितं हस्तपादं च कटिग्रीवं च रेचितम् ।" इति (ना. शा. ३-९७) पुष्पाञ्जलिधरेति ।

तलपुष्पपुटकरणमनेन लक्ष्यते—विसृज्येति । पुष्पाक्षेपमङ्गप्रक्रमेण प्रदर्श्येत्यर्थः । अन्ये तु सद्य एव पुष्पाञ्जलिं तत्मोक्षं चाहुः—रङ्गपीठे यः परिगमः परिष्वङ्गकरणं मध्य एव देवतानां पूर्वपूजितानां प्रणामाभिनय इत्येककालत्वं चशब्देनोक्तत्वात् द्वयं चाचरेदित्येतदुपेक्ष्यम् । पौर्वकाल्यमाश्रित्य ततोऽभिनयमिति । भक्त्यतिशयेन तदर्थभावनया विशिष्टतां प्रदर्शयितुम् । आसारितवाक्यस्य पदार्थवाक्यार्थविषयोऽभिनयः स्वात्मन्याभिमुख्यनयनात् । न तु सामाजिकान्प्रति । २८१ ॥

अनुवाद इसके वाद वैशाखस्थानक स्थिति में सभी रेचकों को प्रयोग करती हुई नर्त्तकी अञ्जलि में पुष्पों को लेकर रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे ॥२८०॥

अभिनव--यहाँ पर "वैशाखस्थानक" पद से "वैशाखरेचितकरण' के प्रयोग की ओर सङ्केत है—

"इसमें हस्त, पाद, कटि, ग्रीवा रेचित होते हैं ।" (ना० शा० ४।९९)

अनुवाद—इसके बाद नर्त्तकी रङ्गपीठ पर चारों ओर घूमकर तथा पुष्पाञ्जलि को विखेरकर और देवताओं को प्रणाम कर तब अभिनय प्रारम्भ करे ॥ २८१ ॥

अभिनव--'पुष्पाञ्जलि' पद से 'तलपुष्पपुट' करण का प्रयोग लक्षित होता है—'विसृज्य' का अर्थ है--अङ्गों के सञ्चालन के क्रम से पुष्पक्षेपण को दिखाकर। अन्य आचार्य तो तुरन्त ही अञ्जलि में फूलों को लेना और उसे विखेर देना कहते हैं। 'च' पद से रङ्गपीठ पर चारों ओर परिगमन और मध्य में पूर्वपूजित देवताओं को प्रणाम करना दोनों का एक साथ अभिनय करना कहा गया है अर्थात् दोनों का एक साथ आचरण करे, यह उपेक्ष्य है अर्थात् देवताओं को प्रणाम करने के बाद तब अभिनय प्रारम्भ करे। अतिशय भक्ति से तदर्थ भावना से विशिष्टता दिखाने के लिए। आसारित पदार्थ एवं वाक्यार्थों का अभिनय अर्थात् अपने अभिमुख नयन, न कि सामाजिकों के अभिमुख ले जाना ॥ २८१ ॥

---

१. ख. वैशाखस्तालकेन ।   २. ख. ब. देवताभ्यस्तु ।

[1]यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र [2]वाद्येन योजयेत् ।
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं विधीयते[3] ॥ २८२ ॥

यत्रेति निपातो यतो हेतोरित्यर्थं । तेन यतो गीतमिति गीयमानं वाक्यमभिनेयं स्वात्माभिमुख्यं नेयम् । तच्च गानं स्वरवर्णालङ्कारलक्षणमाभिमुख्यमङ्गसाम्यं नेयम् । ततो हेतोस्तस्यैव प्राधान्यात्तस्मिन्कालेऽवनद्धवाद्यं तदाच्छादनकारि भवतीति स्वातन्त्र्येण न योजयेदतिशयेन नयनं स्यात् । यत्रेति च वीप्सया परिभाषां सार्वत्रिकीमाह ।

अनुवादमुखेन परिशिष्टं प्रयोगमाह अङ्गहारप्रयोगेत्विति । तुशब्द एवकारार्थं । अङ्गहारस्य शुद्धस्यैवाभिनयशून्यस्य प्रयोग नृत्तप्राधान्ये तदनुसारि वाद्यम् । विशेषणान्तरयोगान्तरयोगापेक्षया स विधेयो विधीयते धार्यते । अत एव चानुपादानात् –

"तदेव हि पुनर्वस्तु भूयो नृत्तेन योजयेत् ।" (ना. शा. ४-२८४)

अनुवाद--जहाँ पर गीत अभिनेय हो अर्थात् गीत का अभिनय किया जाय वहाँ वाद्य की योजना नहीं करनी चाहिए, किन्तु अङ्गहार के प्रयोग में भाण्डवाद्यों का प्रयोग किया जाता है ॥ २८२ ॥

अभिनव--यहाँ पर 'यत्र' यह निपात 'जिस कारण से' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इसलिए जिस कारण से गीत अर्थात् गीययान वाक्य अभिनेय अर्थात् अपने अभिमुख लेना है और स्वर, वर्ण, अलङ्कार लक्षण वाले गान (गीत) को आभिमुख्य अर्थात् अङ्गसाम्य करना है। इसलिए गीत की ही प्रधानता होने से उस समय अवनद्ध वाद्य आच्छादन करने वाला होता है। इसलिए स्वतन्त्र रूप से वाद्य का प्रयोग न करे। 'यत्र' इस वीप्सा से परिभाषा को सार्वत्रिकी कहा गया है।

अनुवादमुख से शेष प्रयोग को कहते हैं—अङ्गहार के प्रयोग में तो भाण्डवाद्य का विधान किया जाता है। यहाँ पर 'तु' शब्द 'एव' अर्थ में है। अतः अभिनयशून्य शुद्ध नृत्तप्रधान अङ्गहार के प्रयोग में उसके अनुसारी वाद्य का प्रयोग किया जाता है। इसलिए उपादान न होने से—

"उसी विषयवस्तु को फिर नृत्य के द्वारा दिखाये।" (ना, शा. ४।२८४)।

१. ख. यत्राभिनेयगीतं स्यात । क-न. यत्राभिनेयं गेयं स्यात् ।
२. क. वाद्यं न योजयेत् । क-भ. वाद्यं प्रयोजयेत् । क-म. ब. वाद्यं नियोजयेत् ।
३. ख. ब. प्रयोजयेत् ।

समं रक्त विभक्तं च स्फुटं शुद्धप्रहारजम्[1] ।
नृत्ताङ्गग्राहि वाद्यज्ञैर्वाद्यं योज्यं तु ताण्डवे ॥ २८३ ॥

इति वक्ष्यमाणस्य नर्तक्या[2] समाकर्षणे पुनरासारितगाने [3]शुद्धनृत्तमिति वाद्यस्य गीयमानसहितस्य गानस्य नृत्तस्य च क्रमेण प्राधान्येन प्रयोगो दर्शितः । भाण्डवाद्यं विधीयत इत्युक्तम् ॥ २८२ ॥

तदीदृशमिति दर्शयति सममिति ।

अक्षराङ्गताललययतिपाणिग्रहन्यासविकृतमष्टविधकालदेशसमतात्मकं साम्यं पुष्कराध्याये च वक्ष्यते । तत्र षोढा तालकृतम् । द्विधा स्वरोच्चारणस्थानवेशकृतम् । तद्योगात् समरक्तभावः शब्दस्य हृद्यस्वरूपता । सा च[4] मायूर्यादिमतित्रिविधमार्जनायोगात् । तेन सम्यङ्मार्जनायोगात् रक्तं विभक्तम् । आहत्यानन्तरं च पीडितयोगेन विच्छेदप्रतिभा समानाक्षरम् । स्फुटमिति कादिवर्णानामनुहारो यत्र स्पष्टो भवति । प्रहारजा वर्णान्ते शुद्धविशुद्धकारणान्ते (करणान्ते) स्थिताः । यदि वा आलिप्तिकादिमार्गादन्यतम एव मार्गे स्थिताः । यत्र नृत्तमङ्गहारात्मकं तदङ्गानीव करणानि । यदि वा गीताङ्गानि मुखादीनि गृह्णाति

इस प्रकार वक्ष्यमाण नर्तकी के समाकर्षण अर्थात् प्रवेश में फिर आसारित गान में शुद्ध नृत्त होता है, इस प्रकार वाद्य का गान का और नृत्त का क्रम से प्रधानतया प्रयोग दिखाया गया है । भाण्डवाद्य का विधान करते हैं, यह कहा गया है ॥२८२॥

भाण्डवाद्य का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए, इस बात की सममित्यादि के द्वारा दिखाते हैं—

अनुवाद—वाद्यविशेषज्ञों द्वारा ताण्डव नृत्त में सम, रक्त, विभक्त, शुद्धप्रहारों से स्फुट, नृत्त के अङ्गों का ग्राही वाद्य की योजना करनी चाहिए ॥ २८३ ॥

अभिनव—अक्षर, अङ्ग, ताल, लय, यति, पाणि, ग्रह और न्यास ये आठ प्रकार सभी प्रकार के वाद्यों में देश और काल की समानता को सूचित करते हैं । इनका निरूपण पुष्कराध्याय में किया जायगा । उनमें तालकृत साम्य छः प्रकार का होता है और स्वरों के उच्चारण में स्थानकृत ओर प्रयत्नकृत भेद से साम्य दो प्रकार का होता है । उनके योग से उत्पन्न शब्द का हृद्यस्वरूप समरक्त भाव है । यह शब्द की हृद्यता मायूरी आदि त्रिविध मार्जनाओं के योग से होती है । इस प्रकार सम्यक् मार्जना के योग से होने वाली वाद्यगत हृद्यता 'रक्त' कहलाती है । जहाँ पर हस्त-

१. क-ब. स्फुटशुद्धप्रहारजं । न. त. स्फुट शुद्धं प्रहारजं ।
२. क-म. ततयुक्त्या । ३. क-ब. शुद्धनृत्यमिति ।
४. क. मायूर्यादिमतिविधमार्जनायोगात् ।

प्रयुज्य [1]गीतवाद्ये तु निष्क्रामेन्नर्त्तकी ततः ।
अनेनैव विधानेन प्रविशन्त्यपराः पृथक्[2] ॥ १८४ ॥

समया (समतया) स्वीकुरुते। एतच्च सममिति गतार्थम् । तेनायमर्थः—नृत्तकर्मभूतमङ्गकर्तृभूतं यद्वाद्यं ग्राहयति नृत्तं तन्नृत्यतेति यदङ्गानि प्रयुङ्क्त इव स्वयं वैचित्र्यप्रयोगात्सविलासमिव श्रूयमाणमेव यद्बलादङ्गानि नर्तयतीति तत्तथोक्तम् । तद्यथा कर्तृ ककतकणककुन्दन्तरकरहतत्ततततर्हीकटिच्छिदशतहीत इति चञ्चत्पुटे। यदेवंविधं वाद्यं पुष्कराध्याये वक्ष्यते तत्ताण्डवे इहावसरे योज्यम् । पुष्कराध्याये त्वीदृशौ एव श्लोकौ भविष्यति (ना. शा. ३४-१७२) । तत्र विध्यनुवादाविह द्वौ विपर्यसनीयौ । ताण्डवमुक्तं प्राक् । तत्रैवंविधं वाद्यं कार्यमिति ॥ २८३ ॥

एवं प्रथमासारितस्य प्रयोगमुपसंहरत्यर्धेन—प्रयुज्येप्यनेन । एषां च प्रयोगे प्रथमं परिभाषां करोति श्लोकत्रयेण—अनेनैवेत्यादिनाकरणान्वितमित्यन्तेन ।

प्रहार के बाद अक्षर और पाणि तथा लय का स्पष्ट विभाग हो वह 'विभक्त' कहलाता है। जहाँ पर ककार आदि वर्णों का प्रहार स्पष्ट हो उसे 'स्फुट' कहा जाता है। हस्तप्रहार से उत्पन्न वर्ण शद्ध करण के अन्त में स्थित होते हैं अथवा आलिप्तक आदि मार्गों में से किसी एक मार्ग पर स्थित होते हैं। जहाँ पर अङ्गहार रूप नृत्त होता है वहाँ करण अङ्ग हो जाते हैं अथवा जहाँ पर प्रयोक्ता मुख आदि गीत के अङ्गों को ग्रहण करता है वह 'समम्' इस कथन से गतार्थ हो गया। इससे इसका यह अर्थ है कि जहाँ पर नृत्त कर्मभूत और अङ्ग कर्तृभूत होता है, वही नृत्त की नृत्तता है। जब विचित्र प्रयोग से विलास के समान अङ्ग स्वयं प्रयुक्त होते हैं, जो श्रूयमाण के समान अङ्गों को बलात् नचाता है। इसलिए उसे 'नृत्त' कहा जाता है। वह जैसे—

"ककतकणककुन्दन्तरकरहतत्ततततर्हीकटिच्छिदशतहीत" इस चञ्चत्पुट ताल में।

जो जिस प्रकार के वाद्य को पुष्कराध्याय में कहेंगे उसका यहाँ ताण्डव नृत्त के अवसर पर प्रयोग करना चाहिए। पुष्कराध्याय में इसी प्रकार का श्लोक होगा (ना. शा. ३४।१८६) ताण्डव नृत्त को पहिले बताया जा चुका है, उसमें इस प्रकार वाद्य का प्रयोग करना चाहिए ॥ २८३ ॥

इस प्रकार प्रथम आसारित के प्रयोग का 'प्रयुज्य०' इत्यादि आधे श्लोक से उपसंहार करते हैं। इनके प्रयोग में सर्वप्रथम 'अनेनैव' इत्यादि से लेकर 'करणान्वितम्' तक तीन श्लोकों में परिभाषा करते हैं—

१. ख. घ. गीतमेवं तु । क-न. नृत्तवाद्ये तु । २. ख. ब. पुनः ।

[1]अन्याश्चानुक्रमेणाथ पिण्डीं वध्नन्ति याः [2]स्त्रियः ॥
तावत्पर्यस्तकः[3] कार्यो यावत्पिण्डी न[4] बध्यते ॥ २८५ ॥
[5]पिण्डीं बध्वा ततः सर्वा निष्क्रामेयुः स्त्रियस्तु ताः ।

गानमिति गीयते च गीतम् । गीतवाद्ये प्रधानतयावस्थिते नर्तकी नृत्तेन प्रयुज्य यथा स्वरागतो नृत्तप्राधान्यं तदौचित्याय गीतवाद्यं प्रयुज्य स्वानुसारिणीकृत्य । नर्तकी न तु नाटच इव साक्षाद्रामादिरूपताप्रच्छन्नात्मिका । सा निष्क्रामेदपसरेत् । न तु सर्वथैव निर्गच्छेत् । द्वे द्वितीयमिति (ना. शा. ४-२८६) वक्ष्यमाणत्वात् । अपराः किं युगपत्प्रविशन्ति नेत्याह । पृथक् एकैकक्रमेण प्रविशेदित्यर्थः ॥ २८४ ॥

ननु कियत्यस्ता अपरा या अनेनैव विधिना प्रविशन्तीत्याङ्क्याह—अन्याश्चेति ।

अनुवाद-इसके बाद गीत और वाद्य का प्रयोग करके नर्त्तकी वहाँ से (रङ्गमञ्च से) बाहर निकल जाय और फिर इसी विधान से अन्य नर्त्तकियाँ अलग-अलग प्रवेश करें ॥ २८४ ॥

अभिनव—गान का अर्थ है गीत, जो गाया जाय उसे गीत कहते हैं। नर्त्तकी प्रधान रूप से व्यवस्थित गीत और वाद्य का नृत्त के साथ प्रयोग करके अर्थात् स्वरसतः जिस प्रकार नृत्त की प्रधानता हो, उसी प्रकार औचित्य अर्थात् नृत्त की सफलता के लिए गीत और वाद्य का प्रयोग करके अर्थात् अपने अनुकूल प्रयोग करके चली जाय। नर्त्तकी नाट्य में साक्षात् रामादि का रूप धारण करके अपने स्वरूप को छिपाकर नटी नहीं, अपितु नर्त्तकी रङ्गमञ्च से अपसरण करे, न कि सर्वथा निकल जाय। जैसाकि आगे कहेंगे कि द्वितीय बार दो, तृतीय बार तीन नर्त्तकियों का प्रवेश होता है। अन्य नर्त्तकियाँ क्या एक साथ ही रङ्गमञ्च पर प्रवेश करेंगी ? कहते हैं नहीं। अलग अलग एक एक के क्रम से रङ्गमञ्च पर प्रवेश करेंगी ॥ २८४ ॥

अब प्रश्न होता है कि 'इस विधान से जो अन्य नर्त्तकियाँ प्रवेश करती हैं वे कितनी होती हैं' । यह आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद-इसके बाद जो अन्य स्त्रियाँ (नर्त्तकियाँ) अनुक्रम से पिण्डीबन्ध की रचना करती हैं जबतक पिण्डी का बन्ध नहीं होता अर्थात् जबतक पिण्डी-

---

१. अन्याश्चानुक्रमेणैव । २. ख. घ. ताः स्त्रियः ।
३. ख. तावत् पर्यस्ततः । क-प. त. तावत्पर्यन्तकः ।
४. ख. प्रयुज्यते । क-न. त. प्रबध्यते । ५. क-च. पिण्डीबद्धास्ततः ।

अनुक्रमेण कनिष्ठादिषु चतुर्ष्वासारितेषु यथासङ्ख्यं वक्ष्यमाणाश्चतुरः पिण्डीबन्धप्रकारान् या अन्याः बध्नन्ति ताः अपरा। तेन चतस्त्र एवेत्युक्तं भवति। पिण्डीमिति जातावेकवचनम्।

एवं प्रवेशपृथक्त्वं परिभाषान्तरमाह—तावत्पर्यस्तक इति। तावद्यावदिति भिन्नक्रमः। यावत्पर्यस्तकः केवलासारिताभिहितलक्षण[1] प्रयोगः कार्यः तावन्न पिण्डी बध्यते। तावत्पिण्डीबन्धो न कार्यः। तदनन्तरं तु कर्तव्य इत्यर्थः। पूर्वप्रविष्टया परा परिवर्ज्यते। महावाक्यानुसारादेकधन एव वाहिन्यात्मकोऽङ्गविक्षेपो यत्र प्रयोगे स पर्यस्तको नृत्ताचार्यभाषया पर्यस्तक इति प्रसिद्धः। अभिनयशून्यमाङ्गिकविधिः पर्यस्तकः। स च पिण्डीबन्धे न कार्यः। तदनन्तरं तु कर्तव्य इत्यर्थः। पूर्वप्रविष्टया नर्तक्याः शिक्षार्थमित्याद्यसङ्गतमेव कैश्चिदुक्तं तदुपेक्ष्यमेव। यावच्च पिण्डोबन्धोपयोगि नृत्तं न प्रवर्तते तावत्प्रविष्टनर्तकीनिवर्तनेनैकाकिन्यैवासारिताभिनयः प्रयोक्तव्य इति परिभाष्यते ॥ २८५ ॥

बन्ध का प्रयोग नहीं किया जाता, तबतक उन्हें 'पर्यस्तक' का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद पिण्डबन्ध का प्रयोग करके वे सभी स्त्रियां रङ्गमञ्च के बाहर निकल जाँय ॥ २८५-२८६ (१) ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार 'अनुक्रम से' का यह अभिप्राय है कि—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। इन चार प्रकार के आसारितों में संख्या के अनुसार आगे कही जाने वाली चार पिण्डीबन्ध प्रकारों को अन्य स्त्रियाँ बनाती हैं वे अपरा नर्त्तकियाँ कहलाती हैं। इसलिए चार नर्त्तकियाँ प्रवेश करेंगी, यह कहा गया है। 'पिण्डीम्' में जाति में एकवचन का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार अलग प्रवेश को परिभाषित कर दूसरी परिभाषा को कहते हैं—'तब तक पर्यस्तक का प्रयोग करे' यहाँ पर 'यावत्' और 'तावत्' पद में भिन्नक्रम है। जब तक अपसारित का अनुसरण करते हुए पर्यस्तक का प्रयोग किया जाता है तब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं किया जाता है अर्थात् तब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसके बाद ही पिण्डीबन्ध का प्रयोग करना चाहिए। पूर्व प्रविष्ट नर्त्तकी के द्वारा दूसरी नर्त्तकी का प्रवेश रोक दिया जाता है। महावाक्य के अनुसार एकघन अर्थात् एक वाद्य अथवा मध्यम नृत्त में एक ही नर्त्तकी का जो अङ्गविक्षेप रूप नृत्त होता है वह नृत्याचार की भाषा में 'पर्यस्तक' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार अभिनय शून्य आङ्गिक विधि 'पर्यस्तक' है। उसे पिण्डीबन्ध के प्रयोग के समय नहीं करना चाहिए। उसके बाद ही प्रयोग करना चाहिए। पूर्वप्रविष्ट नर्त्तकी

१. क. केवलासारिताभीतलक्षणः।

[1]पिण्डीबन्धेषु वाद्यं तु कर्तव्यमिह वादकैः ।: २८६ ।।
पर्यस्तकप्रमाणेन चित्रौघकरणान्वितम ।

परिभाषान्तरमाह—पिण्डीं बध्वेति ।

तस्यासारितस्य नृत्तप्रयोगं कृत्वा सर्वास्ता निष्क्रामेयुरपसरेयुः । अत एवैतत्स्थानोपजीविभिरेव श्रीराणकादिकविभिर्डोम्बिकादौ चतुरपसारकः प्रयोगः ।

परिभाषान्तरमाह—पिण्डीबन्धेष्विति ।

यावदेव पर्यस्तक आसारिताभिनयप्रयोगे वाद्ये तावदेव तदन्तरपातिनि[2] पिण्डीबन्धोपयोगिन्यङ्गहारप्रयोगे । किन्तु चित्रं विचित्रं नानाप्रकारं

की शिक्षा के लिए यह है, यह असङ्गत है, ऐसा जो किसी ने कहा है वह उपेक्षणोय है। जबतक पिण्डीबन्ध के उपयोगी नृत्त प्रवर्त्तित नहीं होता तबतक प्रविष्ट नर्त्तकी के निवर्त्तन से एकाकी ही आसारित अभिनय का प्रयोग करना चाहिए, यह परिभाषा की गई है।

अब दूसरी परिभाषा करते हैं—पिण्डी को बाँधकर अर्थात् आसारित नृत्त का प्रयोग करके वे सभी स्त्रियाँ रङ्गमञ्च से बाहर हट जाँय। इसलिए इस नाट्य के सहारे जोविका चलाने वाले श्री राणक आदि कवियों ने डोम्बिका आदि में चतुरपसारण के प्रयोग का निर्देश दिया है ।।२८५-२८६ (१)।।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने यहाँ पर नर्त्तकियों का क्रमिक प्रवेश बताया है। आसारित के भेदों के अनुसार यहाँ पर चार नर्त्तकियों के प्रवेश का निर्देश है। आसारित में जबतक पर्यस्तक का प्रयोग रहता है तब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं होता। पर्यस्तक के प्रयोग के बाद ही पिण्डीबन्ध का प्रयोग होता है। क्योंकि पर्यस्तक अभिनय-शून्य होता है और पिण्डीबन्ध में अभिनय होता है। भाव यह कि अन्य नर्त्तकी रङ्गपीठ पर प्रवेश करने के बाद आसारित का प्रयोग करती हैं और जब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं होता तब तक पर्यस्तक का प्रयोग करती हैं। इसके बाद पिण्डीबन्ध का प्रयोग सम्पन्न करने के पश्चात् सभी नर्त्तकियों को बाहर चली जानी चाहिए। ।। २८५-२८६ (१) ।।

अब दूसरी परिभाषा को कहते हैं—

अनुवाद—इन पिण्डीबन्धों के प्रयोग के समय वादकों को पर्यस्तक के प्रयोगकाल में अनेक प्रकार के विचित्र ओघों एवं करणों से युक्त वाद्य का प्रयोग करना चाहिए ।। २८६ २८७ (१) ।।

१. ख. पिण्डीषट्केषु । घ. पिण्डीबन्धे तु ।
२. क. तदन्तरतापिनि ।

[1]तत्रोपवहनं भूयः कार्यं पूर्ववदेव हि ॥ २८७ ॥
ततश्चासारितं भूयो गायनं[2] तु प्रयोजयेत् ।

प्रयोजितमोघे च वाद्यविधौ (ना. शा. अ-३४) वक्ष्यमाणानि यानि करणानि क्रिया याभिवेध्या भगवत्याङ्गपास्ताभिरन्वितम् (?)। द्विमात्रा यत्र कला स चित्रमार्गं ओघशब्दादेव लब्धः। तत्रैव ह्योघो लक्ष्यते ॥ २८६-२८७ ॥ (१)

एवं पृथक्प्रवेश एकाकिन्या अभिनयप्रयोगः सम्भूयाङ्गहारप्रयोगः तदनन्तरमपसारस्तावत्कालता नृत्तस्य वाद्यस्य वैचित्र्यमिति परिभाषाषट्कं कृत्वा द्वितीयस्य लयान्तरस्यासारितप्रयोगमाह - तत्रोपवहनमिति ।

तत्रैवं परिभाषयति तावत् । यत्रेति पूर्वं कनिष्ठासारितं प्रयुक्तम् । भूय इति बहुतरं षट्कलमित्यर्थः । भूय इति लयाधिकत्वात्कथं तस्याधिक्यमित्यर्थः ।

अभिनव – अभिनव का कथन है कि जब तक आसारित अभिनय के प्रयोग में पर्यस्तक का प्रयोग होता है तब तक पिण्डीबन्ध के उपयोगी अङ्गहार के प्रयोग में वाद्यों का वादन करना चाहिए। ओघ नामक वाद्य के प्रयोग में किन्तु चित्र-विचित्र अर्थात् नाना प्रकार से प्रयोजित आगे कहे जाने वाले जो करण क्रियाएँ हैं उनसे अन्वित वाद्य का वादन करे। जहाँ पर दो मात्राओं वाली कलाएँ हों अर्थात् कला की दो मात्राएँ हों, वहाँ 'चित्रमार्ग' होता है यह अर्थ ओघ शब्द से ही प्राप्त है। वही पर ही ओघ लक्षित होता है ॥२८६-२८७ (१)॥

इस प्रकार अलग-अलग नर्त्तकियों का प्रवेश, एकाकिनी नर्त्तकी के द्वारा अभिनय का प्रयोग, सामूहिक अङ्गहार का प्रयोग, तदनन्तर नर्त्तकियों का अपसरण, जब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग न हो तब तक पर्यस्तक का प्रयोग, नृत्त और वाद्य का वैचित्र्य—इन छः परिभाषाओं को करके आसारित के द्वितीय भेद लयान्तर के प्रयोग को कहते हैं—**तत्रोपवहनमित्यादि**।

अनुवाद—इसके बाद पहिले के समान फिर उपवहन करके फिर पहिले के समान आसारित गायन का प्रयोग करे ॥२८७-२८८ (१)॥

अभिनव – वहाँ इस प्रकार की परिभाषा करते हैं। जहाँ पर पहिले कनिष्ठापसारित का प्रयोग किया गया हो। 'भूयः' का अर्थ 'बहुतर' है अर्थात् छः कलाओं वाला। उत्तरार्द्ध के 'भूयः' पद का अर्थ है कि लय आदि के आधिक्य से गीत का आधिक्य लिया जाता है ॥२८७-२८८ (१)॥

१. ग. तत्रैवोपोहनं । ख. घ. अथोपवहनं ।
२. ग. गायनस्तु प्रयोजयेत् । क-न. गायकस्तत्र योजयेत् ।

पूर्वेणैव विधानेन प्रविशेच्चापि नर्तकी ॥ २८८ ॥
[1]गीतकार्थं त्वभिनयेद् द्वितीयासारितस्य तु ।
[2]तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्[3] ॥ २८९ ॥
[4]आसारिते समाप्ते तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ।
[5]पूर्ववत्प्रविशत्यन्याः प्रयोगः स्यात्स एव[6] हि ॥ २९० ॥

पूर्वेणैवेति । तत्र तूपोहनमित्यादिना । अपिशब्दात् "गत्या वाद्यानुसारिण्या" इत्यादि "प्रणम्य देवतां च" इत्यनन्तरमुद्दिष्टम् । ततः सा द्वितीया नर्तक्यासारितस्य तालविशेषसंबन्धि यद्गीतकं गीयमानं च वाक्यं तस्यार्थमभिनयेत् । पुनस्तदेव लयान्तरासारितलक्षणं वस्तु । सा द्वितीया । चकारात्पूर्वप्रविष्टा च । नृत्तेन च केवलाङ्गहारात्मनाऽभिनयस्तत्साम्येन प्रदर्शयेत् । आसारितप्रयोगानन्तरं तया सह साऽप्यपसरेत् ।

अनुवाद--पहिले के विधान के अनुसार नर्त्तकी प्रवेश करे और फिर द्वितीय आसारित के गायन (गीत) के अर्थ का अभिनय करे। फिर नृत्त के द्वारा उसी वस्तु का पुनः प्रदर्शन करे। इस प्रकार आसारित के समाप्त हो जाने के बाद नर्त्तकी बाहर निकल जाय। इसी प्रकार पहिले के समान अन्य नर्त्तकियाँ भी रङ्गमञ्च पर प्रवेश करें और उसी प्रकार पुनः अभिनय करें ॥ २८८-२९० ॥

अभिनव - यहाँ पर 'पूर्वेणैव' पद से 'पहिले बताये गये उपोहन आदि के प्रयोग के विधान के द्वारा' यह अर्थ निर्दिष्ट है। 'अपि' शब्द से 'वाद्य का अनुसरण करने वाले गति से' इत्यादि और 'प्रणम्य देवतां च' इत्यादि जो कहा है। तदनन्तर वह दूसरी नर्त्तकी द्वितीय आसारित के ताल विशेष से सम्बन्धित जो गीत और गीयमान वाक्य है, उसके अर्थ का अभिनय करे अर्थात् उसके अर्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करे। फिर उसी प्रकार लयान्तर आसारित के वस्तु के अर्थ का अभिनय करे। चकार से पूर्व प्रविष्ट दूसरी नर्त्तकी गृहीत है। केवल अङ्गहार रूप नृत्त से जो अभिनय किया जाता है उसके समान ही प्रदर्शन करे। फिर आसारित प्रयोग के समाप्त हो जाने पर उसके साथ वह दूसरी नर्त्तकी भी चली जाय।

---

१. ख. गीतकार्थप्रयोगश्च । घ. गीतकार्थं प्रयोजयेत् ।
२. ख. घ. तदेव तु पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रयोजयेत् ।
क-ख तदेव च पुनर्वस्तु नाटयेनाभिप्रदर्शयेत् ।
क-म. तदेव च पुनर्वस्तु भूयो नृत्तेन योजयेत् ॥
३. ख आसारितसमाप्तौ च । ४. ख. घ. पूर्ववत्प्रविशेच्चान्या ।
५ ख घ. एव तु । क-त. एव च ।

एवं पदे पदे कार्यो विधिरासारितस्य तु ।
[1]भाण्डवाद्यकृते चैव तथा गानकृतेऽपि[2] च ॥ २९१ ॥
[3]एका तु प्रथमं योज्या द्वे द्वितीयं तथैव च ।
तिस्रो वस्तु तृतीयं तु चतस्रस्तु चतुर्थकम् । २९२ ॥

अथ तृतीयचतुर्थयोरासारितयोरतिदेशेन प्रयोगमाह—पूर्ववदिति । पृथक्त्वेनेत्यर्थः । स एवेति । तत्र तूपोहनं कृत्वेति य उक्तो यश्च परिभाषाषट्केनोक्त इत्यर्थः ॥ २९० ॥

अथ यदैकमेवापसारितं प्रयुज्यते तदायं प्रयोगवैचित्र्यक्रम इत्यतिदेशेन दर्शयति—एवमित्यादिना ।

एकवचनमतन्त्रम् । एकमप्यासारितं यदा प्रयुज्यते तदास्य यानि पदानि छेदाश्चत्वारो मुखप्रतिमुखशरीरसंहरण (ना शा ३१-८०) लक्षणास्तदाश्रयेणायं वर्धमानवच्चतुरपसारप्रयोगो भाण्डवाद्यक्रियायां गीतिक्रियायां च कार्यः । यद्वक्ष्यति "इत्येवं चतुरङ्गानि" इति (ना. शा. ३१-८२) । एतदेव स्पष्टयत्येकं त्वित्यादिना (एका त्वित्यादिना) ।

इसके बाद तृतीय और चतुर्थ आसारित के प्रयोग को कहते हैं—पूर्ववदिति अर्थात् अलग से । वहाँ पर 'उपोहन करके' यह जो कहा गया है और जो छः परिभाषाओं द्वारा कहा गया है ॥ २८८-२९० ॥

इसके बाद जब कभी एक भी अपसारित का प्रयोग होता है तो यह प्रयोग के वैचित्र्य का क्रम होता है, इस बात को अतिदेश के द्वारा दिखाते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार प्रत्येक पद पर गायक और भाण्डवाद्यकों के द्वारा आसारित नृत्त की विधि का अनुसरण करना चाहिए, पहिले पाद की वस्तु एक बार, द्वितीय पाद को दो बार, तीसरे पाद को तीन बार और चौथे चरण को चार बार गाया जाता है ॥ २९१-२९२ ॥

अभिनव—यहाँ पर एकवचन अविवक्षित है। एक भी आसारित का प्रयोग जब किया जाय तब उसके जो पद है-मुख, प्रतिमुख, शरीर और संहरण, उनका आश्रय लेकर वर्धमानक के समान भाण्डवाद्य क्रिया में और गान क्रिया से चतुर-

---

१. ख. घ. भाण्डवाद्यकृतश्चैव । ग. भाण्डवाद्ये कृते चैव ।
२. ख घ. गानकृतोऽपि च ।
३. ख. एकां तु प्रथमां कुर्याद् द्वे द्वितीयं तु वस्तुकम् ।
ग. एकं तु प्रथमं युञ्ज्याद् द्वे द्वितीयं तथैव च ।
घ. एकां तु प्रथमं कुर्यात् द्वे द्वितीयं तु वस्तुनः ।

वस्त्वित्यङ्गम् । युञ्ज्यादिति (योज्या इति) नृत्तेनेति शेषः । त्रिमात्रादिकं यदत्र वस्तु केचित् द्विः कुर्वते तदसदेव । अन्ये त्वेवं पदे पद इत्यादि सार्धश्लोकमुपसंहारवाक्यं वर्धमानप्रयोगस्येति वर्णयाञ्चक्रुः । अपरे पुनराहुः—आसारितस्य पदमभिव्यक्तिस्थानं [1]कण्डिकानां दशपरिवर्तितेन प्रयोगः । तथा हि—विशाला सङ्गता सुनन्दा सुमुखीति चतस्रः कण्डिका वक्ष्यन्ते (ना० शा० - अ० ३१-१२०) क्रमेण नवाष्टौ षोडश द्वात्रिंशत्कलाः । तस्य विशालामनु सङ्गता अनुविशालं सुनन्दा सङ्गता विशालामनु सुमुखी सुनन्दा सङ्गता विशालेति दश परिवर्ताः । तत्र विशालादिपरिवर्तत्रये सङ्गताः परिवर्ताः काकाक्षिवदुभयत्र संबन्ध इति सप्तदशकलस्य द्विः प्रयोगे [2]कनिष्ठलयान्तरितयोः स्थानं भवति । ततः सुनन्दादिपरिवर्तत्रये त्रयस्त्रिंशत्कलस्य मध्यमासारितस्य स्थानं भवति । ततः सुमुख्यादिचतुष्टये पञ्चषष्टिकलस्य ज्येष्ठासारितस्य । एवमासारितस्य पदेषु स्थानेषु कण्डिकादिपरिवर्तेषु चतुरपसारको नर्त्तकीप्रयोगः ।

तदाहैकापीति (एका त्विति) । वस्त्वासारितस्थानमित्येवं [3]कण्डिकावर्धमानस्यायं प्रयोगोऽतिदेश इति तृतीयव्याख्यानतात्पर्यम् । द्वितीये तु व्याख्याने न किञ्चिदधिकमुक्तमिति तदुपेक्ष्यमेव ॥ २९१-२९२ ॥

पसारित का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् आसारित का चार बार प्रयोग करना चाहिए । जैसाकि आगे कहेंगे—'इस प्रकार के चार अङ्ग हैं' । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—'एका तु प्रथमा योज्या' इत्यादि ।

यहाँ पर वस्तु का अर्थ अङ्ग है । 'योज्या' का अर्थ है नृत्य के साथ प्रयोग करना चाहिए । कुछ विद्वान् यहाँ त्रिमात्रिक वस्तु का जो दो बार प्रयोग करते हैं, वह ठीक नहीं है । दूसरे लोग तो 'पदे पदे' इत्यादि सार्धश्लोक को वर्धमानक का उपसंहार वाक्य मानते हैं और अन्य लोग तो कहते हैं कि आसारित का जो पद है अर्थात् अभिव्यक्ति का स्थान है उसे कण्डिकाओं के दश परिवर्त्तक्रम से प्रयोग करे । जैसे—विशाला, संगता, सुनन्दा और सुमुखी । इनमें विशाला नौ कलाओं से युक्त होती है, संगता में आठ कलाएँ, सुनन्दा में सोलह कलाएँ और सुमुखी में बत्तीस कलाएँ होती हैं । प्रसङ्गानुसार इन कण्डिकाओं का क्रम परिवर्त्तित किया जा सकता है । कण्डिकाओं का दश परिवर्त्तक्रम में प्रयोग होते हैं । जैसे पहिले विशाला नामक प्रथमा कण्डिका का प्रयोग करे, उसके बाद सङ्गता का प्रयोग करे । फिर विशाला सुनन्दा उसके बाद सङ्गता, फिर विशाला सुमुखी, सुनन्दा उसके बाद सङ्गता विशाला इस प्रकार दस परिवर्त्तक्रम होते हैं । उसमें विशाला आदि परिवर्त्तत्रय में

---

१. क-म भ काण्डिकानां दशपरिवर्त्तितक्रमेण ।

२. क-म. भ. कनिष्ठलयान्तरितयोः ।

३. क-म. भ. कण्डिकावर्तमानस्यायं ।

अर्थात् विशाला, सङ्गता और विशाला इन तीन परिवर्त्तों में सङ्गता परिवर्त्त का कौए के आँख के समान दोनों से सम्बन्ध है इस प्रकार सप्तदश कल का दो बार प्रयोग होने से कनिष्ठ और लयान्तरित आसारितों का स्थान होता है अर्थात् प्रथम परिवर्त्तत्रय में सत्रह कला वाले कनिष्ठासारित का स्थान होता है। इसी प्रकार प्रथम परिवर्त्तत्रय में अर्थात् बिशाला सङ्गता और विशाला का दोबारा प्रयोग होने पर सत्तरह कला वाले कनिष्ठापसारित का स्थान होता है। उसके बाद सुनन्दा आदि परिवर्त्तत्रय में अर्थात् सुनन्दा, सङ्गता और विशाला इन तीन परिवर्त्तनों में तैंतीस कला वाले मध्यमासारित का स्थान होता है। उसके बाद सुमुखी, सुनन्दा, सङ्गता और विशाला इन चार परिवर्त्तों में पैंसठ कला वाले ज्येष्ठासारित का स्थान होता है। इस प्रकार आसारित के स्थानों में (कण्डिका आदि परिवर्त्तों में) नर्त्तकी को अपसारित का चार बार प्रयोग करना जाहिए। इसलिए कहते हैं—**'एका त्विति'**। वस्तु का आसारित स्थान है, इस प्रकार वर्धमानक में कण्डिकाओं का प्रयोग अतिदेश है, यह तृतीय व्याख्यान का तात्पर्य है। द्वितीय व्याख्यान में कुछ अधिक नहीं कहा है, इसलिए यह उपेक्षणीय है॥ २९१-२९२॥

विमर्श—आसारित के चार भेद होते हैं—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। इन चार प्रकारों का गायन मुख, प्रतिमुख, देह और संहरण इन चार अङ्गों से किया जाता है।

मुखं प्रतिमुखं चैव देहं संहरणं तथा।
अङ्गान्येतानि चत्वारि सर्वेष्वासारितेषु च॥ (ना. शा. ३१।८८)
इत्येवं चतुरङ्गानि ज्ञेयान्यासारितानि तु।
चतुराश्रितैर्बद्धं विज्ञेयं वर्धमानकम्॥ (ना. शा. ३१।९०)

असारित गीतों को चार खण्डों में विभाजित किया जाता है। इन खण्डों को कण्डिका कहते हैं। कण्डिकाओं के नाम हैं—विशाला, सङ्गता, सुनन्दा और सुमुखी। इनमें विशाला नामक प्रथम खण्ड नौ कला, सङ्गता नामक द्वितीय खण्ड आठ कला, सुनन्दा नामक तृतीय खण्ड सोलह कला और सुमुखी नामक चतुर्थ खण्ड बत्तीस कला का होता है—

आद्या नवकला तु स्यादष्टाभिस्तत्परा स्मृता।
दश षट् च तथा चैव तृतीया कण्डिकेष्यते॥

चतुर्थी कण्डिका चैव द्वात्रिंशत्तु कला स्मृताः।
कलाभिरेवं निदिष्टाः कण्डिका वर्धमानके॥
(ना. शा. ३१।७८–९०)।

इस प्रकार इन कलाओं से लक्षित कण्डिकाओं से एक, दो, तीन, चार के योग से आसारित चार प्रकार का होता है—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। इनमें प्रथम कण्डिका आश्रय से कनिष्ठासारित होता है। कनिष्ठासारित में जितने अक्षर होते हैं उससे दुगुना अक्षर होने पर लयान्तर होता है। तृतीय कण्डिका के आश्रय से सोलह कलों से युक्त मध्यासारित होता है और चतुर्थ कण्डिका के आश्रय से बत्तीस कलों से युक्त ज्येष्ठासारित होता है। जैसाकि नाट्यशास्त्र में कहा गया है—

एकद्वित्रिचतुर्योगात्ताभिरासरितानि तु।
वर्धमाने प्रसूयन्ते मार्गतालाङ्गयोगतः॥

प्रथमां कण्डिकां कृत्वा बालतालप्रयोजितम्।
अन्तिमार्धकलाहीनं कुर्यादेवं कनिष्ठकम्॥

द्वितीयां कण्डिकां कृत्वा प्रथमा सकला यदि।
योज्यते पूर्वतालेन तदा तत् स्याल्लयान्तरम्॥

द्विगुणाक्षरसंयोगादन्यमार्गनियोजनात्।
नृत्तकालविशेषाच्च बालादन्यल्लयान्तरम्॥

तृतीया च द्वितीया च प्रथमा चैव तत्कला।
द्विकलं योगमाश्रित्य मध्यमासारितं तु तत्॥

चतुर्थीमादितः कृत्वा चतस्रः कण्डिका यदा।
चतुष्कले नियोज्यन्ते ज्येष्ठमासारितं तु तत्॥

(ना० शा० ३१।८०-८२, ८४-८६)

अब इन कण्डिकाओं के दस परिवर्त्त क्रमों का निरूपण करते हैं—

पूर्वं विशाला कर्त्तव्या सङ्गता तदनन्तरम्।
सङ्गताया ग्रहं कृत्वा विशाला पुनरिष्यते॥

कनिष्ठासारिते तालो यो मया परिकीर्त्तितः।
स एव सर्वः कर्त्तव्यः प्रथमे कण्डिकाद्वये॥

सुनन्दा सङ्गता चैव विशाला च यथोदिता।
सुनन्दाया ग्रहं कृत्वा ततस्यैवं प्रयोजयेत्॥

मध्यमासारिते तालो यो मया परिकीर्त्तितः।
सोऽस्य त्रयस्य कर्त्तव्यः सुनन्दाद्यस्य योक्तृभिः॥

सुमुखी च सुनन्दा च सङ्गता प्रथमा तथा।
सुमुख्यास्तु ग्रहं कृत्वा यथोक्तं सम्प्रयोजयेत्॥

पिण्डीनां विधयश्चैव चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः ।
पिण्डी शृङ्खलिका[1] चैव लताबन्धोऽथ भेद्यकः[2] ॥ २९३ ॥

पिण्डीबन्धप्रकारा अनुक्रमेणासारितेषु प्रयोज्या इत्युक्तम् । के त इत्याह— पिण्डीनामित्यादि ।

विषयः प्रकाराः । तत्र विशेषान्तररहृद्यमेकप्रयोज्यं पिण्डीबन्धरूपमित्येक प्रकारो विशेषनामधेयविरहात्सामान्यशब्देनोक्तः । तदाह—पिण्डीबन्धः पिण्डत्वादिति ।

ज्येष्ठासारिते ताले निःशब्दः शब्दवाँस्तथा ।
स सर्व एव कर्त्तव्यो बुधैश्चतसृणामपि ॥
संयोगे कण्डिकानां तु तालोऽयं परिकीर्त्तितः ।
एवमासां समायोगात् वर्धमानकमिष्यते ॥

(ना० शा० ३१।१४८-१५३)

बालं नवकलं ज्ञेयं दशसप्तलयान्तरम् ।
मध्यमं तु त्रयस्त्रिशत् पञ्चषष्टिस्तयोत्तरम् ॥
कलानां वृद्धिमासाद्य त्वक्षराणां च वर्धनात् ।
लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ॥
आसारितेषु गीतेषु वर्धमानेषु चैव हि ।
द्विगुणस्तालयोगेन कार्यो ह्यक्षरजो विधिः ॥

(ना० शा० ३१।१५५-१५७)

पिण्डीबन्ध प्रकारों को क्रमशः आसारितों में प्रयोग करना चाहिए, यह कहा गया है । वे प्रकार कौन से हैं, इसको कहते हैं—

अनुवाद—पिण्डीबन्धों के प्रयोग की चार विधियाँ कही गई हैं— पिण्डी, शृङ्खलिका, लताबन्ध और भेद्यक ॥ २९३ ॥

अभिनव—विधियाँ अर्थात् प्रकार । उनमें विशेष अन्तर से रहित हृद्य, एक नर्तकी के द्वारा प्रयोज्य पिण्डीबन्ध रूप एक प्रकार है । जिसका विशेष नाम न होने से सामान्य शब्द से कहा गया है ।। २९३ ॥

विमर्श—पिण्डीबन्ध नृत्त के चार भेदों में पहिला भेद पिण्डी है । प्रथम भेद का कोई विशेष नाम नहीं है अतः सामान्य प्रकार होने के कारण उसे केवल 'पिण्डी' नाम से अभिहित किया है । इसे शुद्ध पिण्डीबन्ध कहते हैं ॥ २९३ ॥

---

१. ख. पिण्डीशृङ्खलिता ।
२. क-म. भेद्यतः ।

पिण्डीबन्धस्तु पिण्डत्वाद् गुल्मः[1] श्रृङ्खलिका भवेत् ।
[2]जालोपनद्धा च लता सनृत्तो भेद्यकः स्मृतः ॥ २९४ ॥

नर्तकीयोज्यः परस्परसम्बन्ध एव पिण्डीबन्धद्वयप्रकारः सजातीयो वा [3]एकतालावबद्धकमलयुगलवत् विजातीयो वा हंसवदनपरिगृहीतनालनलिनवत् गुल्मः श्रृंखलिकाशब्दवाच्यः । नर्तकीत्रयप्रयोज्यस्तु ततोऽपि वैचित्र्यसहिष्णुत्वाज्जालवद्विचित्रतां गच्छत्पूर्ववत्सजातीयविजातीयात्मा लताबन्धः । चतुष्टयप्रयोज्यस्तु [4]गतेऽत्र रूपत्रयमहावाक्ये तावद्भिः प्रकारैर्भेदनीय इति तेभ्य एकसत्त्वयोजनाच्चाज्ञातो भेद्यकः । महावाक्यार्थ इति वंकस्यां योजनायां प्रविष्ट इत्यर्थः । स तूक्तविधैस्त्रिभिः नृत्तैः सह वर्तते ॥ २९४ ॥

अनुवाद—पिण्ड रूप में होने के कारण पिण्डी तथा गुल्म रूप में होने से श्रृङ्खलिका होती है तथा जाल में गुँथी होने की चेष्टा में लताबन्ध और अलग-अलग नृत्त का प्रयोग भेद्यक कहा जाता है ॥ २९४ ॥

अभिनव—पिण्डरूप होने के कारण प्रथम भेद को पिण्डी कहते हैं । इसमें नर्त्तकियाँ एक साथ मिलकर पिण्डीबन्ध नृत्त करती है । दो नर्त्तकियों द्वारा प्रयोज्य परस्पर सम्बन्ध होने से दो पिण्डियों के बन्ध का एक प्रकार है जो एक नाल में बँधे हुए दो कमल पुष्पों के समान सजातीय और हंस के द्वारा गृहीत नाल वाले कमल के समान विजातीय गुल्म हैं जिसे श्रृङ्खलिका शब्द से कहा जाता है । इस प्रकार श्रृङ्खलिका नामक पिण्डोबन्ध में दो नर्त्तकियाँ गुल्म के रूप में एक दूसरे से हाथ मिलाकर नृत्य करती हैं । तोन नर्त्तकियों के द्वारा प्रयोज्य और उसकी अपेक्षा विचित्रता को सहन करने के कारण जाल के समान विचित्रता को प्राप्त होता हुआ पहिले के समान सजातीय और विजातीय रूप से युक्त लताबन्ध नामक तृतीय पिण्डीबन्ध होता है । इस पिण्डीबन्ध में तीन नर्त्तकियाँ जाल के समान आपस में बाहुओं को फँसाकर नृत्त करती हैं । चार नर्त्तकियों द्वारा प्रयोज्य रूपत्रयविशिष्ट अर्थात् पिण्डी, श्रृङ्खलिका और लतबन्ध इन तीन रूपों से विशिष्ट महावाक्य में उन तीन प्रकारों से भिन्न उन सबका एक स्थिति में योजना करने से अर्थात् उक्त तीनों नृत्तों से परस्पर सम्बन्ध होने के कारण अज्ञात अर्थात् पिण्डी, श्रृङ्खलिका और लताबन्ध

---

१. ख. घ. गुल्मशृङ्खलिका ।
२. ख. तालोपनद्धाश्च लताः सनृत्तो भेदकः स्मृतः ।
३. क. एकनालावबद्धकमलयुगलवत् ।
४. क गतोऽत्र रूपत्रयो महावाक्ये । क-म. गतोऽत्र रूपत्रयो महावाक्यार्थं इति वै कस्यां योजनायां प्रविष्ट इत्यर्थः । तदाह—स एतैस्त्रिभिः नृत्तैः सह वर्तते ।

पिण्डीबन्धः कनिष्ठे तु [1]शृङ्खला तु लयान्तरे ॥
मध्यमे च लताबन्धो ज्येष्ठे चैवाथ भेद्यकः[2] ॥ २९५ ॥
[3]पिण्डीनां विविधा योनिर्यन्त्रं भद्रासनं तथा ।
[4]शिक्षायोगस्तथा चैव [5]प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः । २९६ ॥

एकादिप्रयोज्यत्वं स्पष्टयति – पिण्डीबन्धः कनिष्ठे त्वित्यादिना ।

ननु कथमेते पिण्डीबन्धान्निष्पद्यन्त [6]इत्याशङ्क्याधारादिभेदकृतां निष्पत्तिं दर्शयति—पिण्डीनां विविधा योनिरित्यादिना ।

तत्र यत्र पुत्रकादीनां यथा पृथग्भूताङ्गानामनुसन्धिस्तथैव भूमिदेहाकाशाद्याधारखण्डलकानुसन्धानं यन्त्रम् । तस्य भूयसा सम्भवात्पूर्वमभिधानम् । अनेन मिश्रा भेदाः सङ्गृहीताः । भद्रं स्फुटमेवेत्यस्यासनं स्थानं भूम्यादौ स्फुटमेव दर्शनादित्येकभेदसङ्ग्रहः । अनेनाधाराङ्गभेदो दर्शितः । प्रयोक्तृप्रयोगभेदस्तु

रूप प्रकारों में अप्रतीत रूप वाला भेद्यक नामक चतुर्थ भेद होता है। अथवा महावाक्यार्थ एक योजना में प्रविष्ट है, वह उक्त तीन प्रकार के नृत्तों के साथ प्रवृत्त होता है ॥ २९४ ॥

"पिण्डीबन्धः कनिष्ठे तु" इत्यादि के द्वारा एकादि प्रयोज्यता को स्पष्ट करते हैं—

अनुवाद—कनिष्ठ आसारित में पिण्डीबन्ध नृत्त का, लयान्तर में अर्थात् लय के मध्य में शृङ्खला का, मध्यम आसारित में लताबन्ध का और ज्येष्ठ आसारित में भेद्यक का प्रयोग होता है ॥ २९५ ॥

अब प्रश्न यह है कि ये पिण्डीबन्ध कैसे उत्पन्न होते हैं। यह आशङ्का करके आधार, ध्वजा, वाहन आदि के भेद से इनकी निष्पत्ति दिखाते हैं—

अनुवाद—पिण्डीबन्धों की उत्पत्ति के अनेक कारण है। (पाठभेद से दो या तीन आधार निर्दिष्ट हैं)। यन्त्र, भद्राससन और शिक्षा योग से प्रयोक्ताओं को इनका प्रयोग करना चाहिए ॥ २९६ ॥

---

१. क-त. शृङ्खला या लयान्तरे ।
२. क-प. म. भेद्यतः
३. क-ख. पिण्डीनां द्विविधो योनिर्यंज्ञं भद्रासनं तथा ।
ब. पिण्डीनां द्विविधा योनिर्यन्त्रभद्रासनं तथा ।
४ ख घ शिक्षाः कार्यास्तथा चैव प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ।
५ क-ङ प्रयोक्तव्या । क-त. सम्प्रयुक्ता ।
६. क-भ. इत्याशङ्कासारादिभेदकृतां । क-म. इत्याशङ्क्याह —आधारादिभेदकृतां ।

पूर्वमेव दर्शितः इहापि चोक्तः। शिक्षायोग इति। करणाङ्गहारविशेषेष्वङ्गविक्षेपवैचित्र्याभ्यास इति साधकतमभेदो दर्शितः। इत एवोवजीव्यास्माभिर्वितत्योक्तं "रेचकैरङ्गहारैश्च" (ना० शा० ४-२४६) इत्यादिव्याख्यानावसरे। विविधग्रहणेन तद्व्यामिश्रणया भेदानन्त्यं सूचयति। तच्चास्माभिः पूर्वमेव दर्शितम्।

ननु सर्वोऽयं पिण्डीबन्धप्रकार इहोपयोगी वा न वेत्याशङ्क्याह—तथा चैव प्रयोक्तव्य इति।

तैः सर्वैरेव प्रकारैः पिण्डीशृङ्खलकादिबन्धो योज्यत इति यावत्। यत्रच्छेद्यकर्म चर्मयन्त्रं काष्ठमयी प्रकृतिर्भद्रासनमिति केचिदत्र व्याख्यां कुर्वन्ति। युक्तायुक्ततां तु सहृदया एव विदुः।

अभिनव—पिण्डियों की अनेक योनियाँ (कारण) हैं। यहाँ वहाँ सब जगह जिस प्रकार अलग-अलग अङ्गों वाली पुत्तलियों का अनुसन्धान होता है उसी प्रकार भूमि, देह, आकाश आदि आधार और खण्डलक आदि का अनुसन्धान (संयोजन) यन्त्र है। इसकी अधिक सम्भावना होने से पहिले कथन किया गया है। इससे भिन्न भेदों का संग्रह हो गया। भद्र, आसन, भूमि आदि का स्पष्ट दर्शन होने से (देखने से) एक भेद का संग्रह हो गया। इससे आधाराङ्ग का भेद दिखाया गया है। प्रयोक्ता और प्रयोग का भेद तो पहिले दिखाया गया है और यहाँ भी कह दिया है।

शिक्षायोग—करण एवं अङ्गहार विशेष में अङ्गविक्षेपरूप नृत्त का विचित्र अभ्यास शिक्षा है, इससे साधकतम का भेद दिखाया गया है। इसी साधकतम भेद का आश्रय लेकर हमने "रेचितैरङ्गहारैश्च" इत्यादि के व्याख्यान के अवसर पर विस्तार से कहा है। 'विविध' पद के ग्रहण से उन भेदों के मिश्रण से अनन्त भेदों की सूचना मिलती है। उसे हमने पहिले ही दिखा दिया है।

अब प्रश्न है कि ये सब पिण्डीबन्धों के प्रकार यहाँ उपयोगी हैं अथवा नहीं, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—उसी प्रकार प्रयोक्ताओं को प्रयोग करना चाहिए।

उन सभी प्रकारों से पिण्डी, शृङ्खलिका, लताबन्ध आदि बन्धों की योजना की जाती है। कुछ लोग इसकी व्याख्या करते हैं कि जहाँ पर छेदन (छेद्य) क्रिया से सम्वलित चर्मयन्त्र (वाद्ययंत्र) है और काष्ठमयी प्रकृति अर्थात् काष्ठ से निर्मित चौकी भद्रासन है। यह व्याख्या उचित है अथवा अनुचित, इसको तो सहृदय लोग ही जानते हैं।

एवं प्रयोगः कर्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः[1] ।
गीतानां [2]छन्दकानां च भूयो वक्ष्याम्यहं विधिम् ॥ २९७ ॥

एवं गीतकाङ्गवाद्यनर्तकीपिण्डीबन्धादिदर्शनादपि नाटचान्नृत्यमभिन्नमित्यपि सूचितम् । न चायं पिण्डीबन्धप्रकारो लक्ष्ये विच्छिन्नः । [3]केवलमृत्तिका पक्षयोः पतितमहौषधिवदनवस्थितैरभ्युद्धतुं न शक्यते सावधानतया तु शक्यत एवेति नात्रालस्यं श्रयितव्यम् । अन्यथा प्रयोगमाहुः । तथा हि—एकं तु प्रथममित्यत्र प्रथमासारितमभिनयति । ततो द्वितीयासारितम् । तत्समकालं तु प्रथमा केवलमङ्गहारं करोतीति । एवं ततीया तृतीयासारितार्थमभिनयति । तदा द्वेऽङ्गहारं प्रयुञ्जाते । चतुर्थी चतुर्थाभिनयं यदा करोति तिस्रोऽङ्गहारं रञ्जयन्ति । अन्ये त्वभिनयप्रयोगेऽपि सहिततामाहुः । जालशृङ्खलिकादिपिण्डीबन्धजातं चान्योन्यं बाहुबन्धवैचित्र्यरचितमिच्छन्ति ॥ २९६ ॥

अथ वर्धमानकमासाद्येति प्रतिज्ञातमुपसंहरति—एवमित्यादिना ।

इस प्रकार गीत, अङ्ग, वाद्य, नर्त्तकी, पिण्डीबन्ध आदि के दर्शन अर्थात् अनुशीलन से भी यह सूचित होता है कि नृत्य नाट्य से अभिन्न है । यह पिण्डीबन्ध प्रकार लक्ष्य में विच्छिन्न नहीं है । क्योंकि केवल मृत्तिका (मिट्टी) अथवा तृणक (तृणसमूह) में गिरी हुई महौषधि के समान अनवस्थित लोगों के द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता और सावधान व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है, इसलिए इस विषय में आलस्य नहीं करना चाहिए । अन्यथा प्रयोग क्यों कहते ? जैसे—"एकं तु प्रथमं योज्या" यहाँ पर प्रथम आसारित का अभिनय एक नर्त्तकी करती है । उसके बाद दूसरी नर्त्तकी द्वितीय आसारित का प्रयोग करती है । उस समय पहली केवल अङ्गहार का प्रयोग करती है । इसी प्रकार तीसरी नर्त्तकी तृतीय आसारित का अभिनय करती है । उस समय दोनों नर्त्तकियां अङ्गहारों का प्रयोग करती हैं । जब चौथी नर्त्तकी चतुर्थ आसारित (ज्येष्ठासारित) का अभिनय करती है तब तीनों नर्त्तकियाँ अङ्गहारों के प्रयोग से उपरञ्जन करती हैं । अन्य लोग तो अभिनय के प्रयोग में भी साहित्य अर्थात् अभिनय और अङ्गहारों का सहयोग (साथ-प्रयोग) को कहते हैं । लताबन्ध शृङ्खलिका आदि पिण्डीबन्धों को परस्पर अनेक बन्धों के वैचित्र्य से रचित चाहते हैं ॥२९६॥

इसके 'वर्धमानक को प्राप्त करके' इस प्रतिज्ञात अंश का उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—हे तपस्वियों ? वर्धमानक में भी इसी प्रकार अर्थात् आसारित में प्रयुक्त विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए । अब मैं गीतों तथा छन्दकों के प्रयोग-विधि को कहूँगा ॥ २९७ ॥

१. ख. घ. प्रयोक्तृभिः   २. क-म. छन्दगानां च ।

३. क. केवलमृत्तकपक्षयोः । क. केवलतृणाक इति पाठान्तरमपि ।

एवं प्राधान्याद्वर्धमानप्रयोगमभिधाय "गीतानां मद्रकादीनाम्" (ना० शा० ५-१३) इति यद्वक्ष्यते तन्निर्णयाय प्रतिजानीते – गीतानामित्यादि । चकारः सर्वशेषतां द्योतयति अन्वाचयं च । आसारितादिपर्यन्तप्रयोज्यानां छन्दकादीनां तच्छेषतयैव लक्षणं वक्ष्यते । तथाहि तालाध्याये (ना० शा० अ० ३१) वर्धमानासारितकगीतकपाणिकान्ते [1]च्छन्दकप्रयोगश्चतुष्पदाप्रयोगश्चाभिधास्यते ।

सर्वेषामेव गीतानामन्ते छन्दक इष्यते ।
[2]चतुरङ्गस्ततः त्र्यङ्गो नवाङ्गो युग्म एव च ॥ (ना. शा. ३१-३२६)
चतुष्पदा तथैकाङ्गा त्र्यङ्गा वा परिकीर्त्तिता" । (ना० शा० ३१-३२७)

इत्यादौ । तेन प्रधानतया तावद्गीतकादिविशेषाणां विधिस्तत्प्रयोगे न तु स्वतन्त्राणाम् । गीतकगतवस्त्वङ्गादि यत्र स्वेच्छया समाश्रित्यैकद्वित्र्याद्यनियमेन प्रयुज्यते तानि च्छन्दकानि । यान्यद्यत्वे नृत्ततालात्मना डोम्बिकानर्तकीलयचरणादिरूपेण प्रसिद्धानि । भूय (इति) । उक्तो हि वर्धमानविधिस्तत्राप्यधिकं[3] वस्तु वक्ष्यते ॥ २९७ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्रधान रूप से वर्धमानक के प्रयोग को कहकर 'गीतानां मद्रकादीनां' इत्यादि जो आगे कहेंगे, उनके निर्णय के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'गीतों और छन्दकों के प्रयोग-विधि को कहूँगा' । यहाँ पर चकार सर्वाङ्गता और अन्वाचय अर्थात् प्रधान कार्य के साथ गौड़ कार्य कथन को द्योतित करता है । आसारित आदि से लेकर पणिका पर्यन्त प्रयोज्य छन्दक आदि का आसारित शेष अङ्ग के रूप में लक्षण करेंगे । जैसाकि तालाध्याय में (ना० शा० अ–३१) वर्धमानक, आसारितक, गीतक, पणिका के अन्त में छन्दक प्रयोग एवं चतुष्पदा प्रयोग को कहेंगे ।

"सभी गीतों के अन्त में छन्दक का प्रयोग इष्ट है । वह चतुरङ्ग, त्र्यङ्ग, नवाङ्ग और युग्म होता है और चतुष्पदा एकाङ्गा अथवा त्र्यङ्गा होती है ।" (ना० शा० ३१।३२६–३२७) ।

इसलिए प्रधान रूप से गीतकों एवं छन्दों आदि की विधि को उसके प्रयोग के अवसर पर कहेंगे, स्वतन्त्र रूप से नहीं । गीतक में विद्यमान वस्तु, अङ्ग आदि का जहाँ पर अपनी इच्छा से आश्रय लेकर एक, दो, तीन के नियम को न देखते हुए अर्थात् अनियम से प्रयोग करते हैं तो वे 'छन्दक' कहलाते हैं । जो आजकल नृत्त और ताल के रूप में डोम्बिका नर्त्तकी के नृत्त, ताल, चरण आदि के रूप में प्रसिद्ध हैं । **'भूयः'** पद का अभिप्राय है—वर्धमानक विधि को कह दिया गया है, उससे अधिक वस्तु को आगे कहेंगे ॥२९७॥

---

१. क-म. भ. छन्दसि प्रयोगश्चतुष्पादप्रयोगश्वाभिधास्यते ।

२. क-म. भ. चतुर्हस्तत्र्यस्रौ । ३. क-भ. तत्राप्यविकलं ।

[1]यानि वस्तुनिबद्धानि यानि चाङ्गकृतानि तु ।
गीतानि तेषां वक्ष्यामि प्रयोगं [2]नृत्तवाद्ययोः ।। २९८ ।।
[3]तत्रावतरणं कार्यं नर्तक्याः [4]सार्वभाण्डिकम् ।
[5]क्षेपप्रतिक्षेपकृतं भाण्डोपोहनसंस्कृतम्[6] ।। २९९ ।।

तत्र गीतकतालाश्रितनृत्तविधानं तावद्दर्शयितुमुपक्रमते—यानीति ।

भूयांसि खण्डलकादिवस्तूनि । स्वल्पानि त्वङ्गानि । तत्र वस्तुनिबन्धनानि त्रीणि गीतकानि—मद्रकः परान्तकं प्रकरी च । अन्यानि चत्वार्यङ्गान्युल्लोप्यकं रोविन्दकमोवेणकमुत्तरं च । तेषां क्रमेणाह—तेषामिति नृत्ते वाद्ये च यो विधिस्तं वक्ष्यामि ।

अब वहाँ पर गीत और ताल में आश्रित नृत्तविधान को दिखाने का उपक्रम करते हैं—

अनुवाद--जो गीत वस्तु से निबद्ध हैं और जो अङ्गों से निबद्ध हैं उन गीतों के तथा उनके साथ प्रयुक्त नृत्त और वाद्यों के प्रयोग को कहूँगा ।।२९८ ।

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार खण्डलक आदि वस्तु अधिक हैं और अङ्ग स्वल्प है । उनमें वस्तु निबन्धन अर्थात् वस्तु से निबद्ध गीत तीन प्रकार के होते हैं—मद्रक, परान्तक और प्रकरी । अङ्गकृत अर्थात् अङ्ग से निबद्ध गीत चार प्रकार के होते हैं—उल्लोप्यक, रोविन्दक, ओवेणक और उत्तर । अब उन गीतों का नृत्त और वाद्य में जो विधि है उसे कहूँगा ।

अनुवाद--क्षेप और प्रतिक्षेप के साथ भाण्डवाद्यों के उपोहन से संस्कृत समस्त वाद्यों के वादन के साथ नर्त्तकी को रङ्गमञ्च पर प्रवेश करना चाहिए ।।२९९।।

पाठान्तर से इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

"क्षेप-प्रतिक्षेप से व्यञ्जित तन्त्रीगान से समन्वित समस्त भाण्डवाद्यों के वादन के साथ नर्त्तकी को रङ्गमञ्च पर प्रवेश करना चाहिए ।। २९९ ।।

१. ग. यानि वस्तूनि मुनयः सन्ति चाङ्गकृतानि तु ।
ख. घ. यानि वस्तूनि बद्धानि यानि चाङ्गकृतानि च ।
२. क-प. नृत्यवाद्ययोः
३. ख. यत्रावतरणं ।
४. ग. सर्वभाण्डिकम् ।
५. ख. छेदप्रतिक्षेपकृतं । क-त. भेदप्रतिक्षेपकृतं । क-ब. छन्दः प्रतिक्षेपकृतं ।
६. ग-घ. तन्त्रीगानसमन्वितम् ।

[1]प्रथमं त्वभिनेयं स्याद्गीतके सर्ववस्तुकम् ।
तदेव च पुनर्वस्तु [2]नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ॥ ३०० ॥

तत्र गीतकेषु ये क्षेपाः प्रथमवस्त्वादावुपोहनानि ये च प्रतिक्षेपाः द्वितीयवस्त्वादिषु प्रत्युपोहनानि, मतान्तरे त्वनन्तर्भूतपृथक्कालात्मकगीतशेषरूपाणि तानि तन्त्रीगतानि (गीतन्त्रीगानयुक्तानि) प्रयुज्य नर्तक्या अवतरणं भाण्डवाद्यसहितं पुष्कराध्यायभाविना [3]प्रविरलचलदङ्गुलि (ना० शा० ९-२०) दलाभिहन्यमानाङ्गिकप्राधान्येन कार्यम् ।

एतदुक्तं भवति—प्रथमे वस्तुन्याक्षिप्तिकामुपोहनं च प्रयुज्य नर्तकीप्रवेशः । द्वितीयादौ प्रत्युपोहनम् । पदयोजना तु तन्त्रीगानान्वितं कृत्वा क्षेपप्रतिक्षेपयोः कृतं परिसमाप्तता यत्र । तादृगवतरणा (तादृगवतरणं कार्यं) सर्वभाण्डवाद्याद्याविर्भावम्[4] ॥२९९ ॥

प्रथममित्यादावित्यर्थः । वस्त्वेव वस्तुकम् । तत्सर्वमादावभिनेयं पुनर्नृत्तेन योज्यम् ॥ ३०० ॥

अभिनव--उन गीतों के प्रयोग में जो क्षेप है अर्थात् प्रथम वस्तु से उपोहन तथा जो प्रतिक्षेप अर्थात् द्वितीय वस्तु से प्रत्युपोहन करके प्रतिक्षेप किया जाता है। अन्य मत के अनुसार तो अन्तर्भूत न होने वाले अलग कलात्मक जो गीतशेष रूप हैं उन्हें तन्त्रीगत गान के साथ प्रयोग कर भाण्डवाद्यों के प्रयोग के साथ पुष्कराध्याय में कहे जाने वाले प्रविरल चलती हुई अङ्गुलियों से अभिहन्यमान आङ्गिक अभिनय की प्रधानता से नर्त्तकी का अवतरण कराना चाहिए।

यह कहा गया है कि—प्रथम वस्तु में आक्षेप अर्थात् उपोहन का प्रयोग करके नर्त्तकी का प्रवेश होता है। द्वितीय वस्तु में प्रतिक्षेप अर्थात् प्रत्युपोहन का प्रयोग करके नर्त्तकी को प्रवेश करना चाहिए। पदयोजना इस प्रकार है—तन्त्रीगान से अन्वित (युक्त) करके क्षेप और प्रतिक्षेप की समाप्ति हो जहाँ ऐसे समस्त भाण्डवाद्यों के आविर्भाव (प्रयोग) के साथ उस प्रकार नर्त्तकी का अवतरण कराना चाहिए ॥ २९९ ॥

अनुवाद--सर्वप्रथम अभिनय के योग्य गीत की समस्त वस्तुओं का अभिनय करना चाहिए। उसके बाद उसी वस्तु को पुनः (फिर) नृत्त के माध्यम से प्रदर्शित करे ॥ ३०० ॥

अभिनव—'प्रथम' का अर्थ है पहिले। 'वस्तु' ही वस्तुक है। उन समस्त वस्तुओं का पहिले अभिनय करना चाहिए फिर नृत्त के साथ प्रयोग करना चाहिए ॥ ३०० ॥

१ ख-भ. प्रथमं त्वभिनेयं तु गीतके सववस्तु तत् । २. क-न. ब. नृत्तेनाभिदर्शयेत् ।
३. क-भ. प्रविचलदङ्गुलि० ४. क-सर्वभाण्डवाद्यान्तर्भावम् ।

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु नृत्ताभिनयवादिते[1] ।
[2]आसारितविधौ स्याद स गीतानां वस्तुकेष्वपि[3] ॥ ३०१ ॥

कथमित्याह—यो विधिरिति। असारितविधौ यः प्रकारः स एवात्र प्रकारः। यथाऽऽसारितेष्वसंख्यानियमो (यथासाऽऽरितेषु सङ्ख्यानियमो) नर्तकी-वृद्धया नृत्तप्रयोगः। पूर्वं चैकाकिन्याऽभिनयः। नृत्ते च भाण्डवाद्यादिप्रयोगः। तथात्रापि। तेन वस्तुसङ्ख्यया(वस्तुसंख्यां) नर्तक्य इहेति मन्तव्यम् ॥ ३०१ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदुपक्रमते—एवं वस्तुनिबन्धानामित्यादि ॥ ३०२ ॥

अनुवाद—नृत्त, अभिनय और वाद्यों के विषय में जो विधि पहले बताई गई है वही विधि आसारित विधि में गीतों की वस्तुओं के सम्बन्ध में भी की जानी चाहिए ॥ ३०१ ॥

द्वितीय अर्थ—आसारित के अन्तर्गत नृत्त, अभिनय और वाद्यों के सम्बन्ध में जो विधि बताई गई है वही विधि यहाँ वस्तु निबन्धना गीत में अर्थात् वस्तुओं से निबद्ध गीतों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए ॥ ३०१ ॥

अभिनव—आसारित के प्रयोग में जो विधान (विधि) बताया गया है वही प्रकार यहाँ भी लागू होगा। जैसे—आसारितों में संख्या का नियम है कि नर्त्तकियों की संख्या में वृद्धि से नृत्तप्रयोग होता है। पहिले एक नर्त्तकी के द्वारा अभिनय होता है और नृत्त में भाण्डवाद्यों का प्रयोग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ वस्तुसंख्या में अनुसार नर्त्तकियाँ समझनी चाहिए ॥ ३०१ ॥

विमर्श—यहाँ पर यह बताया गया है कि नृत्त, अभिनय एवं वाद्यों के प्रयोग के सम्बन्ध में जो विधि ऊपर बताई गई है आसारित गीतों की वस्तु को अभिव्यञ्जित करने के लिए वही विधि प्रयुक्त करनी चाहिए। अभिनव का कथन है कि ऊपर आसारित के विधान में नृत्त, अभिनय और वाद्यों के वादन के सम्बन्ध में जो प्रयोग-विधि बताई गई उसी का यहाँ गीतों की वस्तु के अभिव्यञ्जन में भी प्रयोग करना चाहिए। आसारितों में जिस प्रकार संख्या के नियम, नर्त्तकियों की संख्या में वृद्धि, नृत्तप्रयोग बताया गया है, तथा पहिले एक नर्त्तकी का अभिनय और अभिनय के समय भाण्डवाद्यों का प्रयोग बताया गया है उसी प्रकार गीत के प्रयोग में भी वस्तु के संख्या के अनुसार नर्त्तकियों की संख्या में वृद्धि और नृत्त प्रयोग होता है ॥ ३०१ ॥

अब इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

१. ख. वृत्ताभिनयवादिते। क-प. नृत्ताभिनयवादितैः।
२. क-न. आसारितविधौ सम्यग्गीतानां वास्तुकेष्वपि।
३. ख. वस्तु तेष्वपि।

[1]एवं वस्तुनिबन्धानां [2]गीतकानां विधिः स्मृतः ।
[3]शृणुताङ्गनिबद्धानां गीतानामपि लक्षणम् ।। ३०२ ।।
य एव [4]वस्तुकविधिर्नृत्ताभिनयवादिते ।
[5]तमेवाङ्गनिबद्धेषु च्छन्दकेष्वपि योजयेत् ।। ३०३ ।।
वाद्यं गुर्वक्षरकृतं तथाल्पाक्षरमेव च ।
मुखे सोपोहने[6] कुर्याद्वर्णानां विप्रकर्षतः ।। ३०४ ।।

वादिते च विशुद्धकरणायामित्यादि योजयेत् । तदेवाङ्गनिबन्धेषु योजयेत् । तथा सर्वशेषभूतेषु स्वतन्त्रेषु छन्दकेष्वपि ।। ३०३ ।।

अनुवाद--इस प्रकार वस्तुनिबन्धना अर्थात् वस्तु से निबद्ध गीतकों की विधि बताई गई है और अब अङ्गनिबन्धना अर्थात् अङ्गों से निबद्ध गीतों का लक्षण सुनिये ।। ३०२ ।।

अनुवाद—वस्तु-निबद्ध गीतों नृत्त, अभिनय और वाद्यों के सम्बन्ध में जो विधि बताई गई है वही विधि अङ्गों से निबद्ध गीतों में तथा छन्दकों में प्रयोग करना चाहिए।। ३०३ ।।

अभिनव—यहाँ 'वादिते' से विशुद्ध करण जाति में जो योजना की जाती है, वही यहाँ अङ्ग-निबद्ध गीत में भी करनी चाहिए और छन्दकों में भी वही विधि करे । इस प्रकार छन्दकों के प्रयोग में उसी प्रकार योजना करे ।। ३०३ ।।

अब विशेष उपक्रम को दिखाते हैं—

अनुवाद—मुख और उपोहन (अथवा उपोहन नामक मुख) के प्रयोग में गुरु तथा अल्प अक्षरों से युक्त वाद्य को इस प्रकार बजाये जिससे वर्णों की स्थिति स्पष्ट हो जाय ।।३०४ ।।

विमर्श—इस श्लोक का अर्थ कुछ टेढ़ा है । 'मुख' का अर्थ यहाँ पर 'मुख' नामक नाट्यसन्धि अथवा छन्दक का प्रयोगारम्भ लिया जा सकता है । आसारित गीत का एक अङ्ग भी गीत है जिसे उपोहन कहा जाता है । किन्तु यह अर्थ लिया गया नहीं प्रतीत होता । यहाँ 'मुख' शब्द की अभिप्राय है छन्दक के प्रयोग के आरम्भ में किया जाने वाला 'उपोहन' । उपोहन के प्रयोग में स्थायी स्वर के आधार पर आगे के स्वरों की स्थापना करते हैं । यहाँ पर मुख का सम्बन्ध वस्तु से तथा उपोहन का सम्बन्ध गान से प्रतीत होता है । यहाँ पर गुरु से दो मात्रा और अल्पाक्षर से एक मात्रा का ग्रहण होता है किन्तु अभिनवगुप्त ने अल्पाक्षर को अर्धमात्रा काल माना है ।। ३०४ ।।

---

१. ख. घ. एष वस्तुनिबन्धानां । २. ग. गीतानां च ।
३ क-ङ म शृणुताङ्गानि स्वधानाम् ।
४. ग. घ. य एव वस्तुषु विधिः । क.म. य एव वास्तुकविधिः ।
५. ख. घ. स सर्व एव कर्त्तव्यश्छन्दकेषु प्रयोक्तृभिः । ६. ख. सापोहने ।

यदा [1]गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते ।
तत्राद्यमभिनेयं स्याच्छेषं नृत्तेन योजयेत् ।। ३०५ ।।

विशेषं तु दर्शयति—वाद्यमिति । घिंघि ढन् त्रन् इत्यादीनि रूपाणि गुरूण्यपि कदाचित्प्रयत्नशीघ्रतया ताले प्रयुक्तानि बहूनि भवन्ति । यथोत्साहच्छटादौ त्थीत्थीत्थीत्थन् धृत् दत्थकुदहिं—एषैका कला । अत आह—अल्पाक्षरमयेऽपि च [2]भवत्यर्धादौ वाद्ययोजनात्कलार्धादेश्च शून्यत्वात् । तथा चञ्चत्पुटे प्रथमकलायां[3] हिविटा ? एव । तत्परिहारार्थमाह—वर्णानां गुरूणां विशेषेणाणुपर्यन्तं त्रिमात्रचतुर्मात्रतया प्रकृष्टं तद्वाद्यं कर्तव्यम् । मुखनाम्न्युपवहसंज्ञके वाऽङ्गे वस्तुनिबन्धेष्वप्युपोहनेऽङ्गेऽयं वाद्यविधिः । अङ्गाल्पत्वात्तु तत्र नाङ्गनिबन्धव्यपदेशः ।। ३०४ ।।

अथ वक्तव्यं सर्वशेषत्वेनाह—यदा गीतिवशादङ्गमित्यादि ।

मुख्याङ्गानि यदा पुनः पुनरावर्तन्ते । कथम् गीतेश्चतुर्विधायाः [4]मागध्यादिकाया वशात्सामर्थ्यात् । वक्ष्यते हि ध्रुवाध्यायान्ते—

अभिनव—कभी प्रयत्न की शीघ्रता से ताल में 'घि घि ढ़न् त्रन्' इत्यादि रूप में बहुत से गुरु अक्षर प्रयुक्त होते हैं । जैसे—उत्साह की छटा में 'त्थीत्थीत्थीत्थन् धृत् दत्थकुदहिं' इस प्रयोग में एक कला है । इसलिए कहते हैं—'अल्पाक्षरमेव च अर्थात्—गीयमान अर्थ में वाद्य की योजना से कला होती है किन्तु वस्तु के अर्धभाग से शून्य होने से अर्धकला होती है । चञ्चत्पुट ताल में प्रथम कला में 'हि वि टा' ये अल्पाक्षर हैं । उसका परिहार करने के लिए कहते हैं कि वर्णों के अर्थात् गुरु वर्णों के विशेष से अणुपर्यन्त त्रिमात्रा और चतुर्मात्रा के रूप में वाद्य को प्रकृष्ट करना चाहिए । मुख नामक उपोहन संज्ञक अङ्ग में वस्तुनिबन्धन गीतों में यह वाद्य विधि होती है । किन्तु अल्पाक्षर होने से इसमें अङ्ग निबन्धन का व्यपदेश नहीं होता है ।। ३०४ ।।

अनुवाद—गीत के कारण जब उसके अङ्गों को बार-बार दुहराया जाता है तो उसके आद्य अर्थात् प्रारम्भिक भाग को अभिनय के द्वारा और शेष भाग को नृत्त के द्वारा प्रदर्शित करे ।।३०५।।

अभिनव—जब गीत के वश से अङ्गों को अर्थात् मुख्य अङ्गों को बार-बार दुहराते हैं । कैसे ? गीति के अर्थात् मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला इन चार प्रकार की गीतियों के सामर्थ्य से (आवृत्ति होती है) । यह ध्रुवा अध्याय के अन्त में कहेंगे—

---

१. ख-ग. घ. गीतवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्त्तते । २. क-म. भवत्यर्धादौ ।
३. क-म. हविटा । क-भ. रहाविटा । ४. क-म. भ. मागध्यादिकार्यवाशात् ।

[1]त्रिःनिवृत्त्या पदानां तु मागधी समुदाहृता ।

(ना० शा० ३२-४३८) इत्यादि ।

गीतवशादित्यपि पाठ एवमर्थः । गीतिं वा गीयमानं वा । तत्र विधिमिति । तालाध्याये वक्ष्यते—

"यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि च ॥"

(ना०शा०३१-१०३) इति ।

तत्रेति । निवर्तने । आद्यमिति । आद्य आवर्तः । शेषमित्यादि । आवर्तान्तराणि शुद्धनृत्तप्रयोज्यानि । तेन न केवलं वस्त्वङ्गादिसमाप्तौ नृत्तम् । यावन्मध्येऽपि कदाचित्परिवर्तेषु भवतीति दर्शनम् । यत्तु राहुलकेनोक्तमपौनरुक्त्येनाभिनयनं तदेवंविधमेव मन्तव्यम् ।

यत्तु अहं "जळणिहिचुळुइ माइमा" इत्यत्र, जलनिधिचुलुके मानितेन चोन्मीयत इत्यादि कैश्चिदुत्प्रेक्षितं तन्न सर्वत्र निर्वहतीत्यास्तां तावत् ॥ १०५ ॥

"जहाँ पर पदों की तीन बार आवृत्ति की जाती है वहाँ मागधी गीति होती है ।" (ना० शा० ३२।४३२) ।

'गीतवशात्' यहाँ पर भी 'गीति' पाठ मानकर इसी प्रकार अर्थ होता है और जब 'गीत' पाठ को मानते हैं तो क्या अर्थ होगा—गीत या गीयमान अर्थ ? वहाँ विधि है । जैसाकि तालाध्याय में कहेंगे—

"यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात ये तीन आसारित गीत के भेद होते हैं ।" (ना० शा० ३१।११४)

'तत्र' अर्थात् निवर्तन (आवृत्ति) में । 'आद्यं' का अर्थ है प्रथम आवर्त्तन । 'शेषं' पद से तात्पर्य है—शुद्ध नृत्त में प्रयोज्य अन्य आवर्त्तन । इससे ज्ञात होता है कि केवल वस्तु और अङ्ग की समाप्ति में ही नृत्त होता है, यह बात नहीं है । किन्तु इनके बीच में कदाचित् दश परिवर्तों में भी होता है, यह दर्शन है । जैसाकि राहुल ने कहा है कि पुनरुक्ति के बिना भी अभिनय होता है, उसे इसी प्रकार मानना चाहिए ।

जैसाकि मैं "जलणिहिचुलुइ माइमा" इत्यादि में जलनिधि समुद्र को चुल्लू में भरकर माप लिया इस प्रकार अनुमान करते हैं कि समुद्र इतना गहरा है, इस प्रकार जो किसी ने उत्प्रेक्षा की है, उसका सब जगह निर्वाह नहीं होता । अतः यहाँ रहने दिया जाय ॥ ३०५ ॥

---

१ क. अनिवृत्त्या ।

यदा[1] गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते[2] ।
त्रिपाणिलयसंयुक्तं तत्र वाद्यं प्रयोजयेत् ।। ३०६ ।।

तत्र वाद्यविधिमाह। आवर्तमानगीतवशादङ्गं शाखाचारीप्रयोगात्मकं यदाऽऽवर्तते वाद्यप्राधान्येन नृत्तमेव वाद्यस्य यथासम्भवं वैचित्र्यं प्रदर्शनीयम्। पूर्वं हि तद्वैचित्र्यं काव्यार्थेन नियन्त्रितम्। अधुना तु सङ्कोचोऽस्य नास्ति। तथा च लक्ष्ये प्रावेशिक्यां पात्रकृतसङ्कोचाद्यभावं मन्यमाना गीताचार्याः त्रितयप्रयोगमाहुः। एतच्च विचारयिष्यत इत्यास्तां तावत्।

विमर्श—जब गीत के सामर्थ्य से उसके किसी अङ्ग को बार-बार दुहराया जाता है तो प्रथम आवर्त्त को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करे और शेष अर्थात् शुद्ध नृत्त में प्रयोज्य अन्य आवर्त्तन को नृत्त (अङ्गविक्षेप) द्वारा प्रदर्शित करे। ध्रुवाध्याय में गीति के चार भेद बताये गये है और उनमें मागधी को त्रिरावर्त्त तथा अर्धमागधी को द्विरावर्त्त बताया गया है—

मागधी प्रथमा गीतिस्तथा चैवार्धमागधी।
सम्भाविता तृतीया स्याद् पृथुला च तथा परा।
त्रिनिवृत्या पदानां च मागधी समुदाहृता।
चित्रे ऽर्धमागधी चैव द्विनिवृत्तपदाश्रया"। (ना० शा० ३२।४३२)

आसारित गीत के तीन भेद होते हैं। जैसाकि नाट्यशास्त्र के इकतीसवें अध्याय में कहा गया है—

आसारितानां सर्वेषां त्रयो भेदाः प्रदर्शिताः।
द्व्यक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि च ।। (ना० शा० ३१।११४)

अब वाद्यविधि को कहते हैं—

अनुवाद—जब गीत के वश (सामर्थ्य) से बार-बार अङ्गों का निवर्त्तन किया जाता है तो वहाँ तीन प्रकार के पाणियों और लयों से युक्त वाद्यों का प्रयोग करे ।।३०६।।

अभिनवभारती—आवर्त्तमान गीत के कारण शाखा एवं चारी के प्रयोग रूप अङ्ग का जब आवृत्ति होती है तो वाद्य की प्रधानता से नृत्त के वैचित्र्य के समान नृत्त की प्रधानता से वाद्य का भी वैचित्र्य दिखाना चाहिए। पहिले तो उनका वैचित्र्य काव्यार्थ के द्वारा नियन्त्रित था, किन्तु अब उसका नियन्त्रण न होने से सङ्कोच भी नहीं है। जिस प्रकार लक्ष्य प्रावेशिकी ध्रुवा में पात्रकृत सङ्कोच का अभाव मानने वाले सङ्गीत के आचार्य तीन प्रकार का प्रयोग कहते हैं। इसका विचार आगे करेंगे यहाँ रहने दिया जाय।

---

१. ख. च. ग. यदा गीतवशावङ्गं। २. ख-च, निवर्त्तयेद्।

[5]समपाणिरुपरिपाणिर्धपाणिश्चेति (ना० शा० ३१-३२९) त्रिधा पाणिः तालः। तदभिव्यङ्ग्यत्वात्। सङ्गीतनृत्ताभ्यां सह या(वा)पूर्वं वेति त्रिधा। छन्दोऽक्षरपदानां साम्यं लयः। कलाकालान्तरकृतो द्रुतादिभेदस्त्रिविधः (ना. शा. ३१-३१६)। एतच्च त्रैविध्यं यतिमार्गादिभेदस्याप्युपलक्षणम्॥ ३०६॥

समपाणि, उपरिपाणि, अर्धपाणि तीन प्रकार के पाणियों को 'ताल' कहा गया है। ताल के अभिव्यङ्ग्य होने से सङ्गीत और नृत्त के साथ प्रयुक्त ताल समपाणि, गीत-वाद्य के पश्चात् प्रयुक्त ताल अवपाणि और गीत, वाद्य आदि के पूर्व में प्रयुक्त ताल उपरिपाणि होता है। छन्द, अक्षर एवं पदों का साम्य लय है। कलाकालान्तरकृत अर्थात् कलाओं एवं कालान्तर भेद से सम्पादित लय द्रुत, मध्य और विलम्बित भेद से तीन प्रकार का होता है। ये तीन प्रकार यति, मार्ग आदि भेद के भी उपलक्षण हैं ॥३०६॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह है कि जब आवर्त्तमान गीत के साथ शाखा और चारी रूप अङ्ग को दुहराया जाता है तो जिस वाद्य की प्रधानता से नृत्त का वैचित्र्य स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार नृत्त की प्रधानता से वाद्य का वैचित्र्य भी स्वीकार किया जाना चाहिए। संगीत के आचार्य प्रावेशिकी ध्रुवा गीत में सङ्कोचादि का अभाव मानते हुए तीन प्रकार का प्रयोग मानते हैं। आवर्त्तमान गीत के साथ उसके अङ्गों को दुहराये जाने के साथ तीन प्रकार के पाणियों तथा तीन प्रकार के लयों से समन्वित वाद्यों के बजाये जाने का निर्देश है। ताल में तीन प्रकार के पाणि प्रयुक्त होते हैं—समपाणि, उपरिपाणि और अर्धपाणि। उनमें गीत और वाद्य नृत्त के साथ होने वाला ताल समपाणि, गीत और वाद्य आदि के पूर्व में होने वाला ताल उपरिपाणि और गीत, ताल आदि के पश्चात् प्रारम्भ किया जाने वाला ताल अर्धपाणि (अवपाणि) कहा जाता है—

समपाण्यर्धपाणिस्थं तथैवोपरिपाणिकम्।
गीतवाद्यानुगं वाद्यं ज्ञेयं पाणिसमं तु तत्॥
(ना० शा० ३४।१४७)

समपाणिश्च विज्ञेयो ह्यवपाणिस्तथैव च।
तथैवोपरिपाणिश्च गीतवाद्यसमाश्रयः।
लयेन यत् समं वाद्यं समपाणिः प्रकीर्त्यते।
ध्रुवात् यदवकृष्टं स्यात् सोऽवपाणिः प्रकीर्तितः।
लयस्योपरि यद्वाद्यं पाणिः स उपकीर्त्यते॥
(ना० शा० ३१।३७३-३७५)

छन्द, अक्षर और पदों के साम्य को 'लय' कहा जाता है। कला (गुरु या ताल का भाग) के कालमान के अनुसार लय तीन प्रकार का होता है—द्रुत, मध्य और विलम्बित।

५. क. समपाणिरुपरिपाणिरवपाणिश्चेति। क-म. समपाणिरपरपाणिरर्धपाणिश्चेति।

यथा लयस्तथा वाद्यं कर्तव्यमिह वादकैः[1]।
ततं[2] चानुगतं चापि ओघं च करणान्वितम् ॥ ३०७ ॥
स्थिरे[3] ततं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत्।
[4]भूयश्चौघः प्रयोक्तव्यस्त्वेष वाद्यगतो विधिः ॥ ३०८ ॥

ननु प्रथम आवर्ते कीदृशं वाद्यमित्याशङ्क्याह—यथा लय इति।

छन्दोऽक्षरपदानां हि समत्वं यत्प्रकीर्त्तितम्।
कालान्तरकृतः सः लयो मानसमन्वितः ॥
(ना० शा० ३१।३७६)

ये तीनों भेद यति, मार्ग आदि के उपलक्षण हैं। लय के प्रयोग के नियम को 'यति' कहते है। यति का प्रयोग ताल के सुन्दर समापन के लिए होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार 'यति' के द्वारा 'लय' का प्रवर्त्तन होता हैं। द्रुत, मध्य और विलम्बित लय के अनुसार यति तीन प्रकार की होती है—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा। आदि, मध्य और अन्त में यति के द्रुतलय होने पर प्रथम प्रकार की 'समा' यति होती है। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त में यदि मध्य लय हो तो द्वितीय प्रकार की 'समा' यति होती है। इसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त में विलम्बित लय होने पर तृतीय प्रकार की 'समा' यति होती है। आदि में विलम्बित लय, मध्य में मध्य लय और अन्त में द्रुत लय होने पर 'स्रोतोवहा' यति होती है। यह विलम्बित मध्य और द्रुत गति के भेद से तीन प्रकार की होती है। इसी प्रकार आदि में द्रुत, मध्य में मध्य और अन्त में विलम्बित लय होने पर 'गोपुच्छा' नामक यति होती है। इस प्रकार यति का सम्बन्ध लय से है। इसलिये ताल और लय से समन्वित वाद्य के प्रयोग का निर्देश दिया गया है ॥३०६॥

प्रथम आवर्त्तन में किस प्रकार के वाद्य का प्रयोग करना चाहिए ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—जैसा लय है वादकों को उसी प्रकार वाद्यों का वादन करना चाहिए। तत्त्व, अनुगत और ओघ ये करणों (बोलों) से अन्वित होते हैं। इनमें तत्त्व का प्रयोग विलम्बित लय में करना चाहिए। अनुगत का मध्य लय में तथा ओघ का द्रुत लय में प्रयोग करना चाहिए, यही वाद्यों की विधि है ॥३०७-३०८॥

---

१. ख. घ. कर्तव्यं त्वङ्गसंश्रयम्।
२. ग. इत आरभ्य सार्द्धश्लोकत्रयं ग. ङ. ब. पुस्तकेषु नास्ति।
ख. ब. तत्त्वं चानुगतं चापि ओघं च करणान्वितम्।
क-न. त. तत्त्वं चानुगतं चैव ओघश्च करणान्वितः।
३. घ. स्थिते। क-त. स्थाने।
४. घ. द्रुते चौघः। क-त. भूते चौघः।

छन्दोगीतकमासाद्य त्वङ्गानि[1] परिवर्तयेत् ।
एष कार्यो [2]विधिर्नित्यं नृत्ताभिनयवादिते ॥ ३०९ ॥

प्रथमे[3] ह्यावर्ते काव्यार्थाभिनयवशादङ्गस्य य उचितो द्रुतादिस्तदनुसार्येव वाद्यकार्यम् । अन्ये तु [4]यथातथाशब्दावविचार्यास्य पूर्वशेषत्वेनैव श्लोका गमयन्ति–यथा वाद्यं त्रिपाणिलयवैचित्र्ययुक्तं तथाङ्गस्य गीतस्य च लयः कार्य इति ॥३०७॥

अभिनव - प्रथम आवर्त्त में काव्यार्थ के अभिनय के अनुसार अङ्गों का जो उचित लय द्रुत, मध्य एवं विलम्बित हैं, उसी के अनुसार ही वाद्यों का प्रयोग करना चाहिए। अन्य लोग तो यथा और तथा शब्द का विचार किये बिना ही उसके पूर्व शेष के रूप में श्लोक के अर्थ की संगति करते हैं। जैसे—वाद्य त्रिपाणि (ताल) और लय के वैचित्र्य से युक्त होता है उसी प्रकार गीत का अङ्ग भी लय से युक्त होना चाहिये॥३०७॥

विमर्श—यहाँ पर लय के आधार पर वाद्यों को विनियोजित करने का विधान बताया गया है। गीत की संगति में वाद्य का विधान तीन प्रकार का बताया गया है—तत्त्व, अनुगत और ओघ अर्थात् गीत में वाद्यों के मेलन प्रकार की विधि को कहते हैं। इनमें स्थिर अर्थान् विलम्बित लय में तत्त्व, मध्य लय में अनुगत और द्रुत लय में ओघ का प्रयोग करना चाहिए। गायकवाड़ संस्करण में 'तत्त्व' के स्थान पर 'तत' पाठ मिलता है। 'तत' से तन्त्री वाद्यों का ग्रहण होता है। तन्त्री वाद्यों में वीणा का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार स्थिर अर्थात् विलम्बित लय में वीणा का वादन किया जाता है। किन्तु अर्थ में विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता। क्योंकि गीत के लय द्रुतादि पर आधारित वीणा की संगति (सम्मेलना) तत्त्व, अनुगत और ओघ पद्धति से की जाती है। यह भरत सम्मत है ॥३०७–३०८॥

अनुवाद—छन्दक गीत का आसादन कर अङ्गों को बार-बार दुहराना चाहिए। नृत्त, अभिनय और वादन में यही विधि नित्य करनी चाहिए ॥३०९॥

विमर्श—छन्दक एक प्रबन्धात्मक गीत है जिसका प्रयोग आसारित और वर्धमान गीतों के अन्त में किया जाता है। **सर्वेषामपि गीतानामन्ते छन्दकमिष्यते।** (ना० शा० ३१।३२६)। इसलिए इस गीत में अङ्गों के बार-बार दुहराये जाने का निर्देश है और साथ ही वाद्यों का प्रयोग भी करना चाहिए। छन्दक गीत के प्रयोग के अवसर पर अङ्गों को जब बार-बार दुहराया जाता है तो उसी समय वाद्य-विधि के अन्तर्गत तत्त्व, अनुगत और ओघ वाद्य-विधियों का भी प्रयोग कतना चाहिए। इस गीत-प्रयोग के साथ नृत्त, अभिनय और वादन की भी योजना होनी चाहिए ॥३०९॥

---

१. क-न. त. त्वङ्गानां परिवर्त्तने। २. ख. विधिर्नृत्य नृत्ताभिनयवादिते।
३. क-भ. म. प्रथमे परावर्त्ते काव्यार्थाभिनयवशादङ्गस्य।
४. क. भ. यथातथाशब्दौ विचार्यास्य।

यानि [1]वस्तुनिबद्धानि तेषामन्ते ग्रहो भवेत् ।
अङ्गानां तु परावृत्तावादावेव[2] ग्रहो मतः ॥ ३१० ॥
एवमेष विधिः कार्यो गीतेष्वासारितेष्वपि[3] ।
देवस्तुत्याश्रयं ह्येतत्सुकुमारं निबोधत ॥ ३११ ॥

न चैवं तद्व्यतिक्रमणीयमिति सहेतुकं दर्शयति पादोनेन श्लोकेन—एवमेव इति ।

हि यस्माद्देवस्य भगवतो महादेवस्य स्तुतिनिमित्तं परितोषणप्रयोजनमेतन्नृत्तमतो हेतोर्नियमादृष्टसम्पत्त्यै । एष एव गीतकासारितेषु तच्चेषु (तच्छेषेषु) च छन्दकेषु विधिः । पाणिका तु परिमितशरीरत्वात्स्वयं ताण्डवभाजनं न भवति । सा हि सुकुमारे पूर्वरङ्गे लास्यप्रधानं तत्सत्तावैचित्र्यायोक्तात्लास्यस्वरूपादेव निश्चीयते । अन्यथा पूर्वरङ्गोपयोगे प्रक्रान्ते तत्राध्याये लास्यस्य कोऽवसरः । वाद्याङ्गमात्रो [4]तदनुपयोगीति चेत् तत्र दशाङ्गस्य चेत्प्रयोज्यता तदतिप्रसङ्गः (तदातिप्रसङ्गः) । स च निषेत्स्यते । तदप्रयोगे [5]कृतानि गेयपदानीति न मिन्मः ।

अनुवाद—जो गीत वस्तु-निबद्ध हैं उनके अन्त में 'ग्रह' का प्रयोग होता है । किन्तु अङ्गों के दुहराये जाने की स्थिति में प्रारम्भ में ही ग्रहों का प्रयोग माना गया है ।।३१०।।

विमर्श—छन्दक गीत के अङ्गों के दुहराये जाने के प्रारम्भ में 'ग्रह' के प्रयोग का निर्देश किया गया है । शार्ङ्गदेव के अनुसार ताल के तीन ग्रह माने गये हैं—सम, अतीत और अनागत । इनका सम्बन्ध क्रमशः मध्य, द्रुत और विलम्बित से जोड़ा गया है ।।३१०।।

किन्तु उसका व्यतिक्रमण नहीं करना चाहिए, इस बात को कारण सहित दिखाते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार यह विधि असारित गीतों में भी करनी चाहिए । अब देवताओं की स्तुति पर आश्रित इस सुकुमार नृत्त को भी समझना चाहिए ।।३११।।

अभिनव—क्योंकि यह नृत्त महादेव भगवान् शिव के परितोषण के लिए है इसलिए अदृष्ट फलप्राप्ति के लिए यह विधान है । आसारित गीत और छन्दक गीतों के प्रयोग में भी यही विधि करनी चाहिए । पाणिका गीत तो परिमित शरीर होने के कारण स्वयं ताण्डव के योग्य नहीं है । वह तो लास्यप्रधान सुकुमार पूर्वरङ्ग में उसकी पाणिका की सत्ता की विचित्रता के लिए कहे जाने से लास्य के स्वरूप से ही निश्चित हो जाता है । अन्यथा पूर्वरङ्ग के उपयोग के अवसर पर उस अध्याय में लास्य से प्रतिपादन

१. ख-घ. वस्तूनि बद्धानि ।
२. ख. परावृत्तापदावत्र ग्रहो मतः । घ. परावृत्त्या वादावेव । ग्रहो भवेद् ।
३. ख-घ. गीतेष्वासारितेषु च ।
४. क-म. तदुपयोगीति ।
५. क-म. तदप्रयोगे तु तानि ।

तालाध्याये चैतद्भविष्यति। गीतकादिशेषत्वे तु छन्दकसङ्गृहीतैवेति नात्रोक्ता। गीतकं च स्वतन्त्रेऽप्यासारिते भवति। ताण्डवप्रयोगस्तु यदा त्वेष पिण्डीबन्धैर्विकल्प्यते प्रत्येकमङ्गविन्यासस्तदा तेषां पृथक्पृथग्गतिदेशेनासारितेष्वप्येवमेव। मुख्यान्यङ्गचतुष्टयविभागेननर्तकीक्रमप्रवेशादिप्रयोगः। एतदर्थमेव वर्धमानेऽप्युक्ते पुनरासारितसङ्कीर्तनम्। परपूर्वरङ्गे चापिशब्दात्तत्सङ्ग्रहो व्याख्येयः।

"सर्वेषामेव गीतानामन्ते" इत्युपक्रम्य

"चतुष्पदा तथैकाङ्गा...युग्मौ यौ वा प्रमाणतः"।

"तथा शृङ्गारभूयिष्ठा" "त्रिलया वा"॥ (ना. शा. ३१-२९३)

इति निरूप्य दशाङ्गं लास्यं तालाध्याये (ना. शा. ३१) निरूपयिष्यते। मुनेश्चतुष्पदान्तर्भूतं लास्यगानमित्यादि भूयो भविष्यत एव। विशाखिलादिप्रणीतं लास्यगानान्तरं मुनिनाऽभिहितचतुष्पद एव सङ्गृहीतत्वात्। सा चतुष्पदा गीतकानामन्ते पाणिकान्ते वा प्रयोज्येति दर्शितम्। तदभिप्रायेणोपक्रममाह—सुकुमारं निबोधतेति। तु शब्द उत्तरतोऽपेक्षणीयः सुकुमारं त्विति। एवमुक्तरञ्जकताविधिं निजयोहापोहधिया कल्पयति। तत्रापि ह्यङ्गवृद्ध्या नर्तकीवृद्धिरित्यादि सर्वमुन्नेयमित्यर्थः॥ ३११॥

का क्या अवसर है? यदि केवल वाद्य के अङ्ग रूप में उसकी अनुपयोगिता मानते हैं और वहाँ लास्य के दश अङ्गों की प्रयोज्यता मानते हैं तो अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। अतः इसका निषेध करेंगे। उसके प्रयोग के अभाव में गाये गये गेय पदों को हम नहीं मानते। तालाध्याय में इसके विषय में निरूपण किया जायगा। गीतक आदि के अङ्ग के रूप में छन्दक गीत का ग्रहण हो ही जायगा, इसलिए यहाँ कहा गया है और गीत स्वतन्त्र आसारित में भी होता है। ताण्डव का प्रयोग तो जब यह पिण्डीबन्धों के द्वारा विभक्त होता है तो प्रत्येक अङ्गों का विन्यास होता है तो अलग अलग अतिदेश के द्वारा आसारित से भी इसी प्रकार होगा। चार अङ्गों के विभाग से नर्त्तकियों का क्रम से प्रवेश आदि होता है। इसीलिए वर्धमानक के कह देने पर भी फिर आसारित का कथन किया है। अतः पूर्वरङ्ग में भी उसका संग्रह व्याख्येय है।

"सभी गीतों के अन्त में वर्धमानक का प्रयोग इष्ट है" इस प्रकार उपक्रम करके "उनमें चतुष्पदा एकाङ्गा अथवा त्र्यङ्गा होती है, व्यस्त अथवा समस्त अङ्गों के द्वारा प्रमाण से जो युग्म होता है।"

"और शृङ्गार रस प्रधान चतुष्पदा तीन प्रकार की होती है—प्रवृत्ता, द्रुतलया और स्थिता।" (ना० शा० ३१।३२६–३२९)

यह निरूपण करके लास्य के दस अङ्गों का तालाध्याय में निरूपण करेंगे। मुनि के चतुष्पदा गीति के अन्तर्भूत लास्यगान है, इत्यादि बार-बार कहेंगे।

स्त्रीपुंसयोस्तु संलापो यस्तु कामसमुद्भवः ।
तज्ज्ञेयं सुकुमारं[1] हि शृङ्गाररससम्भवम् ।। ३१२ ।।

ननु किं तत्सुकुमारमित्याह—स्त्रीपुंसयोस्त्विति ।

एकस्तुशब्दः पूर्वत्र नीतः । द्वितीयः सुकुमारकं विशेषयति । तदेव हि सुकुमारं न तु करुणहास्यादिमयम् । किं तदित्याह । स्त्रीपुंसयोर्यः कामः । स्त्रियाः पुरुषस्य कामना । पुंसो वा स्त्रियाः । तस्मात्कविहृदयस्थिताद्विवक्षाक्रमेणसमुद्भवो यस्य लापस्य काव्यव्युत्पादकवाक्यस्य तत्सुकुमारम् । तत एव परस्परहेतुकत्वं भवति । अत एवाह—शृङ्गाररसस्य परस्परहेतुकत्वे संभवमात्रमयोगव्यवच्छेदनं यत्र । तेन तदवस्थामात्रोपनिबन्धोऽपि डोम्बिकादिकविरुद्वेष्टितादौ चावगन्तव्यो- त्साहादौ शृङ्गाररसस्याव्यापत्तिबन्धः । परमेश्वरे हि तपस्यति(तपस्यन्ती)

विशाखिल के द्वारा प्रणीत लास्यगान मुनि के द्वारा कथित चतुष्पदा में ही सङ्गृहीत हो गया है वह चतुष्पदा गीतक के अन्त में अथवा पणिका के अन्त में प्रयोग करना चाहिए, यह दिखा दिया है। उस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—यहाँ पर 'तु' शब्द अपेक्षित है—सुकुमारन्तु। इस प्रकार उपरञ्जकता के विधान को अपनी बुद्धि से ऊहापोह (तर्क-वितर्क) करके कल्पित करे हैं। वहाँ भी अङ्ग की वृद्धि के अनुसार नर्त्तकियों की वृद्धि होती है, इत्यादि सभी का उन्नयन करना चाहिए ।। ३११ ।।

अब प्रश्न होता है कि वह सुकुमार क्या है ? इस बात को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर काम-भावना से प्रेरित स्त्री और पुरुष का वार्तालाप होता है। शृङ्गार रस से समुद्भुत उसे सुकुमार नृत्त समझना चाहिए ।।३१२।।

अभिनव—यहाँ पर दो 'तु' का प्रयोग हुआ है। उनमें एक 'तु' पूर्व में ले लिया है। दूसरा सुकुमार को विशिष्ट करता है। वही सुकुमार है, करुण, हास्य आदि रूप सुकुमार है। वह क्या है ? इसी बात को कहते हैं। स्त्री और पुरुष का जो काम भाव है अर्थात् स्त्री के विषय में पुरुष का तथा पुरुष के विषय में स्त्री की जो कामना (रति) है। उस काम से कवि के हृदय में स्थित विवक्षा के क्रम से जिस काव्य रूप वाक्य का उद्भव है वह सुकुमार है। इसी कारण काम परस्पर हेतु होता है। इसलिए कहते हैं कि शृङ्गार रस के परस्पर में हेतु हो सकता है। यहाँ पर एव शब्द अयोग का विसंगति का व्यावर्त्तक है। इसलिए नायक नायिका की केवल अवस्था का उपनिबन्धक डोम्बिका प्रभृति कवि उद्वेष्टित आदि करणों में तथा अव- गन्तव्य उत्साह प्रभृति अवस्था में शृङ्गाररस की अव्याहत बिना किसी रोक-टोक के रचना करता है। परमेश्वर के तपस्या करते समय भगवती परमेश्वर में तन्मय हो

१. ब. स्वकृतारम्भि ।

यस्यां यस्यामवस्थायां [1]नृत्तं योज्यं प्रयोक्तृभिः ।
[2]तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि तच्च मे शृणुत द्विजाः ।। ३१३ ।।

भगवती तदेकहृदया बभूवेति तावति परस्परार्थानुबन्धात्मकरत्यभावे कामावस्थामात्रकम् । परतस्त्वर्धशरीराक्रमणादौ शृङ्गार इत्येवं परमेश्वरचरिते सुकुमारस्य (द्विशाखत्वेन) विशाखत्वेनाप्रसरात्तस्यैवाद्यापि पक्षे स्थितिः । करुणादिर्भगवति न सम्भवति । नापि तत्तत्र समुचितमिति न तत्सुकुमारम् ।

यत्तु राघवविजयादौ (भीतामूर्च्छा) सीतामूर्च्छादिव्यावर्णनान्तं ताण्डवम् । न च तत्र तादृशे तत्सुकुमाराङ्गहारात्मकनृत्तयोजना । अपि तु गीतकार्थभावनान्यायेन 'रौद्रस्य चैव यत्कर्म स करुण' इति प्रसक्त्या तत्र तथाविधाभिनययोग इत्यलं बहुना ।। ३१२ ।।

वक्तव्यशेषमाह –यस्यां यस्यामित्यादि ।

सुकुमारं यत्काव्यं तदाश्रितं ज्ञानमपि तथा । अन्तर्लग्नं नृत्तमपि । तत्र यदुक्तं--

---

गई, इस प्रकार परस्पर की अनुबन्धात्मक रति के अभाव में केवल काम की इच्छा ही रहती है । बाद में महेश्वर के आधे शरीर को प्राप्त कर लेने पर कामना शृङ्गार है, इस प्रकार परमेश्वर के चरित सुकुमार का विरुद्ध शाखाओं में प्रसार न होने से उसी के पक्ष में आज भा स्थिति है, करुण आदि भगवान् में सम्भव नहीं है और न वहाँ वह समुचित है, अतः वह सुकुमार नहीं है ।

जो कि राघवविजय आदि में सीता की मूर्च्छा आने से लेकर व्याघूर्णन पर्यन्त जो ताण्डव है, उसमें सुकुमार अङ्गहार रूप नृत्त की योजना नहीं है । अपितु गीत के अर्थ की भावना करके नृत्य करना चाहिए, इस न्याय से 'रौद्र (क्रोध) का जो कार्य है वही करुण है' इस प्रकार प्रसक्ति हो जाने से वहाँ उस प्रकार अभिनय का योग है, अब अधिक कहना व्यर्थ है ।। ३१२ ।।

अब शेष वक्तव्य को कहते है—

अनुवाद– जिस जिस अवस्था में नृत्तप्रयोक्ताओं को नृत्त करना चाहिए उन सबको मैं कहूंगा । हे द्विजों ! आप लोग सुनिये ।।३१३।।

अभिनव—यहाँ पर सुकुमार काव्य के आश्रित गान का भी उसी प्रकार प्रयोग करना चाहिए और उसमें अनुस्यूत नृत्त की भी उसी प्रकार योजना करनी चाहिए । वहाँ जो कहा गया है—

---

१. क-च. नृत्यं योज्यं ।
२. ख-घ. सर्वंगीतकसम्बन्धं तच्च मे शृणुत द्विजाः ।

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु[1] तथा वर्णनिवृत्तिषु ।
तथा चाभ्युदयस्थाने [2]नृत्तं तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।। ३१४ ॥
[3]यत्तु संदृश्यते किञ्चिद्दम्पत्योर्मदनाश्रयम् ।
[4]नृत्तं तत्र प्रयोक्तव्यं [5]प्रहर्षार्थगुणोद्भवम् ॥ ३१५ ।।

'तदेव हि पुनर्वस्तु' (ना. शा. ४.३००) इति तथा "यदा गीतिवशादङ्गम्" (ना. शा. ४.३०५) इति नृत्तयोजनं तु तदनुवादपूर्वकं नियम इति ॥ ३१३ ।

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ त्विति । तुर्भिन्नक्रमोऽवधारणे । वर्णानां स्थाय्यादीनां गीतक्रियाबिस्ताररूपाणां निवृत्तिर्यथा परान्तकादौ । प्रतिशाखायां यद्वक्ष्यते—"प्रतिशाखाद्यपि च" इति तेनाङ्गवस्तुवर्णापरावर्तेषु यत्तथाभूतेनैव वाद्यादिवैचित्र्यप्रकारेण नृत्तमुक्तं तदभ्युदयस्थानभेदभावज्ञो नृत्ताचार्यः प्रयोजयेत् । ॥ ३१४ ॥

तदनु तदुदाहरति—यत्तु संदृश्यत इति ।

"प्रथम गीत की समस्त वस्तु का अभिनय करना चाहिए फिर उसी वस्तु का प्रदर्शन नृत्त के माध्यम से करें।" (ना० शा० ४।३००) । और भी—"जब गीत के अनुसार अङ्गों का बार-बार आवर्त्तन किया जाता है।" (ना० शा० ४।३०५) । यह नृत्त की योजना तो उसका अनुवाद है ॥ ३१३ ॥

अनुवाद—अङ्ग और वस्तु की समाप्ति पर और वर्ण की निवृत्ति होने पर अथवा अभ्युदय की स्थिति प्राप्त होने पर नृत्तविदों को नृत्त की योजना करनी चाहिए ।। ३१४ ।।

अभिनव—यहाँ पर 'तु' स्थान भिन्न है और उसका अर्थ अवधारण है । गीत क्रिया के विस्तार रूप स्थायी आदि वर्णों की अपरान्तक आदि में जिस प्रकार निवृत्ति (समाप्ति) होती है । जैसाकि प्रतिशाखा में कहेंगे—"प्रतिशाखा आदि ।" उससे अङ्ग, वस्तु, वर्ण, निवृत्ति एवं अपरान्तक आदि में जो इस प्रकार के वाद्य आदि की विचित्रता के प्रकार से नृत्त कहा गया है, अभ्युदय स्थान के भेदभाव को जानने वाला नृत्ताचार्य उसका प्रयोग करे ॥ ३१४ ॥

अब इसका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर पति-पत्नी के प्रेमभाव के आधार पर जो कुछ प्रदर्शित किया जाता है अर्थात् दम्पति के प्रेमभाव से सम्बन्धित प्रदर्शन किया जाता है वहाँ पर अतिप्रसन्नता के स्रोत नृत्त का प्रयोग करना चाहिए ।।३१५।।

---

१. ख. घ. अङ्गवस्तु निवृत्तौ च । २. क-प. नृत्यं ।
३. ख-घ यत्र संदृश्यते । ४. ख. तत्र नृत्तं प्रयोक्तव्यं । क-च. नृत्यं तत्र प्रयोक्तव्यं ।
५. क-ङ. ब. पुरुषार्थगुणोद्भवम् ।

यत्र सन्निहिते कान्ते [1]ऋतुकालादिदर्शनम् ।
गीतकार्थाभिसम्बद्धं नृत्तं तत्रापि चेष्यते ॥ ३१६ ॥

---

[2]यत्काव्यमखण्डं दम्पत्योः स्त्रीपुंसयोः कामकृतं [3]वाच्यत्वेन श्रूयते, अन्यच्च प्रहर्षप्रयोजनो यो गुणः आस्थाबन्धो वचनं दूतीवचनाकर्णनादिरंशस्तदुद्भवं तदारम्भं तत्र नृत्तं योज्यमिति कामावस्थासु मन्तव्यम् । शृङ्गारेऽप्यनेन[4] वासकसज्जाभिसारिकाविषयनृत्तमुक्तम् ॥ ३१५ ॥

स्वाधीनभर्तृकाविषयमाह--यत्र सन्निहित इति ।

यस्मिन्नङ्गे गीतकस्य गीयमानस्य काव्यस्यार्थत्वेन वाच्यत्वेन सम्बन्धः । कान्तसन्निधाने ऋतोर्वसन्तादेः[5] कालस्य चन्द्रोदयादेरवलोकनं भवति तत्र नृत्तम् ॥ ३१६ ॥

अभिनव—जो काव्य पति-पत्नी के काम सम्बन्धी अर्थ के अनुसार सुनाई देता है और जो प्रहर्ष (प्रसन्नता) रूप प्रयोजन से युक्त गुण अर्थात् आशान्वित करने वाली दूती के बचन को सुनना आदि अंश है उसके आरम्भ में नृत्त का प्रयोग करना चाहिए। कामावस्था में भी नृत्त का प्रयोग मानना चाहिए। शृङ्गार के प्रसङ्ग में वासकसज्जा आदि नायिकाओं के सम्बन्ध में भी नृत्त का प्रयोग कहा गया है ॥ ३१५ ॥

अब स्वाधीनपतिका नायिका के सम्बन्ध में कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर प्रियतम सन्निहित अर्थात् पास में हो और बसन्त ऋतु या अनुरूप समय हो तो उस समय वहाँ पर गीत के अर्थ से सम्बद्ध नृत्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३१६ ॥

अभिनव—जिस अङ्ग में गीत के गीयमान काव्य के अर्थ का वाच्यरूप में सम्बन्ध है। प्रिय के सन्निधान में वसन्त आदि ऋतु तथा चन्द्रोदय आदि का समय (चांदनी) दिखाई देता है वहाँ नृत्त करना चाहिए ॥ ३१६ ॥

विमर्श—जब गीतक के अर्थ में काव्यवस्तु की अभिव्यक्ति सन्निहित रहती है तो तदनुकूल नृत्त का प्रयोग करना चाहिए। भाव यह कि जब वसन्त आदि ऋतुओं का मनोरम समय हो और चारो ओर चाँदनी बिखरी हुई हो, उस समय जब नायिका अपने प्रियतम के समीप प्रदर्शित की जाती है, उस समय नृत्त का प्रदर्शन करना चाहिए॥३१६॥

---

१. ग. ऋतुकालाभिदर्शनात् । क-न. ऋतुमाल्याभिदर्शनात् ।
२. क-म. यत्काव्यखण्डम् । ३. क-म. भ. कामकृतवाच्यत्वेन ।
४. क-म. शृङ्गारोऽप्यनेन न वासकसज्जाभिसारिकाविषयनृत्तमुक्तम् ।
५. क-म. ऋतोर्वासकसज्जादेः ।

खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरितापि वा ।
[1]यस्मिन्नङ्गे तु [2]युवतिर्न नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३१७ ॥
[3]सखीप्रवृत्ते संलापे तथाऽसन्निहिते प्रिये ।
नहि नृत्तं प्रयोक्तव्यं यस्या प्रोषितः प्रियः ॥ ३१८ ॥

नियमफलं दर्शयितुमाह—खण्डितेत्यादि—

"व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।
सा खण्डिता" (ना. शा. २२-२०६)
"यस्या दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्वा सङ्केतमेव च ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा" ॥ (ना. शा. २२-२१०)
"ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
साऽनुतापवशप्राप्ता कलहान्तरिता" ॥ (ना. शा. २२-२०८)

अङ्ग इति । तदाधारभूते काव्यखण्डे ॥ ३१७ ॥

किमियत्येव न नृत्तमित्याशङ्क्याह—सखी प्रवृत्त इति ।

अब उपर्युक्त नियमों के फल को दिखलाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद – जिस अङ्ग में अर्थात् नाटकीय कथावस्तु के जिस अङ्ग (भाग) में खण्डिता, विप्रलब्धा अथवा कलहान्तरिता नायिका हो वहाँ नृत्त की योजना नहीं करनी चाहिए ॥३१७॥

"जिसका प्रियतम किसी अन्य कार्य में व्यासक्त होने के कारण वचन देकर भी जिसके घर ने आये वह 'खण्डिता' नायिका कहलाती है।" (ना० शा० २२।२१७) ।

"जिसका प्रिय दूती को भेजकर और संकेत देकर भी किसी कारण से वहाँ नहीं पहुँच पाये तो वह नायिका 'विप्रलब्धा' कही जाती है।" (ना० शा० २२।२१८) ।

"ईर्ष्या और कलह के कारण दूर चला गया जिसका प्रिय लौटकर नहीं आता हो, अनुताप से दुःखिता वह नारी 'कलहान्तरिता' कही जाती है।"

(ना० शा० २२।२१६) ।

'अङ्ग' इस पद से यहाँ खण्डिता नायिका के प्रसङ्ग को लेकर रचा गया काव्यखण्ड गृहीत है ॥ ३१८ ॥

क्या इतने ही स्थानों पर नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर सखीजनों में वार्त्तालाप हो रहा हो और प्रियतम समीप में न हो अथवा जिसका प्रियतम परदेश चला गया हो वहाँ नृत्त नहीं करना चाहिए ॥३१८॥

---

१. क-ब. यस्मिन् रङ्गे । २. ख. युवतिर्नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।
३. ख. संप्रवृत्तेऽथ संलापे तथा सन्निहिते प्रिये ।

[1]दूत्याश्रयं यदा तु स्यादृतुकालादिदर्शनम् ।
[2]औत्सुक्यचिन्तासंबद्धं न नृत्तं तत्र योजयेत् ।। ३१९ ।।

तथा असन्निहिते प्रिये [3]यद्विषयकसल्लापतत्समागमोपायपर्यालोचनादिरूप-वृत्तस्तत्रापि (वृत्तान्तस्तत्रापि) । न नृत्तं योज्यम् । अनेन विरहोत्कण्ठिता लक्षिता । वासकसज्जा प्रियानागमने तथोक्ता । खण्डिता ज्ञाततदीयव्यलीकेति विशेषः । यस्या प्रोषितः प्रिय इति । प्रोषितकर्तृकावस्थास्वपि यदा प्रियोऽसन् दुर्लभः खिलो (खलो) वेति [4]हृदयेनिहतो वेति तदा(न)नृत्तम् । तत्र हि कारणानन्तरमेव परिसमाप्तिः । तथा निधेयं (विधेय) यथा क्षरत्वात्तत्र तदेवाश्रयणीयम् । न तु द्विसङ्ख्यातं त्रिसङ्ख्यातं वेत्युक्तं भवति । [5]व्यतिरेकलब्धेऽप्युदाहरणे प्रदर्शितोऽप्यर्थो नृत्तस्येह प्राधान्येनाभीष्टत्वान्न स्वेन कण्ठेनोच्यते ।। ३१८ ।।

अभिनव--प्रिय के पास में न होने के समय जिसके विषय में वार्त्तालाप हो रहा हो उसके समागम के उपायो के पर्यालोचन रूप वृत्तान्त के अवसर पर भी नृत्त नहीं करना चाहिए। इससे विरहोत्कण्ठिता नायिका लक्षित होती है। वासकसज्जा नायिका प्रिय के न आने पर विरहिणो कही जातो है। जिसने प्रिय के अपराध अथवा चाल (धोखा) को समझ लिया है वह खण्डिता नायिका है। प्रोषितपतिका अर्थात् जिसका पति परदेश चला गया हो वह प्रोषितभर्तृका अवस्था में भी जब प्रिय असन्निहित अथवा दुर्लभ हो अथवा हृदय में निहित हो तो नृत्त नहीं करना चाहिए। वहाँ कारण के बाद ही समाप्ति होती। इसलिए जो विधेय हो उसी का आश्रयण करना चाहिए। द्विसंख्यात तथा त्रिसंख्यात आसारितों का आश्रयण नहीं करना चाहिए। यह कहा गया है। व्यतिरेक से लब्ध उदाहरण में प्रदर्शित अर्थ भी यहाँ नृत्त की प्रधानता अभीष्ट होने के कारण अपने कण्ठ से नहीं कहा जा सकता है ।। ३१८ ।।

अनुवाद – जहाँ पर दूती के द्वारा ऋतु एवं काल आदि के दर्शन से उत्सुकता और चिन्ता का सम्बन्ध हो वहाँ नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।।३२१।।

---

१. अयं श्लोकः क-ब पुस्तके नास्ति ।
२. ख औत्सुक्यचिन्तासम्बद्धं नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।
   क-म. औत्सुक्यचिन्तासम्बन्धान्नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।
३. क भ. सखीविषयक सल्लाप ।
४. क. हृदयनिहते ।
५. क-म. व्यतिरेकबुद्धो व्युदाहरणे ।

यस्मिन्नङ्गे [1]प्रसादं तु गृह्णीयान्नायिका क्रमात् ।
ततःप्रभृति नृत्तं तु [2]शेषेष्वङ्गेषु योजयेत् ।। ३२० ।।

यस्मिन्नङ्ग इति । प्रसादमिति । प्रसन्नहृदयत्वं येन प्रकारेण युवतिर्लभेतेति । तेन (न) खण्डिताविषयमेवैतदपि तु सर्वविषयं मन्तव्यम् । ततःप्रभृति शेषेष्वङ्गेष्वित्यस्यायं भावः । लब्धास्थाबन्धा यदि (यदा) भवति तर्हीति (यदि) प्रियोऽसन्निहितो भवति तदा नृत्तं योज्यमेव । एतस्मिन्प्रकरणे नाट्यगतानि नाटकोदाहरणानि कैश्चिद्दत्तानि तान्ययुक्तानीति मन्तव्यम् ।

खण्डितादयो नायिका यत्र साक्षात्क्रियन्ते तत्र वलनावर्तनादिरूपनृत्तं न योज्यमिति यदुच्यते तदनवकाशमेव तथाहि—

"चिन्तानिश्वासखेदेन हृद्दाहाभिनयेन च ।
सखीभिः सह संलापैरात्मावस्थावलोकनैः ।।
ग्लानिदैन्याश्रुपातैश्च रोषस्याभिनयेन च ।
निर्भूषणामृजात्वेन दुःखेन रुदितेन च ।।
खण्डिता विप्रलब्धा च कलहान्तरितापि च ।
तथा प्रोषितनाथा च भावानेतान्प्रयोजयेत् ।।
(ना. शा. २२-२१४-२१६)

इति सामान्याभिनये वक्ष्यते ।

अनुवाद जिस नाट्य के अङ्ग में नायिका क्रमशः प्रसन्नता को प्राप्त करती है वहाँ से लेकर शेष अङ्गों में नृत्त की योजना करनी चाहिए ।।३२१।।

अभिनव––जिस प्रकार से युवती प्रसन्नता को प्राप्त करे, इससे केवल खण्डिता नायिका के विषय में ही नृत्य का निषेध नहीं है, अपितु समस्त नायिकाओं के सम्बन्ध में समझना चाहिए । 'उस समय से लेकर शेष अङ्गों तक नृत्त करना चाहिए ? इस कथन का भाव यह है कि जब नायिका आशा के बन्धन को प्राप्त कर लेती है और यदि प्रिय पास में नहीं रहता तो नृत्य करना चाहिए । इस प्रकरण में कुछ लोगों ने नाट्यगत नाटकों के उदाहरण दिये हैं उन्हें अयुक्त मानना चाहिए ।

खण्डिता आदि नायिकाओं का जहाँ पर साक्षात्कार किया जाता है वहाँ पर अङ्गों का वलन, आवर्त्तन आदि रूप नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इस प्रकार जो कहा जाता है वह अप्रयोज्य है अर्थात् उसके लिए कोई स्थान नहीं है । जैसाकि—

"चिन्ता, निःश्वास, खेद और हृदय के जलन के अभिनय द्वारा, सखियों के वार्त्तालाप के द्वारा, अपनी अवस्था के अवलोकन के द्वारा, ग्लानि, दीनता और अश्रुपात के द्वारा, क्रोध के अभिनय के द्वारा, अलङ्कार धारण न करने से, स्नान आदि

---

१. क-म. प्रयोगम् । २. क-प. शेषेष्वर्थेषु ।

"विषण्णे मूर्च्छिते भीते जुगुप्साशोकपीडिते।
ग्लाने सुप्ते विहस्ते च निश्चेष्टे तन्द्रिते तथा॥
मत्ते प्रमत्ते चोन्मत्ते चिन्तायां तपसि स्थिते।
[1]व्याधिते रुग्ज्वरार्ते च भयार्ते [2]शीतविप्लुते॥
न हस्ताभिनयः कार्यः कार्यः सत्त्वसमाश्रयः"।

(ना. शा. ९-१७६-१७८)

इत्याङ्किकाभिनये वक्ष्यति।

तदेवं स्थिते हस्ताभिनयस्यैवात्रावकाशो नास्तीति कस्तत्र तत्संमेलनात्मनोवलनावर्तनादेराशङ्कावकाशो यन्निषेधोऽत्र वचनीयः स्यात्। न चेह नाट्यं प्रकृतमित्यास्ताम्। एकं (एवं) गीतकादेरन्ते च्छन्दकं पाणिकायास्तु लास्यगानस्वीकारिणी चतुष्पदा प्रयोज्या। इयता गीतकादि पूर्णं प्रयुक्तम्। एतदर्थमेव "वीक्ष्य शङ्करम्। सुकुमारप्रयोगे नृत्यन्तीं चैव पार्वतीम्।" (ना. शा. ४-२४९) इत्युपक्रमात्प्रभृति (द्विशाखत्वेनैव)विशाखत्वेनैव नृत्तस्वरूपमुपदर्शितम्। (३२०)

शुद्धि न करने से, दुःख और रोदन (रोना) के द्वारा खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता और प्रोषितभर्तृका नायिका को इन भावों की योजना (अभिनय) करनी चाहिए। (ना० शा० २४।२२२–२२४)।

सामन्य अभिनय में इनको कहेंगे।

"विषण्ण, मूर्च्छित, भीत तथा घृणा और शोक से पीड़ित, ग्लानि, सोया हुआ, विहस्त, निश्चेष्ट, तन्द्रित, जड़, मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त चिन्तित, तपस्या करते हुए, व्याधि से ग्रस्त, रोग और ज्वर से पीड़ित, भय से पीड़ित, शीत से त्रस्त स्थिति में हस्ताभिनय नहीं करना चाहिए, किन्तु सत्त्व का आश्रयण (संग्रहण) करना चाहिए।" (ना० शा० ९।१७६–१७८)।

यह आङ्गिक अभिनय के अवसर पर कहेंगे।

तब ऐसी स्थिति में यहाँ पर हस्ताभिनय का ही अवसर नहीं है तो वहाँ हस्त सम्मेलन रूप वलन, आवर्त्तन आदि की आशङ्का का अवसर कहाँ है? जिसके निषेध के लिए यहाँ कहा गया है। यहाँ पर नाट्य प्रकृत भी नहीं है। इस प्रकार गीत के आदि के अन्त में छन्दक का और पाणिका के अन्त में लास्य गान का अनुसरण करने वाली चतुष्पदा का प्रयोग करना चाहिये। इतने से गीतक आदि का पूर्ण प्रयोग हो गया। इसीलिए "नृत्य करते हुए शङ्कर को देखकर ओर सुकुमार प्रयोग से नृत्य करती हुई पार्वती को देखकर" (ना० शा० ४।२४९)। इस उपक्रम से लेकर विभिन्न शाखाओं के रूप में नृत्त के स्वरूप का प्रदर्शित किया है॥ ३२०॥

१. क. व्याधिग्रस्ते ज्वरार्ते। २. क-म. गीतविप्लव।

[1]देवस्तुत्याश्रयकृतं यदङ्गं तु भवेदथ ।
माहेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ॥ ३२१ ॥
यत्तु शृङ्गारसंबद्धं[3] गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
[4]देवीकृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयोजयेत् ॥ ३२२ ॥

तदत्र द्विविधे नृत्तविभागमाह श्लोकत्रयेण ।

देवस्तुत्याश्रयमिति—यदङ्गमिति । छन्दकसम्बन्धि । उद्धतैरिति । विद्युद्भ्रान्तगरुडप्लुतकादिप्रधानैः । अत्र हेतुर्यतस्ते महेश्वरप्रयुक्ताः ॥ ३२१ ॥

यत् द्वितीय-चतुष्पदासंबन्धि । ललितैरिति । तलपुष्पपुटलीननितम्बाद्यारब्धैः । अत्र हेतुः यतस्ते देवीकृताः ॥ ३२३ ॥

एव नृत्तविधिश्चतुष्पदायां सलास्यगानस्वीकारिण्यामुक्तः अधुना भाण्डविधिर्वक्तव्यः । तत्र चतुर्भिः पादैर्ध्रुवा क्रियते । ते च पादाः शुष्काक्षरैर्झण्टुमादिभिः दिग्ल इत्यादिभिर्वा । यत्र वक्ष्यते—

अब यहाँ दो प्रकार के नृत्य विभाग को तीन श्लोकों में कहते हैं—

अनुवाद—यदि रूपक में देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध जिस अङ्ग की योजना की जाती है उसमें महेश्वर द्वारा रचित उद्धत अंगहारों को नृत्त की योजना करनी चाहिए ॥ ३२१ ॥

अभिनव—छन्दक सम्बन्धी अङ्ग । उद्धतैः का अर्थ है-विद्युद्भ्रान्त, गरुड़प्लुत आदि प्रधान नृत्तों से । यहाँ पर हेतु है कि वे अङ्गहार महेश्वर द्वारा प्रयुक्त हैं ॥३२१॥

अनुवाद—जो स्त्री और पुरुषों पर आधारित शृङ्गार सम्बन्धी गान है। उसे पार्वती द्वारा रचित अंगहारों से उस नृत्त का प्रयोग करे ॥३२३॥

अभिनव—'यत्' का अभिप्राय है-द्वितीय चतुष्पदा सम्बन्धी अङ्ग । 'ललितैः' पद से तात्पर्य है-तल पुष्पपुट, लीन, नितम्ब आदि ललित अङ्गहारों से । यहाँ पर हेतु है कि ये अङ्गहार पार्वती द्वारा प्रयुक्त हैं ॥३२३॥

अभिनव—इस प्रकार यह नृत्त विधान लास्य के साथ गान का अनुसरण करने वाली चतुष्पदा में कहा गया है। अब भाण्डविधि को कहते हैं। वहाँ पर चार पदों से ध्रुवा की जाती है और वे पाद हैं शुष्काक्षर अर्थात् 'झण्टुभ्' इत्यादि जो आगे कहेंगे—

"आसनों पर बैठे हुए गायक लोग तन्त्रीवाद्य के साथ जो शुष्कगान करते हैं, उसे गेयपद कहा जाता है।" (ना० शा० २९।१३०) ।

---

१. ख-ब. देवस्तुत्याश्रयगत यदङ्गं तु भवेदिह ।
३. ख. सम्बन्धं ।
४. देवैः कृतैरङ्गहारैः ।

चतुष्पदा नर्कुटके[1] खञ्जके परिगीतके[2]।
विधानं [3]सम्प्रवक्ष्यामि [4]भाण्डवाद्यविधिं प्रति ॥ ३२३ ॥
खञ्जनर्कुटसंयुक्ता[5] भवेद्या तु चतुष्पदा।
पादान्ते सन्निपाते तु तस्या[6] भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ३२४ ॥

"आसनेषूपविष्टैर्यत्तन्त्रीगानसमन्वितम्।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद्गेयपदमुच्यते ॥"

(का. मा. ना. शा. १८-१८५)

इति सार्थकपदैर्वा। तत्रापि वर्णवृत्तकृता वा पादा मात्रावृत्तकृता वा। समा अर्धसमा विषमा वा। ते च प्राधान्येन खञ्जनर्कुटकवृत्तैर्योज्यन्ते। यद्वक्ष्यते ध्रुवाध्याये--

"अष्टौ नर्कुटकानां तु विज्ञेया जातयो बुधैः।
एतास्तिस्रः समाख्याताः खञ्जकानां तु जातयः ॥"

(का. मा ना. शा. ३२-२८०, ३०१)

इत्युपक्रम्य—
"आभ्यो विनिस्सृताश्चान्या युग्मौजा विषमास्तथा।" इति।

(ना.शा. ३२-३०८)

एतद्विषयं भाण्डवाद्योपक्रमं करोति।

अथवा सार्थक पदों से भी ध्रुवा की जाती है। वहाँ पर भी पाद कहीं वर्णवृत्त-कृत वर्णिक छन्दों और कहीं मात्रावृत्तकृत मात्रिक छन्दों से बनते हैं। वे मात्रिक छन्द सम, विषम और अर्धसम होते हैं। वे भी प्रधानतया खञ्ज, नर्कुटक छन्दों से युक्त होते हैं। जैसाकि ध्रुवाध्याय में कहेंगे—

"नर्कुटक छन्द की आठ जातियाँ होती हैं।" (ना० शा० ३२।२८०)।

"खञ्जक छन्द की तीन जातियाँ होती हैं।" (ना० शा० ३२।३०१)।

इस प्रकार उपक्रम करके कहते हैं—

"इन्हीं से अर्थात् नर्कुटक और खञ्जक छन्दों से अन्य सम, अर्धसम और विषम वृत्त निकले हैं।" (ना० शा० ३२।३०८)।

अब इनके विषय में भाण्डवाद्यों का उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—अब मैं चतुष्पदा (चौताल) नर्कुटक, खञ्जक और परिगीतक में प्रयुक्त होने वाले भाण्डवाद्यों के प्रयोग-विधान को कहूँगा ॥ ३२३ ॥

---

१. ख. नकुटके। २. ख. परिधानके। ३. क-अ. संप्रयुञ्जामि।
४. ख. ग. भाण्डनृत्तविधिं। क-ब. भाण्डनृत्यविधिं। क-अ. नाट्ये भाण्डविधिं।
५. ख. खञ्जनं कुटसंयुक्ता। ६. घ. तस्यां।

चतुष्पदा नर्कुटक इति । चतुष्पदापि सन्निधानाच्चतुष्पदायां[1] परिगीतमपि ध्रुवाध्याये त्रिवृत्तकं यदि वा शुष्कगीतं तत्रैव । तदेतेषु त्रिषु प्रकारेषु भाण्डवाद्यस्य पुष्करवाद्यस्य विधिं वक्ष्यामि ।

खञ्जकजात्या नर्कुटकजात्या वा या चतुष्पदा ध्रुवा क्रियतेऽस्यां प्रथमपादस्य यावदुपान्त्यकला तावच्च श्रीवंशान्वितं गानम् । अन्ये (अन्या) तु या सन्निपाताख्या हस्तद्वयसमायोगशब्दपरिच्छेद्या कला तद्गानसमये भाण्डवाद्यमारम्भणीयम् । [2]एषोऽर्धसमविषमवृत्तात्मको नर्कुटकखञ्जकजात्यारब्धायां चतुष्पदायां विधिः ॥ ३२३-३२४ ॥

अनुवाद—जो चतुष्पदा खञ्जक और नर्कुटकसे युक्त होती हो तो उसके अन्तिम पाद के अन्त में सन्निपात में अर्थात् दोनों हाथ से ताली बजाकर भाण्डवाद्यों का वादन प्रारम्भ हो जाना चाहिए ॥ ३२४ ॥

अभिनव—नर्कुटक चतुष्पदा होते हुए चतुष्पदा में भी त्रिवृत्तक परिगीत भी रहेगा जो ध्रुवाध्याय में कहा जायगा अथवा शुष्कगीत भी वहीं रहेगा । अब इन तीन प्रकारों में भाण्डवाद्य (पुष्करवाद्य) की विधि को भी कहूँगा ।

खञ्जक जाति की अथवा नर्कुटक जाति की जो चतुष्पदा ध्रुवा करते हैं उसमें प्रथम पाद में जितनी उपान्त्य कलाएँ होती हैं उतने ही गान होते हैं । अन्य लोग तो जो सन्निपात नामक दो हस्तों का योग शब्द से परिच्छेद्य कला है, उसके गान के समय भाण्डवाद्यों का प्रारम्भ करना चाहिए । अर्धसम और विषम वृत्त रूप नर्कुटक और खञ्जक जाति में आरम्भ की गई चतुष्पदा में यह विधि है ॥ ३२३–३२४ ॥

विमर्श—यहाँ पर भाण्डवाद्यों के प्रयोग-विधान का वर्णन किया गया है । इसमें चतुष्पदा ध्रुवा में शुष्क गीत का गायन होता है । आसन पर बैठकर गायकों द्वारा तन्त्रीगान के साथ शुष्कगान गाया जाता है । इसमें वर्णिक और मात्रिक छन्दों के साथ सम, अर्धसम और विषम छन्दों के प्रयोग के अनुसार नर्कुटक और खञ्जक छन्दों की योजना होती है । इसमें नर्कुटक की आठ जातियाँ और खञ्जक की तीन जातियाँ होती हैं । अन्य सम, अर्धसम और विषम भी इन्हीं से निःसृत हैं । जिस प्रकार ध्रुवा के तीन प्रकार के वृत्त हैं उसी प्रकार तीन शुष्कगीत भी इन्हीं नामों के है । इन तीनों में भाण्डवाद्य का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए, उसी का वर्णन यहाँ करते हैं । नर्कुटक और खञ्जक जातियों के चतुष्पदा ध्रुवा में प्रयोग होने पर प्रथम पाद के समाप्त होते ही सन्निपात के प्रयोग के साथ भाण्डवाद्य का वादन प्रारम्भ कर देना चाहिए । यहाँ पर सन्निपात का अर्थ दोनों हाथों से ताली बजाना है । तदनुसार ताली बजाकर निर्देश करते ही भाण्डवाद्यों का प्रारम्भ कर देना चाहिए ॥ ३२४-३२५ ।

१ क-भ. चतुष्पदायाः । २. क. येषामर्धसमविषमो वृत्तात्मकं ।

या ध्रुवा छन्दसा युक्ता समपादा समाक्षरा।
तस्याः पादावसाने तु प्रदेशिन्या ग्रहो भवेत् ॥ ३२५ ॥

वर्णवृत्तसमवृत्तात्मकतज्जात्यारब्धायां तु विधिमाह—या ध्रुवेति। समपादा चतुष्पादा। तदयमर्थः—या चतुष्पदा। छन्दसा युक्तेति। युक्ता जातिगतवर्णवृत्तयोजिता। समाक्षरेति तज्जातिकसमवृत्तमयी। तस्याः प्रथमे पादे परिसमाप्ते द्वितीयपादे या प्रदेशिनी तर्जनी तदुपलक्षिता या [1]चात्र त्रिकलप्रभृति-भाण्डवाद्यं योज्यम्। तत्र युग्मेन मानेन यदा चतुष्पदा भवति—यद्वक्ष्यते "युग्मौजा वा प्रमाणतः"। (ना. शा. ३१-२९३) इति त्रि कलश्च (द्विकलश्च) मार्गः तदा द्वितीयपादे सप्तमी। या निष्क्रामकला सा तर्जनी-प्रयोज्यत्वात्तर्जनी। चतुष्कलमाने तु त्रयोदशी। आवापकालतर्जनी। यदा तु त्र्यश्रेण मानेन तदा द्विकले पञ्चमी। कनिष्ठा निष्क्रामकला तर्जनी। चतुष्कले तु नवमी। आवापकला तर्जनी।

एतच्च तालाध्याये वक्ष्यते—"कनिष्ठाङ्गुलिनिष्क्रामः" "तर्जनीकृतो निष्क्रामः" (ना. शा. ३१-४१,४२) इत्यादिना। दत्तिलाचार्येण तु संक्षिप्योक्त-मेतत्—

अब वर्णवृत्त अर्थात् समवृत्त से आरम्भ होने वाली जातियों को कहते हैं—

अनुवाद—जो ध्रुवा छन्दों से युक्त समपादा (चतुष्पादा) और समाक्षरा होती है उसके पाद की समाप्ति पर प्रदेशिनी अंगुली के द्वारा भाण्डवाद्य पर ताल देना चाहिए ॥ ३२६ ॥

अभिनव—समपादा का अर्थ चतुष्पादा है। छन्दों से युक्त अर्थात् जातिगत वर्णवृत्त (वर्णिक) छन्द से युक्त। समाक्षरा का अर्थ है समान अक्षरों की जाति समवृत्त वाली। उसके प्रथम पाद की समाप्ति पर द्वितीय पाद में प्रादेशिकी (तर्जनी) अंगुली के द्वारा भाण्डवाद्य पर ताल दी जातो है। उसमें जब युग्म प्रमाण से चतुष्पदा होती है। जो आगे कहेंगे—"चतुष्पदा प्रमाण के अनुसार युग्म और ओज रूपा होती है" (ना० शा० ३१।३२७)। इस प्रकार जब त्रिकल मार्ग होगा तो द्वितीय पाद में सप्तमी होगी। जो निष्क्राम कला है वह तर्जनो अंगुली से प्रयोज्य होने के कारण 'तर्जनी' नाम वाली हैं। चतुष्कल मान में तो त्रयोदशी कला होगी। अवापकला तर्जनी है। जब त्र्यस्र मान से कलापात हो तो द्विकल में पञ्चमी होगी। कनिष्ठाङ्गुलि निष्क्राम कला होगी। जब चतुष्कल होगी तो नवमी आवापकला तर्जनी होगी।

इसे तालाध्याय में कहेंगे—'कनिष्ठाङ्गुलिनिष्क्राम' इत्यादि से प्रारम्भ कर 'तर्जनीकृतो निष्क्रामः' इत्यादि से। दतिलाचार्य ने तो संक्षेप में कहा है—

---

१. क. चातीतकलमप्रभृति।

"आद्यद्वितीयमध्यान्तात्पादभागाद्विदुः क्रमात् ।
कनिष्ठानामिकायुक्तो मध्यमादेशिनीकृतात् ॥
[1]अयुग्ममध्यहीनः स्यात्" इति ।

एवं तर्जनीप्रयोज्यो योऽसौ द्वितीयपादे कलापातः ततस्तत्र भाण्डग्रहस्तदुपलक्षितश्च नर्तकीप्रवेश इत्युक्तं भवति । अन्ये त्वाकाशग्रहासु निश्शब्दकलातो ग्रहं मन्यमानाः सन्निपातप्रकरणात्सशब्दात्पातादेव ग्रह इहेति वदन्तः प्रदेशिनीशब्देन तदुपलक्षितपादभागगमनं सशब्दमेव पादग्रहावधिकेनाचक्षते । पञ्चपाणिप्रपाता ये पुष्कराध्याये वक्ष्यन्ते तन्मध्यात्प्रदेशिनीपातेन भाण्डग्रह इति व्याख्यानं "सन्निपातोऽनुग्रहः" इति प्रकरणेन तथा ध्रुवाध्याये वक्ष्यमाणेन "चतुर्ग्रहा ध्रुवा" इत्युपक्रम्य—

"सन्निपातग्रहाः काश्चित् काश्चिद्वै तर्जनीग्रहाः ।
तथाकाशग्रहाः काश्चित् ध्रुवागाने भवन्ति हि" ॥
(ना शा. ३२-४१६)

इति विधिना विरुद्धमित्युपेक्षितं लक्ष्यवेदिभिः ॥ ३२५ ॥

"विद्वान् लोग जिसे आद्य, द्वितीय, मध्य और अन्त पादभाग से जानते हैं । मध्यमा और तर्जनी के उपयोग के कारण कनिष्ठिका और अनामिका से युक्त, युग्मरहित और मध्य से हीन होगा',

इस प्रकार द्वितीयपाद में तर्जनी द्वारा प्रयोज्य जो यह कलापात है उसमें भाण्डवाद्य का ग्रहण होता है अर्थात् भाण्डवाद्य का वादन होता है और उससे उपलक्षित नर्त्तकी का प्रवेश होता है, यह कहा गया है । अन्य लोग तो आकाश ग्रहों में निःशब्द कला से ग्रह मानते हुए और सन्निपात प्रकरण से सशब्द पात से ही ग्रह को कहते हुए और प्रदेशिनी शब्द से उससे उपलक्षित पादभाग के गति को सशब्द पादग्रह कहते हैं । जो पञ्चपाणिपात है जिसे पुष्कराध्याय में कहेंगे, उनके बीच में तर्जनी का पात होने से भाण्डग्रह होता है यह व्याख्यान 'सन्निपातोऽनुग्रहः' इस प्रकरण से तथा ध्रुवाध्याय में कहे जाने वाले 'चतुर्ग्रहा ध्रुवा' इससे प्रारम्भ करके—

"कोई ध्रुवा सन्निपातग्रहा होती है और कोई ध्रुवा तर्जनीग्रहा होती है तथा कोई ध्रुवा आकाशग्रहा होती है । इस प्रकार गान में ध्रुवाएँ तीन होती हैं ।"
(ना० शा० ३२।४१६),

इस विधान से विरुद्ध होने से प्रयोगवेत्ताओं ने इसकी उपेक्षा कर दी है ॥३२६॥

१ क-भ. आयुङ्मध्यहीनः । क-म. अयुग्ममध्यविहीनः ।

कृत्वैकं [1]परिवर्त्तं तु गानस्याभिनयस्य[2] च ।
पुनः पादनिवृत्ति[3] तु भाण्डवाद्येन[4] योजयेत् ॥ ३२६ ॥
[5]अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु वर्णान्तरनिवृत्तिषु ।
तथोपस्थाने[6] चैव भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ॥ ३२७ ॥

नन्वेवं नर्तकी प्रविष्टा ततः प्रभृत्यभिनय तावत्करोति । यस्त्वसावाद्यः पादस्ततोऽधिकोऽपि वा भागस्तत्र नर्तकी नैव प्रविष्टेति का तत्र वार्तेत्याशङ्क्याह—कृत्वैकमिति ।

योऽसौ शुद्धविभागः पूर्वं गीतः स परावर्तनीयो भाण्डवाद्येन सहाभिनेतव्य इति पश्चादसौ प्रयोज्य इत्युक्तं भवति । पादग्रहणमुपलक्षणम् । तेन यावन्भागो भाण्डवाद्येन प्राङ्नियोजितोऽत एव नाभिनीतस्तावतो निवृत्तिः परावर्तनं कार्यमित्युक्तं भवति ॥ ३२६ ॥

अथात्र चतुष्पदायां भाण्डवाद्यविशेषाभिधानव्याजेन नृत्तस्थानं दर्शयति—अङ्गवस्तुनिवृत्तौ त्विति ।

इस प्रकार प्रविष्ट हुई नर्त्तकी उस समय से अभिनय तो कर रही है, उसमें जो आद्य पाद है, उससे भी अधिक भाग गाया जा रहा है तो नर्त्तकी ने प्रवेश नहीं किया यह कैसी बात है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार गान और अभिनय का एक बार आवर्त्तन (आवृत्ति) करके फिर अन्तिम पाद की समाप्ति पर भाण्डवाद्य का प्रयोग करे ॥ ३२६ ॥

अभिनव—जो यह शुद्ध विभाग गीत पहिले गाया गया, उसका परिवर्त्तन आवश्यक है, अतः उसका अभिनय भाण्डवाद्य के साथ करना चाहिए, इससे सिद्ध होता है कि इसका प्रयोग बाद में करना चाहिए, यह कहा गया है । यहाँ पाद ग्रहण उपलक्षण मात्र है । उससे जितना अंश भाण्डवाद्य के पहिले नियोजित है । अतः जितने अंश का अभिनय नहीं हुआ है उतने अंश का परावर्त्तन करना चाहिए, यह कहा गया है ॥ ३२६ ॥

इसके बाद यहाँ चतुष्पदा में भाण्डवाद्य विशेष के कहने के बहाने नृत्तस्थान को दिखाते हैं—

---

१ क-ङ. ब. त. परिवृत्तम् ।
२. ख-घ. गानस्याभिनये पुनः । क-न. ब. नागस्याभिनयस्य च ।
३. ख-घ. पादनिवृत्तौ तु । क-ञ. त. पादनिवृत्तं तु ।
४. ख-घ. भाण्डवाद्यं नियोजयेत् । ग. भाण्डवाद्यैर्नियोजयेत् ।
५ ख. घ अङ्गवस्तुनिवृत्तेन ।
६. ख. ततोऽवस्थापने ।

तुर्भिन्नक्रमोऽवधारणे। अङ्गस्यैव वा वस्तुनो वा सर्वस्य ध्रुवाशरीरस्य स्थाय्यादिविशेषस्य वा प्रतिशाखान्यायेन तत्परावर्तनं [1]यच्चोपस्थापनात्मकं तेषु प्रकर्षेण भाण्डवाद्यं वैचित्र्ययुक्तं योजयेत्। तद्वशाच्च तत्र नृत्ताङ्गहारयोजनां कुर्यादित्यर्थः॥ ३२७॥

अथ शुष्काक्षरायाश्चतुष्पदाया विधिर्वक्तव्यः। सा च पूर्वमेव प्रयुज्यते "आसनेषूपविष्टेषु" इत्युक्तत्वात्। अत एव गेये गातव्ये काव्ये पदमवगमयन्त इति तत्पीठबन्धरूपत्वं तस्याः। तथा चान्यत्वे षिद्गकेषु गातव्यात्पूर्वं तावतीति नान्यावसरे। अत एव गेये ध्रुवागीते गेयं गातव्यमिति ह्येकोऽर्थः। तं विधिमाह—येऽपि चान्तरमार्गा इति।

अनुवाद—जब नाटक या गीत के अङ्ग की तथा वस्तु की समाप्ति हो जाने पर अथवा वर्णान्तर की निवृत्ति (परिसमाप्ति) पर इसकी पुनः उपस्थापना किये जाने पर भाण्डवाद्य का प्रयोग करना चाहिए॥ ३२७॥

विशेष—अभिनवगुप्त ने यहाँ पर निवृत्ति का अर्थ परावर्त्तन और वर्णान्तर का अर्थ वर्णसमवृत्त लिया है। तदनुसार इसका अर्थ होगा—

नाट्य अथवा गीत के अङ्ग तथा वस्तु के दुहराये जाने पर अथवा वर्णवृत्त के परावर्त्तन के बाद उसके पुनः प्रारम्भ किये जाने पर भाण्डवाद्य का प्रयोग करे॥३२७॥

अभिनव—यहाँ पर तु का भिन्नक्रम है और उसका अर्थ अवधारण है। किसी एक अङ्ग अथवा वस्तु अथवा समस्त ध्रुवा गीत के शरीरभूत स्थायी आदि वर्णों का प्रतिशाखा के न्याय से जो परावर्त्तन (आवृत्ति) है और जो उपस्थापन है। उनमें प्रकर्ष रूप से विचित्रता के साथ भाण्डवाद्य की योजना करे और उसके अनुसार वहाँ नृत्त के उपयोगी अङ्गहारों की योजना करे॥ ३२७॥

अभिनव—अब शुष्काक्षरा चतुष्पदा की विधि को कहना चाहिए। उसका प्रयोग पहिले ही किया जाता है "आसन पर बैठने के बाद" यह कथन होने के कारण चतुष्पदा का प्रयोग पहिले किया जाता है। इसलिए गेय अर्थात् गाने योग्य काव्य में पद का अवगमन करते हैं, यह कथन उसके पीठबन्धरूपता को प्रकाशित करता है। इसलिए षिद्गक नामक नृत्तात्मक प्रबन्ध में गाने (गेय) के पहिले उसका प्रयोग होता है। इसलिए गेय ध्रुवागीत में 'गाना चाहिए' यह एक अर्थ है। इस विधि को कहते हैं—

१. क यच्चोपस्थानमोहनात्मकं। क-भ. यच्चोपस्थानमोहात्मकं।

येऽपि चान्तरमार्गास्स्युः[1] तन्त्रीवाक्करणैः[2] कृताः ।
तेषु सूची प्रयोक्तव्या भाण्डेन सह ताण्डवे ।। ३२८ ।।

अन्तरं परस्परवैलक्षण्यं [3]मान्यते (मृग्यते) येनोपायेन सोऽन्तरमार्गः । संवाद्यनुवादिन्या[4] स स्वर उपलक्षणात्मकोऽर्थंप्राधान्याभावाच्च तेनैव व्यपदेशः । अत एवाह तन्त्रीक्रियया वाक्क्रियया । तदेव निरर्थकतया योजितास्तेषु समग्रहत्वेनैव [5]भाण्डप्रयोगः । नर्तक्या [6]रचनाद्धि लास्याङ्गगतकाव्यार्थानुसारिहस्ताभिनयशून्यः सात्त्विकाङ्गवलनादिमात्रेण सूच्याभिनयः । यद्वक्ष्यति—

"वाक्यार्थो वाक्यवस्त्वङ्गैर्योज्यते यदा पूर्वम्" । पश्चाद्वाचाऽभिनयः इत्ययं त्वङ्ग इहोपलक्ष्यः । एतच्च गातव्यप्रयोगे त्रिप्रकारकृततावन्मात्रतालगानसूच्याऽभिनयमद्यापि दृश्यते ।

अनुवाद—जो तन्त्रीवाद्य, वाक्क्रिया तथा करणों के द्वारा सम्पादित अन्तरमार्ग हैं इनमें भाण्डवाद्य के साथ ताण्डव नृत्त और सूची चारी का प्रयोग करना चाहिए ।। ३२८ ।।

अभि०—अन्तर अर्थात् परस्पर विलक्षणता को जिस उपाय से खोजा जाता है उसे अन्तरमार्ग कहते हैं । वह अनुवर्त्ती स्वर है । संवादी और अनुवादिनी वाक्क्रिया के द्वारा वह स्वर उपलक्षण है, उसमें अर्थ की प्रधानता न होने से उसी नाम से उसका अभिधान किया है । इसीलिए कहते हैं कि तन्त्रीक्रिया और वाक्क्रिया के द्वारा निरर्थक शुष्काक्षर की योजना की गई है । उसमें समग्रह के रूप में भाण्डवाद्य का प्रयोग होता है जो नर्त्तकी के द्वारा रचना किये जाने से लास्य के अङ्गभूत काव्य के अर्थ को अनुसरण करने वाले हस्ताभिनय से शून्य है, अत एव सात्त्विक अङ्गों के वलन मात्र से सूची चारी के द्वारा अभिनय किया जाता है । जैसाकि आगे कहेंगे—

"जब पहिले वाक्य वस्तु तथा अङ्गों के साथ वाक्यार्थ की योजना की जाती है । उसने बाद वाणी का अभिनय होता है" इस प्रकार यह अङ्ग से यहाँ पर उपलक्ष्य है । यह गेय के प्रयोग में तीन प्रकार से किया गया ताल एवं ज्ञान के साथ सूची से चारी के द्वारा उतने का ही अभिनय आज भी दिखाई देता है ।

---

१. ग मार्गास्तु ।

२. ख. तन्त्र्या वा करणैः कृताः । घ. तन्त्र्या वाक्करणैः कृताः । क-अ. तन्त्र्या वाक्चरणैः कृताः ।

३. क-भ. मन्यते ।

४. क-भ. म. सम्पाद्यवादित्या सस्वराः ।

५. क. भावप्रयोगः ।

६. क. रचनाद्धि ।

महेश्वरस्य चरितं य इदं सम्प्रयोजयेत् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति ॥ ३२९ ॥

एवं वर्धमानकप्रयोगो गीतकप्रयोगो वा छन्दकप्रयोगेन चतुष्पदाप्रयोगेन च सहेतुकः परिपूर्णो भवति । अत एव तालाध्याय [1]इत्युपक्रमानुसारेणैव वर्धमानासारितकगीतकच्छन्दकचतुष्पदा तदन्तर्भूतलास्यगानस्य[2] विधेः क्रमेण निरूपणं भविष्तीयता "गीतानां मद्रकादीनाम्" (ना. शा. ५-१३) इति पूर्वरङ्गाध्याये श्लोको भविष्यति । तस्यार्थः पुरस्तादेव निर्णीतः । तेन तदनुसारेणैतदप्यालोच्योदीरितोऽयमर्थोऽनुष्ठेयः ॥ ३२८ ॥

नन्वत्र पूर्वरङ्गगतप्रधानफलेनैव किं फलवत्ता उत फलान्तरमप्यस्तीत्याशङ्क्य पृथक्फलवत्त्वं च दर्शयन् स्वातन्त्र्येण प्रयोज्यमिदमिति दर्शयति—महेश्वरस्येति ।

इस प्रकार वर्धमानक का प्रयोग अथवा गीतक का प्रयोग छन्दक के प्रयोग के साथ तथा चतुष्पदा के प्रयोग के साथ सहेतुक पूर्ण होता है । इसलिए तालाध्याय में इसके उपक्रम के अनुसार ही वर्धमान, आसारित, गीतक, छन्दक और चतुष्पदा तथा उसके अन्तर्भूत लास्य एवं गान की विधियों का क्रम से निरूपण होगा, इतने से ही 'गीतानां मद्रकादीनां (ना० शा० ५।१३) यह श्लोक पूर्वरङ्ग के प्रकरण में कहा जायगा । उसका अर्थ पहिले ही निर्णय कर दिया गया है । इसलिए उसके अनुसार इसका भी आलोचन करके कहे गये इस अर्थ का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ३२८ ॥

अब प्रश्न यह है कि पूर्वरङ्ग में निर्दिष्ट प्रधान फल से ही क्या उसकी फलवत्ता है ? अथवा कोई दूसरा फल भी है ? इस प्रकार आशङ्का करके उसकी पृथक् फलवत्ता को दिखाते हुए 'स्वतन्त्रता से इसका प्रयोग करना चाहिए' इस बात को कहते हैं—

अनुवाद—जो इस महेश्वर के चरित का प्रयोग करता है वह समस्त पापों से शुद्ध होकर शिवलोक को प्राप्त करता है ॥ ३२९ ॥

प्रकारान्तर से—

अनुवाद—जो महेश्वर द्वारा रचे गये इस नृत्त का प्रयोग करता हैं वह समस्त पापों से मुक्त होकर शिवलोक को प्राप्त करता है ॥ ३२९ ॥

---

१. क. एतदुपक्रमानुसारेणैव ।
२. क-भ. म. लास्यगानसविधेः ।

चरितमिति चेष्टितम्। प्रयोजयेदिति स्वार्थे हेतुमति च तन्त्रेण णिचि। तेन [1]प्रयोक्तुः प्रेक्षाप्रवर्तयितुश्चार्थपतेः सामाजिकवर्गस्य च पापविशुद्धिः शिवलोकगतमनन्तफलं नृत्तस्येति [2]नाट्यदृष्टैकप्रयोजनाद्भिन्नप्रयोजनत्वमुक्तम्। स्वातन्त्र्येण प्रयोगे च छन्दकानां चतुष्पदायाश्च केवलत्वेनापि प्रयोगो ह्यनुज्ञातो भवति। तदङ्गानां च पुनः "पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा" इत्याद्यनुसारेण धारापरिक्रमादेः "यदा गीतवशात्" (ना. शा. ४-३००) इत्यनुसारेण द्विगुणाद्यर्थगुणावयवारणकगुञ्जिकादेश्चतुरपसारकादिविधा च डोम्बिकादिषु क्रमेण नर्तकीवृद्धिराचार्यैराधेया(?)। तालानुसारेण च 'त्रिपाणिलयसंयुक्तम्' (ना०शा०४।३०१) इत्याद्यनुसारेण धारापरिक्रमादेः त्रिपाणिपरिष्वङ्कितलयतालपरिक्रमादेः ॥३२९॥

विमर्श—यह जो नाट्य एवं नृत्त का प्रकरण है वह महेश्वर शिव से सम्बद्ध है, अतः उनके द्वारा रचित नृत्त का प्रयोग जो करेगा वह शिवलोक (सायुज्य) को प्राप्त होगा, क्योंकि नृत्त एक साधना है, इसमें चित्त की एकाग्रता होती है और अगणित आसनों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह एक योग है, साधना है, चित्त की एकाग्रता है, समाधि है, अतः इस साधना के द्वारा शिवलोक की प्राप्ति सहज है ॥ ३२९ ॥

अभिनव--यहाँ पर चरित का अर्थ चेष्टित है। 'प्रयोजयेत्' में स्वार्थ और हेतु अर्थ में णिच् प्रत्यय है। उससे नृत्त के प्रयोक्ता, प्रेक्षा के प्रवर्त्तक (संचालक), अर्थपति और सामाजिक वर्ग के पापों की शुद्धि और शिवलोकगत अनन्त फलों की प्राप्ति नृत्त के द्वारा होती है, यह कह दिया गया है और नाट्य में दृष्ट प्रयोजन से इसका भिन्न प्रयोजन कहा गया है। स्वतन्त्र रूप से किये गये प्रयोग में छन्दकों का तथा चतुष्पदा का प्रयोग भी अनुज्ञात होता है। उसके अङ्गों का फिर 'पुण्याञ्जलिधरा भूत्वा' इत्यादि के अनुसार वर्णों का लोक में प्रयोग होता है और 'तस्याः पादावसाने' इत्यादि के अनुसार धारा के परिक्रमण आदि एवं 'यदा गीतवशादङ्ग' इत्यादि के अनुसार द्विगुण (दुगुना) आदि अर्थगुणों के अवयव का वारण करने वाले गुञ्जिका आदि तथा चतुरपसारक आदि का विधान तथा डोम्बिका आदि में क्रम से नर्त्तकी आदि की वृद्धि आचार्यों को करनी चाहिए और ताल के अनुसार 'त्रियाणिलयसंयुक्तं' (त्रिपाणि-ताल और लय से युक्त) इत्यादि कथन के अनुसार धारा परिक्रमण आदि अर्थात् ताल के अनुसार लय, परिक्रम आदि का विधान करना चाहिए ॥ ३२९ ॥

१. क. प्रयोक्तुं।
२. क. नान्यदृष्टैकप्रयोजनाद्।

एवमेव विधिः सृष्टस्ताण्डवस्य प्रयोगतः[1] ।
[2]भूयः किं कथ्यतामन्यन्नाट्यवेदविधिं प्रति ॥ ३३० ॥

॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे ताण्डवलक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

तदेतत्सर्वमीश्वरपरितोषकार्येवेति तथैतदुपसंहारपूर्वकमध्यायान्तरावकाश करोति—एवमेष इत्यादिना ।

एवं पर्वोक्तेन प्रकारेण । प्रयोगत इति प्रयोगं नाट्यात्मकमपेक्ष्य ततोऽन्यस्तद्विलक्षणो विधिप्रकारो दृष्टः । तथा नाटकादौ सामाजिकवत्प्रयोक्तृतन्मयीभाववशेन नाट्यं संस्कारमपेक्ष्याभिनयादिविविधिर्दृष्टो न तु साक्षात्कारकल्पनाट्यरूपताऽत्रास्ति । चतुर्विधाभिनयोगाभावाद्रसभावाप्राधान्याद्गीतवाद्यनृत्तानां यथेष्टं प्राधान्यं नर्तकीवृद्धेः । काव्ये वस्त्वपेक्षत्वान्नाट्यप्रस्तावनाप्राणप्रतिबिम्बात्मकता त्रिविधत्वान्मदमूर्च्छादौ तत्त्वापत्त्ययोगाद्गीतकादेश्च नियमादृष्टप्रयुक्तत्वाद्गीतादिप्राधान्येनैव प्रयोगात्कुलकाच्छेद्यात्मनः काव्यस्य गीत्याधारतानान्तरीयकत्वमात्रेण [3]गमनात्पिण्डीबन्धप्रकारे वैचित्र्यान्ते नृत्तमात्रविश्रान्तः प्रयोक्तृप्रवर्तयितृमात्रदृष्टफलप्राधान्याच्च तद्विलक्षणं नाट्यं तद्वृत्तिर्भिद्यत इति एवं शब्दस्यार्थ इत्युपाध्यायमतम् ।

अब यह सब ईश्वर को परितुष्ट करने का साधन है। अतः इस रूप में उसका उपसंहार करते हुए अग्रिम अध्याय के लिए अवसर उपस्थित करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार भगवान् शिव ने ताण्डव नृत्त के प्रयोग की यह विधि निर्मित (सर्जित) की है। अब मैं नाट्यवेद की विधि के विषय में और क्या बतलाऊँ ? ॥ ३३० ॥

इस प्रकार भरत के नाट्यशास्त्र में ताण्डव-लक्षण नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अभिनव—एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से नाट्यात्मक प्रयोग की अपेक्षा उससे विलक्षण अन्य प्रकार देखा गया है तथा नाटक आदि में सामाजिक की तरह प्रयोक्ता के भी तन्मयीभाव होने के कारण नाट्य संस्कार की अपेक्षा करके अभिनय आदि की विधि देखी गई है। साक्षात्कारकल्प नाट्यरूपता यहाँ नहीं है। इसमें चार प्रकार के अभिनयों का अभाव होने से और रस एवं भाव की अप्रधानता होने से तथा नर्त्तकियों की वृद्धि होने से इसमें गीत, वाद्य एवं नृत्तों की प्रधानता है। काव्य में

---

१. ग. प्रयोक्तृभिः ।
२. ख. घ. भूयः किं कथ्यतां विप्रा नाट्ययोगविधिं प्रति ।
क-म. भूयः किं कथ्यतां विप्रा नाट्ययोगविधि प्रति ।
३ क. गमनापिण्डीबन्धप्रकारे ।

"रसभावदृष्टिहस्तशिर आद्यं यद्यङ्गं पूर्णं वाऽपूर्णं वा कृत (कुत) एव नाट्यनृत्तयोर्भेदस्तुल्यानुकारत्वे" इति हर्षवार्तिकम् ।

"शिक्षार्हस्वेच्छान्यनृत्तकतिपयनाट्याङ्गकृतं नृत्तमभ्यासफलम् ।" इति भट्टयन्त्रः ।

"समयमात्रमित्यादिमङ्गलवद्विवाहादौ" इति भट्टलोल्लटः ।

दशरूपकभेदवल्लास्यताण्डवप्रयोगो नाट्यभेद एव । तत्र पूर्णानुकाररूपत्वात् । तथाहि—प्रवेशेऽश्वत्थाम्नः सूचीविद्धोर्ध्वजान्वादि । पुरूरवसोऽलपल्लवसूची । गरुडप्लुतकम् । रावणस्य पुष्करो वैशाखरेचितकः । वत्सराजस्याग्निसम्भ्रमोऽतिक्रान्तः । जटायुषो गृध्रावलीनकमेलकाक्रीडितं चेति "चित्राभिनयेन वान्ये(बाल्ये) न करणप्रयोग एव । अभिनेयपदादीनां च नाट्येऽपि सक्तेति (सक्तेति)" नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्यः ।

वस्तु की अपेक्षा होने से नाट्य प्रस्तावनाप्राण प्रतिबिम्बरूप त्रिविध होने से मदमूर्च्छा आदि में तत्त्वापत्ति का अभाव होने से गीतक आदि का नियमतः अदृष्ट प्रयोग होने से और गीत आदि की प्रधानता से प्रयोग होने से कुलकादि रूप काव्य में गीति की आधारता आवश्यक होने से पिण्डीबन्ध भेद में वैचित्र्य के अन्त में नृत्तमात्र का विश्रान्ति होने से प्रयोक्ता एवं प्रवर्त्तयिता में दृष्ट फल की प्रधानता होने से नाट्य उससे विलक्षण है । यह एव शब्द का अर्थ है, यह उपाध्याय का मत है ।

हर्षवार्त्तिककार का मत है कि नाट्य और नृत्त में "रस, भाव, दृष्टि, हस्त, शिर आदि अङ्गों का पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप में अनुकरण किया जाता है तो नाट्य और नृत्त में तुल्य अनुकरण होने से नाट्य और नृत्त में भेद कैसे होता है ?"

भट्टयन्त्र का कथन है कि "शिक्षा, हर्ष स्वेच्छा से अभिनय किये गये कुछ नाट्य के अङ्गों से सम्पादित नृत्त अभ्यास का फल है ।"

भट्टलोल्लट कहते हैं कि "विवाह आदि में किये जाने वाले मङ्गल के समान नृत्त केवल समयाचार है", औपचारिक है ।

इस प्रकार दशरूपक के भेदों की तरह लास्य एवं ताण्डव नृत्त का प्रयोग नाट्य का एक भेद है । क्योंकि नाट्य में पूर्ण अनुकरण किया जाता है । जैसे—अश्वत्थामा के प्रवेश करने के समय सूचीविद्ध और ऊर्ध्वजानु चारी आदि का प्रयोग, पुरूरवा के अभिनय के समय अलपल्लव सूची, गरुड़ के अभिनय में गरुड़प्लुत करण, रावण के अभिनय के समय पुष्कर वाद्य एवं वैशाखरेचित करण, वत्सराज के अग्निसंभ्रम के समय अतिक्रान्त करण, जटायु के युद्ध में गृध्रावलीनक और एलकाक्रीडितक करणों का प्रयोग होता है । "चित्राभिनय के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से करणों का प्रयोग होता है । अभिनेय आदि पदों का प्रयोग तो नाट्य की तरह नृत्त में भी होता है" अतः नृत भी नाट्य ही है । यह कीर्तिधराचार्य का मत है ।

एतच्च (एवञ्च) स्वमतानुसारेण एवं शब्दार्थमाहुः। युक्तायुक्ता तत्र परीक्षका एव विदुरित्यलं बहुना।

प्रसङ्गाङ्गतया नृत्ततया(वार्त्तया) प्रसक्तानुसक्तत्वेन नृत्तगतमेवान्यत्किञ्चित्प्रसिद्धिः [1]प्रकृतनाटचगतानां मा विच्छेदीत्यभिप्रायेणाह—नाट्येति। नाटचमेव वेदस्तस्य यो विधिः प्रयोगस्तं प्रतीति शिवम् ॥ ३३० ॥

रविशशिहुतभुक्कल्पितनयनत्रयकिरणदलिततिमिरततिः।
अभिनवगुप्तस्ताण्डवविधिमेनं व्यवृणुत स्पष्टम् ॥ ४ ॥

इति माहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायामभिनवभारत्यां नाट्यशास्त्रविवृतौ ताण्डवविधानाध्यायश्चतुर्थः ॥

आचार्य ने इसे अपने मत के अनुसार एव शब्द का अर्थ कहा है। क्या युक्त है क्या अयुक्त ? इसे तो परीक्षक लोग ही जानते हैं, अतः बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है।

प्रसङ्गतः प्राप्त नृत्त की चर्चा से प्रसक्त और अनुप्रसक्त रूप में नृत्त के विषय में कुछ और प्रसिद्धि हो गई, किन्तु प्रकृत नाटचगत अर्थ विच्छिन्न न हो, इस अभिप्राय से कहते है—'नाटचवेद' इत्यादि। नाटच ही वेद अर्थात् नाटच रूपी वेद की जो विधि (विधान) है उसके प्रति क्या कहूं ? इति शिवम्।

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के रूप में कल्पित तीन नेत्रों की किरणों से नष्ट अज्ञानरूपी अन्धकार वाले अभिनवगुप्त ने इस ताण्डवविधि की स्पष्ट व्याख्या की है ॥ ४ ॥

इस प्रकार माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा रचित अभिनवभारती में नाटचशास्त्रविवृत्ति नामक व्याख्या में 'ताण्डविधान' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

विमर्श—यहाँ पर यह बताया गया है कि अभिनवगुप्त ने चतुर्थ अध्याय में ताण्डव नृत्त की विधि का स्पष्ट विवेचन किया है। अभिनवगुप्त के मन में जो अज्ञानरूपी अन्धकार था, वह सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूपी शिव के तीन नेत्रों के प्रकाश से नष्ट हो गया। अतः अज्ञानान्धकार के हट जाने से अभिनवगुप्त की बुद्धि निर्मल हो गई और उन्होंने अपनी निर्मल बुद्धि से ताण्डव नृत्त की स्पष्ट विवेचना की ॥ ३३० ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायामभिनवभारत्या मनोरमाख्यायां हिन्दीव्याख्यायां ताण्डवनृत्तविवेचनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा रचित नाटचशास्त्र और अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

१. प्रकृतगतता मा विच्छेदी०। प्रकृताविच्छेदीत्यभिप्रायेणाह।

पञ्चमोऽध्यायः

भरतस्य वचः श्रुत्वा नाट्यसन्तानकारणम्[1] ।
पुनरेवाब्रुवन्वाक्यमृषयो हृष्टमानसाः ॥ १ ॥

अभिनव-भारती

संसारनाट्यनिर्माणे याऽवकाशविधानतः ।
पूर्वरङ्गायते व्योममूर्ति तां शाङ्करीं नुमः ॥ ५ ॥

अध्यायसङ्गतिं कर्त्तुं पुराकल्पेनोपक्रमते—भरतस्येति ।

हिन्दी व्याख्या

पूर्वरङ्ग-विधान

अभिनव—जो मूर्त्ति संसाररूपी नाट्य के निर्माण में अवकाश विधान से पूर्वरङ्ग के समान आचरण करती है उस व्योमरूपी शिव की मूर्ति को हम प्रणाम करते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—यहाँ पर अभिनवगुप्त भगवान् शिव की व्योमरूपी मूर्त्ति की वन्दना की है । शिव की आठ मूर्त्तिया प्रसिद्ध हैं—जल, पृथ्वी, अग्नि, भूमि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान । इनमें व्योम अर्थात् आकाशरूप भी एक मूर्त्ति है । यहाँ पर संसार को एक नाटक बताया गया है । नाटक के विधान में (निर्माण) में पहिले पूर्वरङ्ग का विधान होता है । संसाररूपी नाटक के रचयिता भगवान् शिव हैं । अतः इस संसार रूपी नाटक के निर्माण में शिव की आकाशरूपा मूर्त्ति पूर्वरङ्ग के समान आचरण करती है । यहाँ पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग का विवेचन करने जा रहे हैं । इसलिए अभिनवभारतीकार आकाशरूपा शिव की मूर्त्ति की वन्दना करते हैं ॥ ५ ॥

अभिनव—अब पिछले अध्याय के साथ सङ्गति स्थापित करने के लिए इतिहास के द्वारा उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार नाट्य के विस्तार-विषयक भरतमुनि के वचन को सुनकर प्रसन्नचित्त ऋषियों ने फिर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

१. क-अ. नाट्यसन्तानलक्षणम् ।

नाट्यसन्तानम् । नाट्यस्य सन्तानं [1]नृत्तकथया विच्छेदाशङ्कानिरासेनाविच्छेदः । नाट्ये पृष्टे दैववशात् महाफलं नृत्तमिति तद्विवेकेन ज्ञातम् । तज्ज्ञानाच्च तद्विविक्तं नाट्यमपि सुष्ठु ज्ञातम् । तदनुरक्तं च नाट्यं हृदयावर्जकमिति हृष्टमानसत्वम् । [2]स्वगततत्वग्रहणधारणादिसामर्थ्यात्मकशिष्यसम्पद्दर्शनायां (दर्शनात्) गुरुप्रोत्साहनमित्यभिप्रायेणाहुः ॥ १ ॥

अभिनव—नाट्यसन्तान का अर्थ है नाट्य-विस्तार अर्थात् नृत्त कथा के विच्छेद की आशङ्का के निराकरण के द्वारा यहाँ अविच्छेद दिखाया गया है। नाट्य के विषय में प्रश्न किया गया और उसके विवेचन से महाफल वाले नृत्त का भी ज्ञान करा दिया। उस नृत्त का ज्ञान होने से उससे पृथक् नाट्य का भी अच्छा ज्ञान हो गया और उससे अनुरक्त नाट्य हृदय का आवर्जक (आकर्षक) है, इसलिए हृष्टमानस अर्थात् प्रसन्नचित्त कहा गया है। शिष्य में स्वगत तत्त्व को ग्रहण और धारण करने का सामर्थ्य होने पर गुरु को प्रोत्साहन मिलता है, इस अभिप्राय से 'हृष्टमानस' कहा गया है ॥ १ ॥

विमर्श—चतुर्थ अध्याय में नृत्त के उपयोगी करणों, अङ्गहारों, रेचकों और पिण्डीबन्धों के लक्षण एवं स्वरूप निरूपण करने के साथ-साथ उसके उपयोगी वर्धमान, आसारित आदि गीतों के स्वरूपों का भी विवेचन किया गया है। यहाँ उसकी सङ्गति दिखाते हैं। नाट्य के विस्तार का कारण नृत्त है। यहाँ पर नृत्त की चर्चा का विच्छेद न हो जाय, इस शङ्का का निराकरण करने हेतु 'सन्तानविच्छेदकारण' कहा गया है। मुनियों ने नाट्य के विषय में प्रश्न पूछा था, किन्तु उसके साथ साथ नृत्त का विवेचन कर दिया गया और नृत्त का सम्यग् ज्ञान होने से नाट्य का भी ज्ञान हो गया। नृत्य से अनुरक्त नाट्य हृदय का आवर्जक होता है अर्थात् नाट्य में जब नृत्य का प्रयोग होता है तो नाट्य रञ्जक हो जाता है, इसलिए ऋषियों को प्रसन्नमानस कहा गया है। ऐसा देखा जाता है कि यदि शिष्य में तत्त्वों को या उपदेशों को ग्रहण करने तथा धारण करने की शक्ति होती है तो गुरु का उत्साह बढ़ता है यहाँ ऋषिगण शिष्य हैं और ब्रह्मा गुरु। ऋषियों ने ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट नाट्यविद्या को अच्छी तरह ग्रहण कर लिया। इसीलिए वे प्रसन्नचित्त थे। उन्होंने फिर ब्रह्मा से पूर्वरङ्ग के सम्बन्ध में प्रश्न किया ॥ १ ॥

---

१. क. नृत्तकया।

२. स्वगतत्वग्रहण।

यथा नाटचस्य [1]जन्मेदं जर्जरस्य च सम्भवः।
विघ्नानां [2]शमनं चैव देवतानां च पूजनम् ॥ २ ॥
[3]तदस्माभिः श्रुतं सर्वं गृहीत्वा चावधारितम्।
[4]निखिलेन यथातत्त्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ ३ ॥
पूर्वरङ्गं [5]महातेजः सर्वलक्षणसंयुतम्।
यथा बुद्धयामहे ब्रह्मंस्तथा व्याख्यातुमर्हसि । ४ ॥

यथेति। (तथेति)। पूजामध्य एव नृत्तं प्रविष्टमित्यध्यायचतुष्टयतात्पर्यं प्रत्यनुभाषितम्। ऊहापोहविज्ञानादिकमपि दर्शयन्ति—गृहीत्वेति। चकारात् धारयित्वाऽवधारितं निश्चितम्। निखिलेन साकल्येनेति। यथातत्त्वमिति तत्त्वादिनिवेशम्। आहुः पूर्वरङ्गं वेदितुमिच्छाम इति जिज्ञासा दर्शिता। यथा सर्वलक्षणसंयुक्तं बुध्यामहे तथा व्याचक्ष्वेति [6]व्याख्याप्रकारविषयेऽप्याचार्यान्विषणम्। महत्तेजो ज्ञानात्मकमस्य तत्। आमन्त्रणं गुरुप्रोत्साहनार्थम्।

अनुवाद—जिस प्रकार नाटच का जन्म हुआ, जिस प्रकार जर्जर की उत्पत्ति हुई और जिस प्रकार विघ्नों का शमन किया गया तथा जिस प्रकार देवताओं का पूजन करना चाहिए, यह सब मैंने सुन लिया है और समझ कर धारण कर लिया है। अब हम लोग समस्त लक्षणों से युक्त सम्पूर्ण पूर्वरङ्ग-विधान को याथातथ्य रूप में जानना चाहते हैं। अतः महातेजस्वी हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार हम समझ सकें, उस प्रकार आप व्याख्या करें ॥ २-४ ॥

अभिनव-यथेति—पूजा के निरूपण के मध्य ही नृत्त का प्रवेश हो गया है, इस प्रकार चार अध्यायों के तात्पर्य को पुनः कह दिया है। अब उहापोह 'तर्क-वितर्क' विज्ञान आदि को दिखाते हैं—'गृहीत्वा' अर्थात् 'ग्रहण करके इत्यादि के द्वारा। चकार से धारण करके निश्चित किया यह अर्थ अभिप्रेत है। 'निखिल' पद का अर्थ हैं सम्पूर्ण रूप से। 'यथातत्त्व' का अर्थ है तत्त्वादिनिवेश। 'आहुः' पद से 'पूर्वरङ्ग के विधान को जानना चाहते हैं' इस प्रकार जिज्ञासा दिखाई गई है। 'जिस प्रकार हम लोग समस्त लक्षणों से युक्त पूर्वरङ्ग को अच्छी तरह समझ जाँय उस प्रकार व्याख्या करिये' इस कथन से यह घोषित होता है कि व्याख्या के प्रकार के विषय में आचार्यों

१. ख. घ. यथा नाटचस्य वै जन्म।
२. क-भ. गमनम्। क-प. शामनम्।
३. ख. घ. त्वत्तः श्रुतं गृहीतं च। क-अ. तन्नः श्रुतम्।
४. क-घ. निखिलं तु। ५. क-ज. महातेजाः।
६. क-म. व्याख्याप्रकारविषयमप्याचार्यान्विषणम्।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच [1]पुनर्वाक्यं पूर्वरङ्गविधिं प्रति ॥ ५ ॥
पूर्वरङ्गं महाभागा [2]गदतो मे निबोधत ।
पादभागाः कलाश्चैव [3]परिवर्तास्तथैव च ॥ ६ ॥

"पूर्वरङ्गे कृते पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमाः ॥" (ना. शा. ४-१०)
इति जिज्ञासादर्शनपूर्वप्रयोज्यतया तथैव जिज्ञासा जाता ।
"पूर्वरङ्गविधावस्मिंस्त्वया सम्यक्प्रयुज्यताम् ॥" (ना. शा. ४-१४) इति ।
"यस्त्वयं पूर्वरङ्गस्तु त्वया शुद्धः प्रयोजितः ।" (४-१५)
इति परमेश्वरादरवचनेन सुष्ठुतरां द्रढीकृता । तथैव तावदवश्योपासनीयेति तात्पर्यम् ॥ २-४ ॥

का अन्वेषण करना चाहिए । जिसका ज्ञानात्मक तेज महान् होता है उसे 'महत्तेजः' कहते हैं । यह आमन्त्रण गुरु के प्रोत्साहन के लिए है ।

"हे द्विजश्रेष्ठ ! वहाँ पहिले पूर्वरङ्ग, का प्रयोग कर लिये जाने पर तब अभिनय प्रारम्भ किया ।" (ना० शा० ४।१०) ।

":इस पूर्वरङ्ग के विधान में तुम अङ्गहारों का अच्छी तरह प्रयोग करो ।" (ना० शा० ४।१४) ।

"जो कि यह तुमने शुद्ध पूर्वरङ्ग का प्रयोग बताया है" (ना० शा९ ४।१५) इस प्रकार परमेश्वर के आदर सूचक वचन से यह जिज्ञासा दृढ़ हो गई । उसी प्रकार गुरु के विषय में अवश्य जिज्ञासा करनी चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ २-४ ॥

विमर्श—ऋषियों ने नाट्य एवं जर्जर की उत्पत्ति, विघ्नों के शमन, नाट्यमण्डल के निर्माण तथा देवताओं के पूजन आदि का उल्लेख करके गत तीन अध्यायों के वर्ण्य विषय का सङ्केत किया है। चतुर्थ अध्याय का सङ्केत इस अध्याय के प्रारम्भ में कर दिया गया है । उस विषय-विस्तार को ऋषियों ने सुन लिया और तर्क-वितर्क करके उसे अच्छी तरह समझकर ग्रहण कर लिया है । अब पञ्चम अध्याय में समस्त अङ्गों के साथ पूर्वरङ्ग विधान की चर्चा करेंगे ॥ २-४ ॥

अनुवाद—उन मुनियों के वचन को सुनकर भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग के विधान के विषय में फिर उत्तर दिया ॥ ५ ॥

अनुवाद—हे महाभाग ! मेरे द्वारा कहे जाते हुए पूर्वरङ्ग विधान, पादभाग, कला और परिवर्त्त को सुनिये ॥ ६ ॥

१. क-म. ततो वाक्यम् ।
२. क-म. वदतो ।
३. घ. परिवर्तस्तथैव च ।

[1]यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं[2] पूर्वमेव प्रयुज्यते ।
[3]तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

गदत इति शब्दमात्रेण तावन्निरूपयत इत्यर्थः। आश्रवणादिस्वरूपं हि गेयाधिकारे (ना. शा. २९) सम्यक् निर्णेष्यते। अनादरे षष्ठी। [5]निगदन्तमनादृत्य स्वबुद्धया बुद्धयध्वम्। यद्यपि मयाऽत्र क्रमेण [6]नैतदुक्तं गेयाधिकारस्यापि सुदूरत्वात्। तथापि 'यस्य येनार्थसम्बन्ध' इत्यर्थक्रम आदर्तव्यो न शाब्द इति [7]गदनक्रमानादरणं गदितरि सङ्क्रमय्योक्तम्।

तत्र पूर्वरङ्गशब्दं निरुक्त्या तावद्व्याचष्टे—पदभागः इत्यादिना। इह बहिर्यवनिकाङ्गान्येव पूर्वरङ्गः। तानि च गीतकानीत्युत्थापनानि ध्रुवारूपाणि। तत् द्विकलचञ्चत्पुट-चाचपुटतालेन विशिष्टगतिगतेनेति तदेव पूर्वरङ्ग

अनुवाद—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! क्योंकि यह नाट्यप्रयोग रङ्ग (रङ्गमञ्च) पर सबसे पहिले किया जाता है इसलिए इसे 'पूर्वरङ्ग' कहा जाता है ॥ ७ ॥

अभिनव—'गदतः' का अर्थ है शब्दमात्र से निरूपण करना। आश्रवणा आदि के स्वरूप का निर्णय गेयाधिकार में अच्छी तरह करेंगे। 'गदतः' में अनादर अर्थ में षष्ठी विभक्ति है अर्थात् गेयधिकार में कहे हुए का अनादर करके अपनी बुद्धि से समझो। यद्यपि मैंने यहाँ इसे क्रम से नहीं कहा है और जहाँ गेयाधिकार में निरूपण करेंगे वह बहुत दूर है। फिर भी 'जिसका जिस अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है उसका उसके साथ अन्वय करना चाहिए' इस नियम के अनुसार इस अर्थक्रम का आदर करना चाहिए, शाब्दक्रम का आदर नहीं करना चाहिए। कथनक्रम (कहे हुए क्रम) का अनादर करना चाहिए था किन्तु यहाँ वक्ता में सङ्क्रान्त करके कहा गया है। भाव यह कि मेरे द्वारा कहे हुए क्रम का तिरस्कार (उपेक्षा) करके जिसका जिसके साथ अन्वय ठीक बैठे उसका उसके साथ अन्वय करना चाहिए, किन्तु यहाँ पर इस कथनक्रम का अनादर वक्ता में समाहित कर दिया है अर्थात् वक्ता के कथन का अनादर करके यह अर्थ लिया गया है जो ठीक नहीं है।

---

१. ख-घ-ग. यस्माद्रङ्गप्रयोगोऽयं। क-ट. यः स्याद्रङ्गप्रयोगोऽयं। क-अ. कस्माद्रङ्गप्रयोगोऽयं।
२. ख. पूर्वमेव प्रयोज्यते। क-अ. सर्वमेतत्प्रयुज्यते। क-न. पूर्वमेव प्रयोक्तृभिः।
३. ख. घ. तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयोऽत्र द्विजोत्तमाः।
क-न. पूर्वरङ्गो ह्ययं तस्माद्विज्ञेयो द्विजसत्तमाः।
५. क. गदितमनादृत्य ६. क. क्रमेणैतदुक्तम्।
७. क. गमनक्रमानादरणम्।

इति तावत्तात्पर्यम । तत्र मात्राया: य: षोडशो भाग: तदारब्धा मात्रा । तदारब्धं वस्तु । एवं वस्तुनिबन्धेषु गीयमानं तावत्स्वीकृतम् । भागश्च द्विकलचतुष्कलयोर्मार्गस्य चञ्चत्पुटादीनां सङ्गाद्भवति । यथाऽक्षरेषु तु चञ्चत्पुटादिषु कलाविभागलग्ना इति यथाऽक्षरमार्ग: कलाग्रहणेन सङ्गृहीत: । यथाक्षरद्विकलचतुष्कलतया सर्वमेव गीतकवर्धमानादि गानं गीयमानं गेयं (मेयं) रूपं सङ्गृहीतम् । कलाशब्देन च सप्तविधा तालकला निष्कामादिरुच्यते । तया समस्तो मानात्मकस्तालमार्गो गृहीत: । भिन्नार्थानामपि च सरूपाणामेकशेष: । पादा इत्यादि । एवं परिवर्तन्त इति परिवर्ता: । द्विसङ्ख्यातत्रिसङ्ख्यातादिषु परिवर्तै: (परिचितै:) सकलेतिकर्तव्यता परिगृहीता । चकारात्केवलं तन्त्र्यादि । एवकारेण केवलप्रयोग: । तथाशब्देनाङ्गाङ्गिभावप्रयोगो यथायोगं दर्शित: ।

अब यहाँ पूर्वरङ्ग शब्द की निरुक्ति के द्वारा व्याख्या करते हैं–'पादभाग इत्यादि'। यहाँ पर यवनिका के बाहर के अङ्गों को पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत माना है और वे गीतक उपस्थापन आदि ध्रुवा रूप हैं । वे द्विकल चञ्चत्पुट और चाचपुट ताल विशिष्ट गीतों में रहते हैं अर्थात् विशिष्ट गीतों में इनका प्रयोग होता है, वही पूर्वरङ्ग है । यह उसका तात्पर्य है । उनमें मात्रा का जो सोलहवाँ भाग है उससे मात्रा बनती है और उससे वस्तु बनती है । इस प्रकार वस्तु के निबन्धन में गीयमान गीत को स्वीकार किया गया है और पादभाग द्विकल एवं चतुष्कल मार्ग के चञ्चत्पुट आदि तालों के संसर्ग से बनता है अर्थात् चञ्चत्पुटादि तालों के द्विकल एवं चतुष्कल के प्रयोग से पाँच भाग माना जाता है । जैसे चञ्चत्पुट आदि तालों में प्रयुक्त अक्षरों में मात्राओं के योग से पादभाग बनता है । इस प्रकार कला के ग्रहण से यथाक्षरमार्ग का ग्रहण हो गया। इस प्रकार यथाक्षर अर्थात् एककल, द्विकल और चतुष्कल से सभी वर्धमान आदि गीतों के गेय रूप का सङ्ग्रह हो गया । कला शब्द से निष्क्राम आदि सात प्रकार की तालकलाएँ कही गई हैं । इससे अर्थात् कला शब्द से समस्त मानात्मक तालमार्गों का ग्रहण हो गया । समान रूप वाले शब्दों का भिन्न अर्थ होने पर भी एकशेष हो जाता है । 'पाद' इत्यादि । इस प्रकार जो परिवर्त्तित होते हैं उन्हें परिवर्त्त कहते हैं । द्विसंख्यात त्रिसंख्यात, आदि परिवर्त्तों से समस्त इतिकर्त्तव्यता का ग्रहण हो गया । 'तथैव च' में चकार से केवल तन्त्री आदि वाद्यों का ग्रहण होता है। एवकार से केवल प्रयोग का ग्रहण होता है और 'तथा' शब्द से यथायोग अङ्गाङ्गिभाव का प्रयोग दिखला दिया है। द्वितीय एवकार के प्रयोग से नाट्य के अङ्गों को सूचित कर दिया गया है। द्वितीय चकार से पाठ्य आदि और नृत्त को

द्वितीयेनैवकारेण नाटचाङ्गता सूचिता। द्वितीयेन चकारेण च पाठचादि नृत्तं च। तेन गीततालवाद्यनृत्तपाठचं व्यस्तसमस्ततया प्रयुज्यमानं यन्नाटचाङ्गभूतं स पूर्वरङ्ग इत्युक्तं भवति। यः स्याद्रङ्गे मण्डपे आधारे नाटचे वा रङ्गे बुद्धिस्थे भविष्यति। युज्यत एव च पूर्वम्। प्रत्याहारादिकेन ह्यङ्गेन विना गायनादिसामग्र्यसम्पत्तेः कथं नाटचप्रयोगः। न ह्यहो (ह्येव) किल तन्तुतुरीवेमादेः विना शक्यः पटः कर्त्तुम्। केवलं प्राङ्मुखान्नभोजनवन्नियमप्रयोजनत्वेऽपीति[1] वक्ष्यते। तेन पूर्वो रङ्गे पूर्वरङ्गः। सुप्सुपेति समासः राजदन्तादित्वाद्वा परनिपातः।

श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाटचाङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरङ्गतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रङ्ग इति समासममंस्त। यदाह—

"दृष्टा [2]येऽवस्थार्थे नाटचे रङ्गाय [3]पादभागाः स्युः।
पूर्वं त एव तु यस्मिन् शुद्धाः स्युः पूर्वरङ्गोऽसौ॥" इत्यादि।

सूचित किया गया है। इससे समस्त और व्यस्त रूप से प्रयोग किये जाने वाले गीत, ताल, वाद्य, नृत्त, पाठ्य आदि नाट्य के अङ्गभूत हैं वह पूर्वरङ्ग होता है, यह कहा गया है। जो रङ्ग में अर्थात् आधारभूत मण्डप में अथवा नाट्य में अथवा बुद्धिस्थ रङ्ग में पहिले (पूर्व में) प्रयुक्त होता है, इसलिए उसे पूर्वरङ्ग कहा जाना उचित है। क्योंकि प्रत्याहार आदि अङ्गों के विना गायन आदि सामग्री पूर्ण नहीं होगी तो नाट्य प्रयोग कैसे होगा ? तन्तु, तुरी, वेमा आदि के विना पट का निर्माण नहीं किया जा सकता। केवल पूर्वाभिमुख होकर अन्न का भोजन करना चाहिए इस नियम के समान इसका पहिले प्रयोग किया जाता है इसलिए इसे पूर्वरङ्ग कहते हैं। यहाँ 'सुप्सुपा' सूत्र से समास होता है और 'राजदन्तादिषु परम्' सूत्र से 'रङ्ग' का परनिपात हो जाता है। (पूर्वा रङ्गे यः पूर्वरङ्गः)।

श्रीहर्ष तो रङ्ग शब्द का तौर्यत्रिक अर्थ लेते हुए नाट्यप्रयोग के अङ्गभूत उसी (तौर्यत्रिक) को ही पूर्वरङ्ग मानते हुए 'पूर्वश्चासौ रङ्गः' (रङ्ग का पूर्वभाग जो हो वह पूर्वरङ्ग है) इस प्रकार समास माना है। जैसाकि कहा गया है कि—

"नाट्य में अवस्था विशेष के अर्थ में रङ्ग के लिए जो पादभाग देखे गये हैं वे जहाँ पर पूर्व में शुद्ध (स्पष्ट) प्रयोग किये जाँय, वह पूर्वरङ्ग है।" इत्यादि।

---

१. क. नियमप्रयोजनत्वमपीति।

२. क. येऽवस्त्वर्थे।

३. क-म. भ. पादभङ्गाः।

रङ्गस्य पूर्वो भाग इति त्वसत्। न ह्ययं मण्डपस्यैकदेशः। नापि नाटचस्य। नह्ययं भावानुकीर्तनात्मकव्याख्यानानुकारस्वभावः। अपि तु शिक्षादिवत्पारमार्थिक एव प्रयोगसम्पत्युपकरणभूतो भोजनादितुल्यः प्रत्याहारादिरर्थः। नृत्तमप्यत्र वैचित्र्यकारित्वेन प्रविशत् "नाटचरूपगतं नृत्तम्" इत्यङ्कुरसूचितनृत्तन्यायेनानुकारधुरारोहि। अपि तु देवतापरितोषणफलं [1]धूपविलेपनादिदानवत् सत्यमेवेति पूर्वो रङ्ग इत्येष एव समासः॥ ६-७॥

इस प्रकार जो रङ्ग का पूर्व भाग है वह पूर्वरङ्ग है, ऐसा जो कहते हैं वह ठीक नहीं है। क्योंकि यह मण्डप का एकदेश नहीं है और न नाट्य का अङ्ग है और न यह भावानुकीर्त्तन रूप व्याख्यान का अनुकरण रूप है। अपि तु शिक्षा आदि के समान पारमार्थिक है और नाट्यप्रयोग की सम्पत्ति के उपकरणभूत भोजनादि के समान प्रत्याहार आदि अर्थ हैं। नृत्त भी यहाँ पर वैचित्र्यकारी के रूप में प्रविष्ट है "नृत्त नाट्यरूप है' इस प्रकार 'अङ्कुर, शाखा और नृत्त ये अभिनय रूप वस्तु के अङ्ग हैं' इस न्याय से नृत्त अनुकार (अनुकरण) की धुरी अर्थात् अनुकरण रूप नाट्य का अङ्ग है और भी देवता के परितोष रूप फल धूप, नैवेद्य, चन्दन आदि विलेपन आदि के समान सत्य ही है, इसलिए 'पूर्वो रङ्गः' यह समास किया जाता है॥ ६-७॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्वरङ्ग शब्द की व्याख्या करते है। पूर्वरङ्ग के साथ पादभाग, कला तथा परिवर्त्त की भी चर्चा की गई है। मात्राओं के योग से पादभाग बनता हैं। नाटचशास्त्र में तीन प्रकार के मार्ग बताये गये हैं—चित्र, वार्त्तिक और दक्षिण। चित्रमार्ग में दो मात्राओं से, वार्तिक में चार मात्राओं से तथा दक्षिण में आठ मात्राओं से पादभाग बनता है। इसप्रकार चित्रमार्ग में एककल, वार्त्तिकमार्ग में द्विकल तथा दक्षिणमार्ग में चतुष्कल ताल का प्रयोग होता है। शार्ङ्गदेव ने भरतोक्त तीन मार्गों के अतिरिक्त ध्रुवनामक एक और मार्ग माना है। ध्रुवमार्ग में एक मात्रा की कला होती है। मतङ्ग ने शून्यमार्ग का भी उल्लेख किया है। शून्यमार्ग में अर्द्धमात्रा (द्रुत) की कला होती है। पाँच निमेष के बराबर समय को कला कहते हैं (**निमेषः पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम् ना० शा०। ४-५**)। अभिनवगुप्त ताल के मात्राकाल को कला कहते हैं। सशब्द और निःशब्द क्रियाएँ कला कहलाती हैं। तालभाग को भी कला कहते हैं। गुरु (ऽ) कला का पर्याय है। कला के तीन रूप हैं—एककल, द्विकल और चतुष्कल। भरत ने एककल को यथाक्षर नाम से अभिहित किया है। शार्ङ्गदेव ने भी यथाक्षर को एककल कहा है। उनके अनुसार प्रत्येक अक्षर पर एक-एक क्रिया होने पर यथाक्षर कहलाता है। यहाँ पर कला शब्द से सप्तविध तालों का ग्रहण होता है। द्विकल त्रिकल, चतुष्कल, षट्कल, द्वादशकल, अष्टचत्वारिंशत्कल और षण्णवतिकल ये सप्तविध ताल कलाएँ कही जाती हैं।

१. क. धूपविलेपनादिवत्।

परिवर्त्त का अर्थ परिवर्त्तन है। पादभागादि से युक्त ताल का दुहराया जाना या या आवृत्ति 'परिवर्त्त' कहलाता हैं। अभिनव ने यवनिका के बाहर के प्रयोगों को पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत माना है। वस्तु के निबन्धन में त्र्यस्र चाचपुट और चतुरस्र चञ्चत्पुट तालों का प्रयोग होता है। चाचपुट ताल में छः अक्षर और छः मात्राएँ होती हैं और चञ्चत्पुट ताल में आठ अक्षर और आठ मात्राएँ होती हैं। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं–एककल, द्विकल और चतुष्कल। चाचपुट ताल के कलाभेद के अनुसार त्रिकल, षट्कल, द्वादशकल, चतुर्विंशतिकल अष्टचत्वरिंशत्कल और षण्णवतिकल ये छः प्रकार होते हैं और चञ्चत्पुटताल के कला- प्रस्तार से चतुष्कल, अष्टकल और षोडशकल ये तीन भेद होते हैं। इस प्रकार कला के भेद से दोनों के नौ भेद होते हैं। द्विसंख्यात, त्रिसंख्यात आदि गीतों में परिवर्त्तों से समस्त इतिकर्त्तव्यता का ग्रहण होता है। आसारित गीत के तीन भेद होते हैं—यक्षाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात (**यथाक्षरं द्विसंख्या तंत्रिसंख्यातमथापि च**)। यक्षाक्षर एक कल होता है। इसमें अक्षरों की आवृत्ति नहीं होती। द्विसंख्यात में वर्णो की आवृत्ति दो बार और त्रिसंख्यात में तीन बार होती है। यक्षाक्षर का गान द्विकल एवं चित्रमार्ग में, द्विसंख्यात का गान चतुष्कल वार्तिक मार्ग में और त्रिसंख्यात का गान अष्टकल दक्षिणमार्ग में किया जाता है। इस प्रकार गीत, ताल, वाद्य, नृत्त, पाठ्य का प्रयोग नाट्य के अङ्ग के रूप में जहाँ किया जाता है वह पूर्वरङ्ग हैं।

अभिनवगुप्त ने भरतोदित पूर्वरङ्ग के व्याख्यान के समर्थन में हर्ष और वार्त्तिककार के मतों को उद्धृत किया है। अभिनव पूर्वरङ्ग शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः' अर्थात् जो रङ्ग पर पहिले (पूर्व) प्रयुक्त हो वह पूर्वरङ्ग है। यहाँ पर 'सुप्सुपा' सूत्र से समास होकर 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्र से 'रङ्ग' पद का परनिपात होता है। हर्ष रङ्ग शब्द का अर्थ तौर्यत्रिक मानते हैं और पूर्वरङ्ग शब्द में 'पूर्वश्चासौ रङ्गः' इस प्रकार कर्मधारय समास मानकर पूर्वरङ्ग शब्द का अर्थ गीतनृत्तवाद्यादि का प्रयोग ही पूर्वरङ्ग है, इस प्रकार करते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त उक्त व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि यह मण्डप का कोई एकदेश भाग नहीं है और न नाट्य का अङ्ग है और न अनुकरण रूप है। धूप, चन्दन आदि के लेप से देवतुष्टि के समान लौकिक-अलौकिक फलरूप कार्य होने से यहाँ पर 'पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः' यह व्याख्यान ही युक्तिसंगत है। इस प्रकार नाट्यप्रयोग के पूर्व सम्पन्न होने वाली विधियों को 'पूर्वरङ्ग' कहते हैं। अभिनव ने पूर्वरङ्ग-विधान की तन्तु और पट से तुलना की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार तन्तु के संयोग से पट की रचना होती है। उसी प्रकार प्रयोक्ता गीतवाद्यादि रूप सूत्र से संयुक्त कर नाट्य का प्रयोग करता है और वह प्रयोग सामाजिकों को आह्लादित करता है॥ ६-७॥

अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः ।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा ॥ ८ ॥
प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च ।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥ ९ ॥
सङ्घोटना ततः कार्या [1]मार्गासारितमेव च ।
[2]ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥ १० ॥
एतानि तु[3] बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च[4] ॥ ११ ॥
[5]ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघट्य[6] वै यवनिकां [7]नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ १२ ॥

ननु प्रत्याहाराद्यङ्गसमूहः पूर्वरङ्गः । तत्कथमुक्तं गीतादिः पूर्वरङ्ग इत्याशङ्क्याह—अस्याङ्गानि त्वित्यादि पूर्वरङ्गे भवन्ति हीत्यन्तेन श्लोकसप्तकेन सार्धेन महाकाव्यं (महावाक्यम्) ।

अब प्रश्न यह है कि जब प्रत्याहार आदि अङ्गों का समूह पूर्वरङ्ग है तो गीतवाद्यादि को पूर्वरङ्ग क्यों कहा गया है ? इस प्रकार शङ्का करके 'अस्याङ्गानि' यहा से लेकर 'पूर्वरङ्गे भवन्ति हि' यहाँ तक साढ़े सात श्लोकों में महाकाव्य को कहते हैं—

अनुवाद—इस पूर्वरङ्ग के अङ्गों (प्रत्याहारादि अङ्गों) को यथावत् क्रम से तन्त्री तथा भाण्डवाद्यों के संयोग से तथा पाठ्य आदि के योग के साथ प्रयोग करना चाहिए ॥ ८ ॥

अनुवाद—पूर्वरङ्ग विधि को कहते हैं कि क्रमशः प्रत्याहार, अवतरण, अश्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, सङ्घोटना, मार्गासारित और ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ आसारित इन अङ्गों का यवनिका के भीतर बिना गीतों के अथवा इन बहिर्गीतों का यवनिका के अन्दर तन्त्री और भाण्डवाद्यों के साथ प्रयोक्ताओं को प्रयोग करना चाहिए ॥ ९-११ ॥

---

१. ख मार्गोत्सारितमेव च ।
२. ख. घ. ज्येष्टमध्यकनिष्ठा च तथैवासारितक्रिया ।
३. ख घ. च । ४. ख. घ. तु ।
५. ख. घ. ततश्च सर्वकुतपैर्युक्तान्यन्यानि कारयेत् । ६. ख. घ. विघाट्य ।
७. ग. वृत्तपाठ्यकृतानि तु । ख. घ. नृत्यपाठ्यकृतानि च ।

गीतानां [1]मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम् ।
[2]वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते[3] ॥ १३ ॥
ततश्चोत्थापनं कार्यं [4]परिवर्तनमेव च ।
नान्दी शुष्कावकृष्टा[5] च रङ्गद्वारं तथैव च ॥ १४ ॥
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च ।
[6]त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ॥ १५ ॥

तुर्हेतौ । लक्षिष्यमाणानि प्रत्याहारादीन्यासारितान्तानि अन्तर्यवनिकाङ्गानि [7]नव प्रयोज्यानि । यानि च यवनिकाया बहिर्गीतकप्रयोगादीनि प्ररोचनान्तानि दश तानि; [8]सर्वाण्यपि पादभागाद्युपलक्षितादिरूपस्योक्तस्य सम्बन्धित्वेन यस्मात्कार्याणि तस्मात् पादभागादिरेव पूर्वरङ्ग इति पूर्वेण सम्बन्धः । अङ्गानां न्यूनाधिकभावे हि भूयांसः पूर्वरङ्गभेदाः । ते च गेयाधिकारे (ना.शा. २६) दर्शयिष्यन्ते । इह [9]तूद्दिश्यमानास्तन्त्रभावानभिज्ञानामसम्प्रमोहफला एव ।

अनुवाद—इसके बाद यवनिका को हटाकर समस्त वाद्यों के साथ तथा नृत्य और पाठ्य का संयुक्त प्रयोग करना चाहिए । फिर मद्रक आदि गीतों में से किसी एक गीत का प्रयोग करना चाहिए और जहाँ पर ताण्डव का प्रयोग किया जाय वहाँ वर्धमानक गीत की योजना करे । फिर उसके बाद क्रमशः उत्त्थापन, परिवर्त्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्ट, रङ्द्वार, चारी तथा महाचारी का प्रयोग करना चाहिए और इसी प्रकार पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत त्रिक और प्ररोचना का भी प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ १२-१५ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'तु' शब्द हेतु अर्थ में है। जिनका लक्षण आगे कहा जायगा, ऐसे प्रत्याहारादि से लेकर आसारित पर्यन्त नौ अङ्गों को यवनिका के अन्तर्गत प्रयोग करना चाहिए और जो यवनिका के बाहर गीतक प्रयोग से लेकर प्ररोचना पर्यन्त दश अङ्ग हैं। उन सबका पादभाग, कला आदि से उपलक्षित पूर्वरङ्ग के सम्बन्धी रूप होने से जिस प्रकार प्रयोग किया जाता है उस प्रकार पादभाग आदि ही पूर्वरङ्ग है, इस प्रकार पूर्व से इनका सम्बन्ध है। अङ्गों के न्यूनाधिकभाव होने से पूर्वरङ्ग के बहुत से भेद हो सकते हैं। वे सब गेयाधिकार नामक २९ वें अध्याय में दिखाये जाँयगे। यहाँ पर तो उनका नाममात्र से कथन किया जायगा, इससे तन्त्र (शास्त्र) को न जानने वाले को अज्ञानवश कोई मोह या भ्रम नहीं होगा।

---

१. ख. गीतानां मुद्रकादीना योज्यं तु गीतकम् । २. क-त. वर्धमानं तथापीह ।
३. क-अ. योज्यते । ४. ख. परिवर्तकमेव च ।
५. ख. घ. नान्दी शुष्कापकृष्टा । ६. क-त. न. अ. त्रिगतं प्ररोचना च ।
७. ब म. अन्तर्यवनिकाङ्गान्येव प्रयोज्यानि । ८. क. सर्वाण्यपरभागाद्युपलक्षितादि० ।
९. क-भ. म. इह तु दृश्यमानास्तन्त्रभावानभिज्ञानां सम्प्रमोहफला ।

उक्तं च वार्तिके-"[1]बुद्धाय षट्कं चेदिह रङ्गभेदः। न तु प्रत्याहारावतरणे। आद्ये (आद्यो) रङ्गद्वारादीनि। पाश्चात्यानि च पादभागाद्यारब्धानि" इति। सत्यम्। किन्तु समुदितत्वे नात्र रङ्गता रमणीयभावः सम्बन्धः। अपि तु सद्भावमात्रम्। तच्च सर्वत्रैव विद्यत इति वक्ष्यते। तदाह—यस्मादेतानि पूर्वरङ्गे संभवन्ति तस्मादस्य संबन्धित्वेन कार्याणि।

तत्र यवनिका रङ्गपीठतच्छिरसोर्मध्ये। तस्या अन्तरागतैः प्रयोक्तृभिर्नटैः प्राधान्यात् यदि वा वैणिकादिभिरेव प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि प्रत्याहारादीनि। [2]गीतकपाठ्यादीनि तु यवनिकायामपसारितायां गीतानामित्यादिना श्लोकेन गीतकवर्धमानान्यतरप्रयोग उक्तः। अन्ये तु अथापि स्थाने (ना० शा० ५।१३) अतोऽपीति पठन्त उभयप्रधानमनुजानते। तच्चान्त्यपदार्थेन विरुद्धम्। निर्देशविधौ चैकमेवाङ्गं भविष्यति। न तु द्वे।

"कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा।" (ना शा. ५-२१) इति।

जैसाकि वार्त्तिक में कहा गया है—

"पूर्वरङ्ग के जो छः भेद हैं, उनका प्रयोग प्रत्याहार, अवतरण से प्रारम्भ करके नहीं अर्थात् पूर्वरङ्ग के उन छः भेदों का प्रयोग प्रत्याहार आदि से क्रमशः प्रारम्भ नहीं किया जाता, अपितु रङ्गद्वार से आरम्भ किया जाता है और बाद में पादभाग आदि से भी आरम्भ किया जाता है" यह ठीक है। किन्तु यहाँ समुदाय में रमणीय भाव सम्बन्ध नहीं रहेगा, अपितु केवल सद्भाव रहेगा। वह तो सभी जगह विद्यमान है, यह आगे कहेंगे। इसलिए कहते हैं कि क्योंकि ये सब पूर्वरङ्ग में होते हैं इसलिए उसके सम्बन्धी के रूप में करना चाहिए।'

वहाँ रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष के मध्य में यवनिका की व्यवस्था करनी चाहिए, क्योंकि उसके भीतर प्रयोक्ता नटों के द्वारा अथवा वेणुवादक आदि के द्वारा प्रधान रूप से प्रत्याहार आदि अङ्गों का प्रयोग करना चाहिए। गीत, पाठ्य आदि में तो यवनिका के पर्दे उठ जाने पर 'गीतानाम्' इत्यादि श्लोक में कहे गये गीतक अथवा वर्धमानक में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिए। दूसरे लोग तो 'वर्धमानमथापीह' इस अंश के 'अथापि' के स्थान पर 'अतोऽपि' पाठ मानते हुए दोनों की प्रधानता की अनुज्ञा देते हैं अर्थात् दोनों का प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकार कहते हैं। किन्तु वह उक्त पद के अर्थ के विरुद्ध है। क्योंकि निर्देशविधि में किसी एक अङ्ग की ही प्रधानता होती है, न कि दो अङ्गों की। अतः दोनों में से किसो एक का ही प्रयोग करना चाहिए। "और देवताओं का कीर्त्तन गीत-विधि प्रयोग से जानना चाहिए" (ना. शा. ५।१३)

१. क. बुद्धचाय षट्कचेदिज (?) रङ्गभेद।

२. क. गीतकपिण्ड्यादीनि।

एतान्यङ्गानि कार्याणि [1]पूर्वरङ्गविधौ द्विजाः ।
[2]एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ १६ ॥
कुतपस्य तु विन्यासः प्रत्याहार इति [3]स्मृतः ।
तथावतरणं प्रोक्तं [4]गायिकानां निवेशनम् ॥ १७ ॥

उभयात्मकं तावदेवैकमङ्गमस्तीति केचित् । अपिशब्दाद्यानि कानि । उद्देशावसर एव 'ताण्डवं यत्र' इत्यभिधानमस्याङ्गस्य नृत्ते विनियोगं दर्शयति । तेन नाट्याद्यङ्गानि नृत्तशून्यान्यपि भवन्तीति दर्शयतीति तदेव च शुद्धत्वव्यवहारः । यद्वक्ष्यति—"शुद्धं चित्रमथापि च ।" इति ॥ १२-१५ ॥

एवं पूर्वरङ्गसामान्यलक्षणानि समासेनाभिहितानि एतत्प्रसङ्गात् तेषामयमेवोद्देशो भवतीति दर्शयति—एतानीति ।

क्रमकथनेनैतत्सङ्ख्यान्येव चेत्यर्थः । यथोद्देशं लक्षणं कर्तुमुपक्रमते—एतेषामिति ॥ १६ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि दोनों तो एक ही अङ्ग है। 'अपि' शब्द से कोई भी अङ्ग लिया जा सकता है। उद्देश कथन के अवसर पर ही 'ताण्डवं यत्र युज्यते' अर्थात् 'जहाँ पर ताण्डव का प्रयोग हो' यह कथन नृत्त में इस अङ्ग का विनियोग दिखाता है अर्थात् नृत्त में इसका प्रयोग करना चाहिए। इससे यह दिखाया गया है कि नाट्य आदि के अङ्ग नृत्तशून्य भी होते हैं, तभी शुद्धत्व का व्यवहार होता है। जैसा कि आगे कहेंगे-'शुद्ध और चित्र भी भेद होंगे' ॥ १२-१५ ॥

इस प्रकार पूर्वरङ्ग का सामान्य लक्षण समास रूप में कहा गया है।

उनका यही उद्देश है, यह दिखाते हैं—

अनुवाद—हे ब्राह्मणों ! पूर्वरङ्ग के विधान में इन अङ्गों का क्रमशः प्रयोग करना चाहिए। अब मैं क्रमशः उनके लक्षणों की व्याख्या करूँगा ॥१६॥

अभिनव—क्रमपूर्वक कहने का अभिप्राय है कि इनकी इतनी ही संख्या है। अब उद्देश क्रम से उनका विशेष लक्षण करने का उपक्रम करते हैं ॥ १६ ॥

उनके क्रम को कहते हैं—

अनुवाद—कुतुप अर्थात् वाद्ययन्त्रों के विन्यास अर्थात् विधिवत् स्थापन को 'प्रत्याहार' कहते हैं और गायिकाओं अथवा गायकों के निवेश को 'अवतरण' कहा गया है ॥ १७ ॥

---

२. ख. घ. पूर्वरङ्गविधौ तु च । क-अ. पूर्वरङ्गे द्विजोत्तमाः ।
२. क-त. तेषान्तु लक्षणमहं ।
३. क-अ. विधिः स्मृतः । ४. ख. घ. ग. गायकानाम् ।

तत्क्रममाह—कुतपस्य त्विति। नेपथ्यगृहद्वारयोर्मध्ये पूर्वाभिमुखो मार्दङ्गिकः। तस्य पाणिको वामतः। रङ्गपीठस्य दक्षिणतः उत्तराभिमुखो गायनः। अस्याग्रे उत्तरतो दक्षिणाभिमुखस्थिता गायिक्यः। अस्य वामे वैणिकः। अन्यत्र [1]वंशधारकावित्येवं कुतं पाति कुं तपतीति शब्दविशेषपालकस्य नाट्यभूमिकोज्ज्वलताधायिनश्च वर्गस्य यो विचित्रो न्यासः स विप्रकीर्णानामेकत्र ढौकनात्मा प्रत्याहारः।

यद्यपि कुतपस्य विन्यासमध्य एव च गायकस्याभिमुख्यो रङ्गपीठस्योत्तरतो गायिन्य इति गायिकानां (गायकानां) विन्यासः तथापि त्ववतरणं नाम [2]पृथगुक्त-मङ्गनागीतस्यावश्यंभावित्वं रञ्जकवर्गे ख्यापयितुम्। यद्वक्ष्यते—

"यद्यपि पुरुषो गायति गीतविधानं तु लक्षणोपेतम्।
स्त्रीविरहितः प्रयोगस्तथापि न सुखावहो भवति॥"[3]
(ना. शा. ३३।५-७) इति।

अभिनव—नेपथ्यगृह के द्वार के मध्य में पूर्व की ओर मुख करके मार्दङ्गिक (मृदङ्ग बजाने वाला) बैठे और उसकी बायीं ओर ढोल बजाने वाले बैठें और रङ्ग-पीठ के दाहिनी ओर उत्तर की ओर मुख करके गायक बैठें और उसके आगे उत्तर की ओर दक्षिण मुख करके गायिकाओं के बैठने की व्यवस्था हो तथा उसके बायीं ओर वीणावादक को बैठना चाहिए। अन्यत्र अर्थात् इससे भिन्न स्थानों पर वंशधारक अर्थात् बांसुरी वादन करने वाले बैठें। इस प्रकार 'कुतं शब्दं पाति रक्षति' अर्थात् शब्दों के विशेष पालक अथवा 'कु' भूमिं तापयति' अर्थात् भूमि नाट्यभूमि को प्रकाशित करने वाले वर्ग का जो विचित्र-न्यास अर्थात् विखरे हुए का एक जगह स्थापन प्रत्याहार कहा जाता है।

यद्यपि कुतुप (वाद्य-गायकों के समूह) के विन्यास के मध्य में ही गायकों के अभिमुख रङ्गपीठ के उत्तर की ओर गायिकाएँ बैठें, इस प्रकार का गायिकाओं के बैठने का स्थान बता दिया गया है। फिर भी अवतरण नामक अङ्ग का पृथक् कथन किया गया है अर्थात् रञ्जक वर्ग में अङ्गनाओं के गीत के स्थापन के लिए अवतरण नामक अङ्ग का अलग कथन किया गया है। जैसा कि आगे कहेंगे—

"यद्यपि पुरुष लक्षणों से युक्त गीत-विधान का गायन करता है, फिर भी स्त्रियों के गीत से रहित प्रयोग (अभिनय) सुखद अर्थात् मनोरञ्जक नहीं होता।"
(ना० शा०)

१ क वंशद्वा कावित्येवं।

२ क. पृथगुक्तमङ्गानां गीतस्यावश्यंभावित्वं।

३. यह श्लोक नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। काशिसंस्करण में पाठान्तर के साथ एक श्लोक मिलता है।

यस्त्वाह—"नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः" (ना. शा. ५-३२) इति भाविश्लोके केवल-पुरुषाणां गातृत्वं [1]वक्ष्यमाणमिहाशङ्क्येति पृथगवतरणमुक्तमिति। तस्यैतदनवकाशम्। गन्धर्व्यश्च गन्धर्वश्चेत्येकशेषेण स्त्रीगीतस्याप्यत्र संभावनात्। एवमवतरणान्तं वस्तुत एकमेवाङ्गम्। अत एव प्रयोग एक उभयत्र कृतो भवति। यद्वक्ष्यति पुष्कराध्याये (ना. शा. ३४-१९८) "अनुपविष्टेषु मार्दङ्गिकादिषु" इत्युपक्रम्य प्रथमं त्रिसाम।

"त्रिप्रकारं त्रिगुणितं तथा चैवाड्डिताश्रयम्।
त्रिकलं षट्कलं चैव त्रिसाम परिकीर्त्तितम्॥

(ना. शा. ३३-२२०)

त्रिसामान्वितः।

[2]त्रिसामाक्षरपिण्डस्तु गुरुलघ्वक्षरान्वितः।
यकारश्च मकारश्च त्रिकैस्त्रिगुणितो भवेत्॥

(ना. शा. ३३-२२१)

और जो कहा गया है कि–'नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः' अर्थात् 'नारद आदि गन्धर्वों के द्वारा' आगे कहे जाने वाले इस श्लोक में केवल पुरुषों के गायन को कहा जायगा, इस आशङ्का से यहाँ अवतरण नामक अङ्ग का पृथक् कथन किया गया है। इसका यहाँ कोई अवसर नहीं है। यहाँ पर "गन्धर्वाश्च गन्धर्व्यश्च इति गन्धर्वाः" इस प्रकार एकशेष द्वन्द्व समास करने से गीत पद से स्त्रीगीत भी संभव है। इस प्रकार अवतरण के अन्त तक वस्तुतः एक ही अङ्ग है, इसीलिए दोनों जगह एक प्रयोग किया गया है। भाव यह कि यहाँ पर प्रत्याहार और अवतरण दो अङ्ग नहीं है अपितु अवतरण पर्यन्त कथन एक ही अङ्ग है। जैसा कि आगे पुष्काराध्याय (ना० शा० ३४।१९८) में कहेंगे—"मार्दङ्गिक, दर्दरिक आदि के बैठ जाने पर" इस प्रकार उपक्रम करके पहले त्रिसाम का प्रयोग करना चाहिए। त्रिसाम का लक्षण निम्न प्रकार है—

"गुरु, लघु एवं प्लुत तथा द्रुत, मध्य, विलम्बित तीन प्रकारों से त्रिगुणित अर्थात् तीन बार आवृत्त, अड्डिता मार्ग के आश्रित त्रिकल और षट्कल से युक्त 'त्रिसाम' कहा गया है।" (ना० शा० ३४।२२०)।

त्रिसाम से युक्त।

"त्रिसाम के अक्षरों का पिण्ड गुरु, लघु अक्षरों से युक्त होता है और यगण (ISS) तथा मगण (SSS) के त्रिकों से त्रिगुणित होता है।" (ना० शा० ३४।२२१)।

१. क. वक्ष्यमाणमिहशङ्केति।

२. क. भ. म. त्रिसागाक्षरान्वितः।

[1]यस्त्रिसामा स प्रत्याहारो [2]यावदवतीर्णकोटीनि । अवतरणकोटौ छन्दसोऽक्षरसमं वामबहिर्गीतानुवर्ति वाद्यं स्त्रीबालमूर्खादिकुतूहलादिजननं प्रयोज्यम् ।

अन्ये मन्यन्ते निवेशनं स्थानस्वरादौ । न तूपवेशनमत्र । तथा च [3]सप्तस्वरपरिग्रहोऽवतरणमितिजात्यादिरूपाङ्गसप्तकेन शुद्धसप्तकेन शुद्धसप्तकगीतिज्ञप्रयोज्यमिति । एतद्घनतालविधौ (ना. शा. ३१) वितत्य विचारयिष्यते ।। १७ ।।

जो त्रिसाम है वह अवतरण कोटि पर्यन्त प्रत्याहार है । अवतरण कोटि में छन्दःसम और अक्षरसम बहिर्गीत के अनुवर्त्ती वाद्य अर्थात् छन्दसम अथवा अक्षरसम के समन्वित वाद्य के साथ बहिर्गीत के विधान का अनुसरण करना चाहिए । इस प्रकार स्त्री, बालक, मूर्ख आदि को कुतूहल पैदा करने वाले वाद्य का प्रयोग करना चाहिए ।

कुछ आचार्य यहाँ पर उपवेशन का अर्थ बैठना न मानकर स्थान और स्वरों का परिग्रह मानते हैं । इस प्रकार सातों स्वरों का परिग्रह अवतरण है । अतः जाति आदि सात अङ्गों वाले शुद्ध सप्तक से शुद्ध स्वरों का गान करना चाहिए । यह सब घनवाद्य ताल के विधान के अवसर ३१वें अध्याय में विस्तार से कहेंगे ।। १७ ।।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के अनुसार वाद्ययन्त्रों का उचित स्थान पर स्थापन 'प्रत्याहार' कहा जाता है । अभिनवगुप्त वाद्ययन्त्रों के साथ गायक-वादकों का समुचित स्थान पर सन्निवेश को 'प्रत्याहार' कहते हैं । नाट्यशास्त्र में ३४वें अध्याय में कुतुप-विन्यास की योजना बताई गई है । तदनुसार सामाजिकों के पूर्वाभिमुख बैठ जाने पर कुतुप का इस प्रकार विन्यास करना चाहिए । तदनुसार नेपथ्य और द्वार के बीच में कुतुप-विन्यास करे । पूर्वाभिमुख मृदङ्गवादक बायीं ओर पणव (ढोल) और दर्दुर वादक, उत्तराभिमुख गायक, गायक के बायीं ओर वीणावादक, वीणावादक के दाहिनी ओर वंशीवादक और गाने वाले के सामने गायिका को बैठाना चाहिए । यह कुतुपन्यास की विधि है । इसी को प्रत्याहार कहते हैं ।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब प्रत्याहार के अन्तर्गत गायक-गायिकाओं के बैठने की व्यवस्था का वर्णन कर दिया गया है तो 'अवतरण' नामक अङ्ग की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान करते हुए कहते है कि कुतुप के अन्तर्गत गायकों के बैठने का निर्देश है, गायिकाओं के लिए नहीं है । अतः गायिकाओं के निवेशन के लिए अवतरण का निर्देश है । क्योंकि स्त्रियों के गायन के विना प्रयोग रञ्जक नहीं होता । इसलिए स्त्री, बालक, वृद्ध, मूर्ख आदि के मनोरञ्जन के लिए वाद्यों का वादन किया जाता है । कुछ आचार्य यहाँ उपवेशन का अर्थ स्थान, स्वरादि का यथास्थान विन्यास मानते है । तदनुसार जात्यादि सात अङ्गों से युक्त सप्ताङ्ग गीत के साथ शुद्ध सप्तक स्वरों का गान किया जाता है ।। १७ ।।

१. क-भ. म. यस्त्रिसाम । २. क-भ. म. यावदनिर्णयकोटीनि ।
३. क. सप्तस्वरपरिग्रहोऽवतरणादाशुगत्यादिरूपाऽङ्गसप्तकेन ।

परिगीतक्रियारम्भ आरम्भ इति कीर्तितः ।
आतोद्यरञ्जनार्थं तु भवेदाश्रावणाविधिः ॥ १८ ॥

ननु च यावत् परिगीतक्रियाद्यारम्भो न कृतस्तावत् त्रिसामप्रयोगोऽपि कथम् । सत्यम् । [1]किमर्थमयं प्रयोगक्रम इत्यवधार्यताम् । इह दृष्टार्थान्येव तावदेतान्यङ्गानि । तथा हि-पूर्वं रञ्जकवर्गढौकनं तत एव तद्गीतस्योपरञ्जकस्य प्राधान्यम् । तस्य च बिम्बभूतं शारीरं शारीरस्वराणां मूलत्वात् । तदनुसन्धानायालापाख्यं आरम्भः ।

ततोऽपि मानरूपतालप्रधानसर्वातोद्यगर्भमनुसन्धानमासमन्ताच्छ्रावयतीत्याश्रवणा ॥ १८ ॥

अनुवाद—परिगीत क्रिया अर्थात् आलाप का प्रारम्भ करना 'आरम्भ' कहा जाता है और वादन के पूर्व वाद्ययन्त्रों में एकरूपता लाना 'आश्रवणा' कहा जाता है ॥ १८ ॥

अभिनव—अब यह प्रश्न यह उठता है कि जब तक परिगीत क्रिया का आरम्भ नहीं किया जाता तब तक त्रिसाम का प्रयोग कैसे होगा ? यह बात सत्य है किन्तु यह विचार करिये कि यह प्रयोगक्रम किसलिए है ? यहाँ पर तो ये अङ्ग दृष्ट प्रयोजन के लिए हैं अथवा दृष्टान्त के लिए हैं । जैसे गीतों में पहिले यहाँ रञ्जक वर्ग का उपस्थापन होता है अर्थात् पहले रञ्जक वर्ग को प्रस्तुत किया जाता है फिर उपरञ्जक गीत की प्रधानता होती है । शारीर स्वरों का मूल होने से शारीर स्वर उसका बिम्बरूप होते हैं । उसके अनुसन्धान के लिए आलाप नामक 'आरम्भ' का प्रयोग होता है । आलाप के द्वारा स्वरों का निर्धारण होता है । आलाप ही आरम्भ है अर्थात् शारीर स्वरों का निश्चित क्रम में आलाप 'आरम्भ' है । अभिनव ने सामान्याभिनय के अन्तर्गत शारीर अभिनय को माना है । शारीर अभिनय के आलाप आदि बारह भेद होते हैं । उनमें आलाप प्रमुख है ।

आलाप के साथ वाद्ययन्त्रों के स्वरों की एकरूपता स्थापित करने की क्रिया को 'आश्रवणा' कहते हैं । अभिनवगुप्त ने मानरूप तालप्रधान समस्त वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों में मान कालमान की दृष्टि से अनुसन्धान अर्थात् सामञ्जस्य खोजने का प्रयत्न करना आश्रवणा है । इस प्रकार सभी वाद्ययन्त्रों के स्वरों का सामञ्जस्य स्थापित करना आश्रवणा है अर्थात् इसमें कण्ठ स्वरों के साथ वाद्ययन्त्रों के स्वरों का सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है ॥ १८ ॥

---

१. क. किञ्चिदर्थममयं ।

वाद्यवृत्तिविभागार्थं वक्त्रपाणिर्विधीयते ।
[1]तन्त्र्योजःकरणार्थं तु भवेच्च [2]परिघट्टना ॥ १९ ॥
तथा [3]पाणिविभागार्थं भवेत्संघोटनाविधिः[4] ।
[5]तन्त्रीभाण्डसमायोगान्मार्गासारितमिष्यते[6] ॥ २० ॥
[7]कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया ।

ततोऽपि प्रतिबिम्बभूतवैणवस्वरस्वरूपानुसन्धानाय दक्षिणादिवृत्तिभागानुसन्धानात्मना वक्त्रपाणिः । वक्त्रे प्रारम्भे हस्ताङ्गुलिव्यापारः । ततस्तु वृत्तिविभागगतशुष्कप्रयोगानुसन्धानात् ज्यापरिघट्टना । घट्ट चलन इति पाठात् ॥ १९ ॥

अनुवाद—वाद्यों की विभिन्न वृत्तियों के विभाग के लिए 'वक्त्रपाणि' का विधान किया जाता है और वीणा आदि तन्त्रीवाद्यों का ओजपूर्ण करने के लिए 'परिघट्टना' का विधान किया जाता है ॥ १९ ॥

अभिनव—प्रतिबिम्बभूत वीणा अथवा वेणु के स्वरों के स्वरूप के सन्धान के लिए अर्थात् वीणा अथवा वेणु (बांसुरी) के स्वरों का अन्य वाद्य स्वरों के साथ मिलान करते हुए उनके स्वरूप का अनुसन्धान कर दक्षिण आदि वृत्तियों का अर्थात् दक्षिण, चित्र और वार्त्तिक वृत्तियों के विभाग का अन्वेषण (सारणा) करना 'वक्त्रपाणि' है। इस प्रकार वक्त्र में अर्थात् प्रारम्भ में हाथ की अङ्गुलियों का संचालन करना 'वक्त्रपाणि' है। इसमें प्रारम्भ में हाथ की अङ्गुलियाँ तन्त्रीवाद्यों पर संचालित होती हैं और स्वरों का वृत्तियों के अनुसार अन्वेषण किया जाता है।

इसके बाद तन्त्रीवाद्यों की ज्या के घट्टन अर्थात् घर्षण से दक्षिणादि वृत्तियों के विभागों में शुष्काक्षर प्रयोग (धुन) का अन्वेषण (सारणा) करना 'परिघट्टना' है। जहाँ पर अक्षरों का प्रयोग अर्थहीन अथवा शुद्ध स्वरमूलक होता है उसे शुष्काक्षर कहते हैं। इसमें तन्त्री स्वरों के वादन के लिए अङ्गुलियों का घर्षण आवश्यक होता है और तन्त्री का घर्षण तीव्र गति से होता है ॥ १९ ॥

१. ख. तन्त्र्येजस्तरणार्थम् । क-अ. तद्योज्यकरणार्थं च । क-म. तन्त्रीजस्तरणार्थम् । क-न. तन्त्रेजस्करणार्थम् ।
२. क-अ. भवेत्तु परिघट्टनम् ।
३. क-त. पाणिविधानार्थं ।
४. क-अ. ब. भवेत्सङ्खोटनाविधिः ।
५. क-त. तन्त्रीभाण्डसमायोगो ।
६. ख-घ. मार्गोत्सारितमिण्यते ।
७. ख. कालपातविभागार्थं । क-त. कलापादविभागार्थं । क-म. कलाभागविभागार्थं ।

पश्चाद्वीणावाद्योपजीवकत्वादवनद्धस्यानुसन्धानसंवाद्यादिना प्रहरपञ्चकयोगेन क्रियत इति सङ्घोटना। घुट परिवर्तने। यतः पुष्कराध्यायेऽभिवक्ष्यते—

पूर्वं शरीरादुद्भूता ततो गच्छति दारवीम्।

ततः पुष्करजं चैवमनुयान्ति घनं पुनः।' (ना. शा. ३४-३१) इति।

ततोऽपि प्रकृतिमेव यन्मानानुहार्यानुहर्तृरूपस्य वैणवपौष्करशब्दस्य परस्परसंमेलनं कार्यमिति मार्गासारितम्। मार्गे प्रकृत्यादिलक्षणादिगोचरे विकाररूपस्य (?) पुष्करवाद्यस्यासमन्तात्सारणं गमनं यत्रेति ॥ २० ॥

पश्चान्मेयमानस्वरूपे तु संहिते गेयवस्तुहततालस्वरूपोपक्षेपः। कलानामावापाद्यानां पातानां शम्यादीनां चानुसन्धितेत्यासारितविधिः। एवं तावदन्तर्यवनिकाङ्गानां दृष्टार्थ एव प्रयोगः। [3]तान्यन्तरेण प्रयोग स्यैवासम्पत्तेः। तथा च [4]हेज्जलनाम्ना कविना निजपद्ये उक्तम्—

अनुवाद—हाथ के विभागों का प्रयोग करना अर्थात् हाथ से वाद्यों पर प्रहार करना अथवा हस्तप्रहार के द्वारा वाद्यों पर संगत करना 'संघोटना' है और तन्त्री तथा भाण्डवाद्यों का समवेत प्रयोग करना 'मार्गासारित' होता है। कला और पात के विभाग के लिए 'आसारित' क्रिया की जाती है ॥ २०-२१(१) ॥

अभिनव—इसके बाद वीणा वाद्य के उपजीवक होने से अर्थात् अन्य वाद्यों पर निर्भर रहने के कारण वीणा वाद्य में संवादी स्वरों के साथ पाँचों अङ्गुलियों के प्रहारों के योग से अवनद्ध वाद्य का अनुसन्धान करना 'संघोटना' है। इसमें तन्त्रीवाद्य और भाण्डवाद्यों का साथ-साथ प्रयोग होता है। घुट धातु का परिवर्त्तन अर्थ है। जैसाकि पुष्कराध्याय में कहेंगे—

"स्वर पहिले शारीर वीणा से उत्पन्न होकर फिर दारवी वीणा में जाता है, उसके बाद पुष्कर वाद्य का अनुवर्त्तन करता है।" (ना० शा० ३४।३१)।

उसके बाद अनुहार्य एवं अनुहर्त्तृ रूप में वैणव तथा पुष्कर वाद्यों के शब्दों का परस्पर सम्मेलन (मिलान) करना 'मार्गासारित' है। इसमें वैणव वाद्य स्वरों का वीणा के स्वरों के समान पुष्कर-वाद्यों से उसका अनुकरण किया जाता है। अभिनवगुप्त व्युत्पत्ति के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं—'प्रकृत्यादि लक्षण के विषयरूप मार्ग में अर्थात् प्रकृत मार्ग में विकार रूप पुष्कर वाद्य का चारों ओर से सारण (गमन) जहाँ पर होता है उसे 'मार्गासारित' कहते हैं ॥ २० ॥

३. क-म. भ. नात्यन्तरेण। जात्यन्तरेण। ४. क. भेज्जल।

"मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधौ" इत्यादि ।

एवं दृष्टार्थे प्रयोगे पूर्वं कृते पश्चात् दृष्टार्थाङ्गानुसारेणैव बहिर्गीतविधिः । तदनुसारेण च [1]तन्निवेशगीतवाद्यविधिः । तत्र प्रत्याहारावतरणयोस्त्रिसाम्ना प्रयोगः । रङ्गपीठस्य [2]तिसृषु दिक्षु कुतपविन्यासात् ।

तालस्त्रिकलस्त्वादौ शम्यैककला कलाद्वये तालः ।
द्विकला च पुनः शम्या तालो द्विकलस्तु कर्तव्यः ॥ (ना. शा. २९।९१)
[3]द्विकलश्च सन्निपातः पुनः पिता पुत्रकश्च षट्पूर्वः ।
चञ्चत्पुटस्तथा चेदारम्भे तालयोगस्तु । (ना. शा. २९।९२)

इसके बाद मेय और मान के स्वरूप का अनुसन्धान कर लेने पर गेय वस्तु में ताल के स्वरूप का उपक्षेप तथा आवाप आदि कलाओं एवं शम्या आदि पातों का अनुसन्धान करना 'आसारित' विधि है। इस प्रकार शम्या आदि पात क्रिया के द्वारा आवाप आदि कलाओं के पतन काल की गिनती करना 'आसारित' क्रिया कही जाती है।

इस प्रकार अन्तर्यवनिका अर्थात् यवनिका के अन्दर अङ्गों का प्रयोग अर्थात् प्रत्याहार से लेकर आसारित क्रिया तक अङ्गों की योजना यवनिका के भीतर दृष्टफल के लिए होती है। उसके बिना प्रयोग सम्पन्न नहीं हो सकता। जैसाकि हेज्जल नामक कवि ने कहा है कि—

"नगाड़े की ध्वनि को मेघ की ध्वनि समझकर मोर नाच रहा है, मानों मोरों को ताण्डव नृत्त की शिक्षा में आचार्यत्व प्राप्त है······" इत्यादि स्थल पर वाद्यों तथा गीतों का परस्पर मिलान हो रहा है।

इस प्रकार दृष्टार्थ का प्रयोग पहिले किये जाने पर बाद में दृष्टार्थ अङ्गों के अनुसार ही बहिर्गीत की विधि की जाती है। उसके अनुसार ही उनके निवेश, गीत और वाद्य की विधि की जाती है। वहाँ प्रत्याहार और अवतरण में त्रिसाम के द्वारा प्रयोग होता है। क्योंकि वहाँ रङ्गपीठ पर तीनों दिशाओं में कुतुप का विन्यास है। पाठभेद के अनुसार चारों दिशाओं में कुतुप का विन्यास है।

"आरम्भ में पहिले त्रिकल ताल फिर एककल शम्या, फिर द्विकल ताल, फिर द्विकल शम्या फिर द्विकल ताल का प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद द्विकल सन्निपात क्रिया फिर षट्पितापुत्रताल फिर चञ्चत्पुटताल का प्रयोग होना चाहिए।" (ना० शा० २९।९१-९२)।

---

१. क. तानि विशेषधातुवाद्ये विधिः । क-म. भ. तानि वाद्ये विधि। ।
२. क-म. भ. रङ्गपीठस्येति चतसृषु । ३. क. त्रिकलश्च ।

त्रिःशम्योपरिपाणौ तालावित्येवमेककलः ।
समपाणौ द्वे शम्ये तालावप्येवमेवाथ ।। (ना. शा. २९।८७)
भूयश्शम्या तालाववपाणावुत्तरस्तथा चैव ।
चञ्चत्पुटस्तथा स्यादेवं ह्याश्रावणातालः ।। (ना. शा. २९।८८)
शङ्कुकस्तु पठति "उत्तरस्तथा चैव" इति स्थाने "उत्तरस्तथा द्विकलः" इति, "एककल" इत्यत्र च स्थाने "निर्दिष्ट" इति ।

केचिच्चाष्टाविंशेऽध्याये (२९-८६) आश्रावणायाः पूर्वमभिमानादिह चारम्भस्य पूर्वपाठाद् ज्ञापकाद्विकल्पमिच्छन्ति । अतः सर्वातोद्यस्वरूपानुसन्धिनिर्गीतालापक्रिया चेति (निर्गीततालप्रक्रिया चेति ?) ।

"द्विकले मद्रके यत्तु शम्यातालादियोजनम् ।
तत्सर्वं वक्त्रपाणौ तु कार्यमष्टकले मुखे ।। (ना. शा. २९-९८)
तस्याधस्तात्पुनः कार्यं पञ्चपाणिचतुष्टयम् ।
वक्त्रपाणेरयं तालो मुखप्रतिमुखाश्रयः ।।" (ना. शा. २९-९९)

"आश्रवणा में पहिले उपरपाणि में तीन बार शम्याक्रिया फिर एक-एक करके दो ताल अथवा एककल दो तालों का प्रयोग होता है इसके बाद समपाणि में दो शम्या क्रिया, फिर उसी प्रकार दो ताल तथा अवपाणि में शम्याक्रिया फिर दो ताल अर्थात् पहिले गीत फिर वाद्य षट्कल पञ्चपाणि तथा चञ्चत्पुट ताल का प्रयोग होता है। इस प्रकार आश्रवणा की निष्पत्ति होती है।" (ना० शा० २९।८७-८८) ।

आचार्य शङ्कुक 'उत्तरस्तथा चैव' के स्थान पर 'उत्तरस्तथा द्विकलः' पाठ मानते हैं। इसी प्रकार 'एककल' के स्थान पर 'निर्दिष्ट' पाठ मानते हैं। इस प्रकार आश्रवणा अष्टविंशतिकला की होती है। चञ्चत्पुटताल में भी द्विकल पाठ मानकर आश्रवणा को द्वात्रिंशत्कल मानते हैं।

कुछ आचार्य २८वें अध्याय में 'आश्रवणा' के प्रथम कथन होने से और यहाँ पर 'आरम्भ' का प्रथम कथन होने के कारण ज्ञापन से यह विकल्प चाहते हैं अर्थात् उनका कहना है कि २८वें अध्याय में आश्रवणा का प्रथम कथन किया गया है और यहाँ पर आरम्भ का प्रथम कथन है, इस प्रकार ज्ञापन होने से विकल्प की कामना करते है अर्थात् विकल्प मानते है। इसलिए समस्त वाद्यों के स्वरूप की अनुसन्धि निर्गीत आलाप क्रिया यहाँ होती है।

"जो कि द्विकल मद्रक गीत में शम्या और ताल आदि की योजना होती है उन सबकी वक्त्रपाणि में आठ कलाओं से युक्त करनी चाहिए। फिर उसके बाद अर्थात् अष्टकल वक्त्रपाणि के प्रयोग के बाद चार पञ्चपाणि ताल का प्रयोग करे। इस प्रकार वक्त्रपाणि नामक यह ताल मुख (अष्टकल) और प्रतिमुख (चतुर्विंशकल) पर आश्रित होता है।" (ना० शा० २९।९८-९९) ॥

केचित्तु [1]वक्त्रपाण्यर्धगतमिच्छन्ति तैर्वस्तुक्रमो वृत्तिशब्दश्च न चर्चितः। संपिष्टकवच्चास्यास्ताल (ना. शा. २९-११२) इति परिघट्टनातालः।

तत्र—सप्ताङ्गे द्वादशकलं द्वादशाङ्गे दशैव तु।

निष्क्राममादितः कृत्वा शम्यास्तिस्रः प्रयोजयेत्॥ (ना० शा० ३१।२८८)

तालत्रयं ततश्चैव शम्यातालौ ततः परम्।

[2]शम्यातालौ ततः कार्यौ सन्निपातोऽन्त्य एव च॥ (ना०शा० ३१।२८९)

ओवेणके तु सप्ताङ्गे सम्पिष्टकमिदं मतम्।

द्विशम्यातालयोगेन द्वादशाङ्गे कला दश॥" (ना० शा० ३१।२९०)

शङ्कुकस्तु—"[3]सम्पक्वेष्टकवदस्यास्ताल" (ना० शा० २९।१०८) इति पठति।

"तालादिस्त्र्यश्रभेदोऽन्यो ज्ञेयः पक्वेष्टको बुधैः।

[4]गुरुपञ्चाक्षराद्यन्तप्लुतमात्रासमन्वितः॥" (ना० शा० ३१।२१) इति,

कुछ लोग तो वक्त्रपाणि के अर्धभाग में उक्त ताल को मानते हैं। उन्होंने वस्तुक्रम और वृत्ति शब्द की चर्चा नहीं की है। इस परिघट्टना का ताल संपिष्टक के समान होता है। संपिष्टक का लक्षण इस प्रकार है—

"यहाँ पर सप्ताङ्ग में द्वादशकल ताल का और द्वादशाङ्ग में दशकल ताल का प्रयोग करना चाहिए। इसमें सर्वप्रथम निष्क्राम क्रिया करके फिर तीन शम्या क्रिया की योजना करे, फिर तीन ताल, फिर शम्या और ताल, फिर उसके बाद शम्या और ताल का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद अन्त में सन्निपात क्रिया का प्रयोग करे। इस प्रकार सप्ताङ्ग ओणवेक गीत में सम्पक्वेष्टक माना गया है। कुछ लोग दो बार शम्या और ताल (क्रिया) के योग से द्वादशाङ्ग में दश कलाएँ मानते हैं।" (ना० शा० ३१।२८८-२९१)।

शङ्कुक तो 'इस परिघट्टना का ताल संपक्वेष्टक ताल के समान होता है', इस प्रकार पाठ मानते हैं।

"त्र्यस्र ताल का एक भेद संपक्वेष्ट नामक है जिसमें पाँच गुरु अक्षर और आदि तथा अन्त में प्लुत होता है" अर्थात् संपक्वेष्टकताल में आदि और अन्त में प्लुत तथा मध्य में तीन गुरु होते हैं (ऽ̈ S S S ऽ̈)। (ना० शा० ३१।२१)।

---

१. क. वक्त्रवार्धगतमिच्छन्ति।

२. क-म. भ. शम्यातालौ सन्निपातः सम्पिष्टकमिदं मतम्।
विशम्यतालयोगा तु द्वदशाङ्गे कला दश॥

३. संपिष्टकवच्चास्याः तालः। क-म. भ. सम्पन्नेषु यस्यास्ताल इति।

४. क. गुरुपञ्चाक्षराभ्यान्तु।

अन्ये तु पठन्ति—

"[1]गुरुपञ्चाक्षरेऽन्ते च प्लुतमात्राद्वयान्वितः।" इति ।।

पक्वेष्टकस्य तथैव [2]प्लुतद्वयेत्यर्थो न सङ्गतः।

तथा द्वौ [3]सम्पिष्टशब्दे तु वत्करणवाचकं शीर्षकवदितिवत्। नहि तस्य च तदानीमङ्गता। केवलप्रयोगात्प्रकरणं चात्र साक्षी। [4]शीर्षकवद्बालासारितवदिति चानयोर्मध्ये पठितमेतत्।

सङ्घोटनायां तालस्तु शीर्षवत्पञ्चपाणिना। (ना० शा० २९।१०४) अनयोरप्यङ्गयोः पूर्ववत्केचित्क्रमविकल्पमिच्छन्ति।

"बालासारितवच्चैव तालोऽस्य परिकीर्तितः।" (ना० शा० २९।११०) इति मार्गासारितस्य तालः। अभिसृतपरिसृतान्यप्यत्र मार्गासारितमध्य एव तत्स्थाने वा विकल्पेन प्रयोक्तव्यानि। लीलाकृतं नाम [5]यत्ततातोद्यविधौ (ना० शा० २९।११) वक्ष्यते तदिह न सङ्गृहीतम्। आसारितायां च त्रयाणां स्वत एकस्तालाध्याये (ना. शा. ३१-१५६-१८९) वितत्य वक्ष्यत इत्येवं प्रयोगक्रमः।

अन्य आचार्य कहते है कि—

"दो प्लुत मात्राओं से युक्त पाँच गुरु अक्षरों का सम्पक्वेष्टक ताल होता है।" किन्तु संपक्वेष्टक ताल में पाँच गुरु तथा अन्त में प्लुतद्वय यह पाठ सङ्गत नहीं है।

संपिष्टक शब्द में तो शीर्षक के समान 'वत्' करण वाचक है। उस समय उसकी अङ्गता नहीं होती और यहाँ केवल प्रयोग से प्रकरण साक्षी है। शीर्षकवत् तथा बालासारितवत् के मध्य में इसका पाठ है।

सङ्घोटना का लक्षण—

"सङ्घोटना में शीर्ष की तरह पञ्चपाणि ताल होता है।" (२९।१४२)।

इन दोनों अङ्गों में कुछ आचार्य क्रम में विकल्प मानते है।

"इस संघोटना का ताल बालासारित अर्थात् कनिष्ठासारित की तरह होता है।" (ना० शा० २९।११०)।

इस प्रकार यहाँ पर मार्गासारित ताल होता है। अभिसृत और परिसृत आसारित के भेदों का भो यहाँ मार्गासारित के मध्य में अथवा उसके स्थान पर विकल्प से प्रयोग करना चाहिए। "आतोद्य-विधान में लीलाकृत का प्रयोग करना चाहिए"

---

१. क-म. भ. गुरुपश्चाक्षरे ते च।

२. क. तालाद्यद्वयेत्यर्थो। क-म. भ. तालाद्यवत्यर्थो।

३. क. सम्पिष्टशब्दवत्कारणवाचकम्।

४. क-म.भ. शीर्षकवज्जवालासरितवदिति।

५. क. यत्तदातोद्यविधौ।

अत एव पूर्वरङ्गे सद्भावमात्रेण [1]सप्रत्याहारादावपि सामान्यलक्षणमनुगतमेव। अत्र च शुष्काक्षरधातुवाद्यविधिरष्टाविंशेऽध्याये ततातोद्यविधौ भविष्यति 'त्रिसाम्नि' पुष्कराध्याये (ना. शा. ३४) तत एवावधार्यमिति। विस्तरभयात्तु न लिखितम्।

अत्र च वैचित्र्यार्थं समुचितमात्रमित्यादिप्रवृत्तिमपि भाविरूपकोचितं काव्यमपि पठ्यमानं केचिदिच्छन्ति। तथा हि सति "पाठ्ययोगकृतैस्तथा" (ना० शा० ५-८) इति न सङ्कोचितं भविष्यति। युक्तं चैतत्। यथा हि रमणीयाद्युपकरणभूतशयनविरचनादौ प्रतिपादुकस्तम्भधूपवस्त्रादिष्वपि तदुचितनायकयुगलादिप्रायविचित्राकृतियोगो युद्धोचितसन्नाहकङ्कटादौ च कातरजनभयभावनं नृसिंहगरुडादिरचनाकृतियोगस्तथैव ह्यतिरमणीये नाट्ये भविष्यन्ति (भविष्यति) यदुपरञ्जकवर्गढौकनादौ—[2]एतदपि सुकुमारतदुक्तगीतपाठ्याभिनययोगेनैव

यह आगे कहेंगे—इसलिए उसका यहाँ संग्रह नहीं किया है।[3] ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ तीन प्रकार के आसारितों को आगे तालाध्याय में विस्तार से कहेंगे, इस प्रकार यह प्रयोग का कृम है। इसलिए पूर्वरङ्ग में सद्भाव मात्र से प्रत्याहार आदि अङ्गों में भी सामान्य लक्षण का अनुगमन हो गया है। यहाँ शुष्काक्षर और धातु वाद्यों की विधि २८वें अध्याय में 'तत' नामक आतोद्य (वाद्य) अर्थात् तन्त्रीवाद्य के विधान में कहेंगे और पुष्कराध्याय में 'त्रिसाम्नि' इस रूप में कहा जायगा। वहीं पर समझना चाहिए। विस्तार के भय से उसका यहाँ निरूपण नहीं कर रहे हैं।

---

१. क. सप्रत्याहारकावपि। २. क-म. भ. एकदापि।

३. नाट्यशास्त्र के २९वें अध्याय में पूर्वरङ्ग में लीलाकृत के प्रयोग का विधान बताया गया है किन्तु यहाँ पूर्वरङ्ग के विधान में उक्त नाम भी कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि यहाँ पर मार्गासारित और लीलाकृत में वैकल्पिक प्रयोग का विधान है अर्थात् चाहे मार्गासारित का प्रयोग किया जाय अथवा चाहे लीलाकृत का। आसारित के मध्य में ही इसका संग्रह है, ऐसा कहा जाता है। जैसाकि २९वें अध्याय में कहेंगे-

श्रवणमधुराणि लीलाकृतान्यभिसृतपरिसृतान्तरकृतानि।
तान्यप्यर्थवशादिह कर्त्तव्यानि प्रयोगविधौ॥
(ना० शा० २९।१११)।

यहाँ पर अभिसृत और परिसृत को आसारित का भेद कहा गया है। आसारित के तीन भेद हैं—ज्येष्ठासारित, मध्यमासारित और कनिष्ठासारित। इसमें कनिष्ठासारित को बालासारित कहते हैं। अभिसृत और परिसृत भी आसारित के भेद हैं। बालासारित अर्थात् अपसृत अथवा परिसृत ताल के योग के द्वारा सुकुमार एवं मधुर रूप से प्रयुक्त गीयमान पद और वाद्यों की योजना करनी चाहिए।

कार्यम्। तच्चापसारितायामेव यवनिकायानुत्थापनाङ्गमध्ये ह्यस्यैककलः पाठ्यसहितः प्रयोगः। तथा हि वक्ष्यति "यस्मादुत्थापयन्ति" इत्यादि। रङ्गे यः पूर्वं प्रयोगः कृतः प्रत्याहारादिस्तं यस्मादुत्थापयन्ति फलस्वरूपनिरूपकपाठ्यतदभिनयादिना स्फुटीकुर्वन्ति तस्मादित्यर्थः। पाठ्यावकाशदानार्थमेव चात्रेदं देवतास्तुतिगीतिफलविशेषाभिधानम्। अन्यथा देवतापरितोषायैतत्प्रयोज्यमिति सामान्येन वक्तव्यं स्यात्। विशेषोपदेशस्य प्रयोगे विफलत्वात्।

अन्ये तु प्रत्यङ्गं पश्चात्तत्प्रयोगमाहुः तैस्तु प्रयोक्ता कस्तदेति निरूप्यम्। अत्र त्विदमित्यर्थः। कृतमित्युक्तिभङ्ग्या पाठ्यं तद्गीतप्रयोगः पदयुक्तोऽपि केवलमन्तर्यवनिकागतप्रत्याहारादिविषयत्वात्पाठ्ययोगादीनामप्यन्तर्यवनिकार्थमुच्यते। एवं नवाङ्गान्युक्तानि।

यहाँ पर कुछ लोग वैचित्र्य के लिए केवल समुचित है, इत्यादि प्रवृत्ति को भी भावी रूपक के योग्य पढ़े जाने वाले काव्य की इच्छा करते हैं अर्थात् पूर्वरङ्ग केवल वैचित्र्य मात्र के लिए है, इसलिए उसमें प्रवृत्ति तथा भावी रूपक (नाटकोचित) काव्य को चाहते हैं। वैसा होने पर "पाठ्ययोगकृतैस्तथा" यह नियम समुचित नहीं होगा। यह ठीक है, जैसे कि रमणीय उपकरण रूप शयन, विरचन आदि में प्रतिपादुक, स्तम्भ, धूप, वस्त्र आदि में भी तथा उसके योग्य नायक-नायिका आदि के विचित्र आकृतियों के योग और युद्ध के योग्य कवच, अङ्कुश आदि में कायर लोगों में भय उत्पन्न करने वाले नृसिंह, गरुड़ आदि की आकृतियों के निर्माण का योग, उसी प्रकार अत्यन्त रमणीय नाट्य में उसके उपरञ्जक वस्तुओं के उपस्थापन आदि में यह सब भी यवनिका से पर्दे हटा दिये जाने पर उत्थापना नामक अङ्ग के बीच में एककल का पाठ्य (संवाद) के साथ प्रयोग करना चाहिए। जैसाकि आगे 'यस्मादुत्थापयन्ति' इत्यादि में कहेंगे। रङ्ग पर प्रत्याहार आदि का जो प्रयोग किया गया है उसे जिससे उत्स्थापन करते हैं उससे फल के स्वरूप-निरूपक पाठ्य और उसके अभिनय आदि के द्वारा स्फुट करेंगे। पाठ्य में अवकाश (अवसर) प्रदान करने के लिए यहाँ पर देवताओं की स्तुति, गीत तथा उसके फल विशेष का अभिधान करेंगे। अन्यथा देवता के परितोष के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए, यह सामान्य रूप से कहना चाहिए। क्योंकि विशेष रूप से कथन निष्फल है।

अन्य लोग तो प्रत्येक अङ्ग के बाद उसका प्रयोग कहते हैं। उनके मत में कौन प्रयोक्ता है यह निरूपण करना है। 'कृतम्' इस कथन की शैली पाठ्य, उसको गीत में प्रयोग पद युक्त होने पर भी केवल यवनिका के भीतर प्रत्याहारादि विषयक पाठ्य आदि का भी यवनिका के भीतर प्रयोग के लिए कहा जाता है। इस प्रकार ये प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त नौ अङ्ग कहे गये हैं।

कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो [1]गीतविधिस्तथा ॥ २१ ॥
[[2]अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युत्थापनविधिक्रियाम् ।]
यस्मादुत्थापयन्त्यत्र[3] प्रयोगं नान्दिपाठकाः ।
पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥

अथ "विघाट्य वै यवनिकाम्" (ना शा. ५-१२) इत्यादिना यद् गीतकविध्याद्यङ्गदशकं दर्शितं तत्क्रमेण लक्षयति—कीर्त्तनादित्यादि ।

कीर्तनं स्तुतिः । तस्मात्पाठ्याद्धेतोः । ततः पर शुष्काक्षरनिर्वृत्तशब्देन निर्गीतकानामन्यतमं वर्धमानं वा । तत्र च तालस्तालाध्याये एकत्रिंशे वक्ष्यते ॥२१॥

यस्मादिति । तत्र प्रत्याहारादीनि चेत् अत्र प्रयोज्यानि तत्पूर्वरङ्ग इत्यनुवादोऽयं स्यात् । क्रमस्य सिद्धत्वात् । नान्दिपाठका इति । तदुपलक्षितपूर्वक्रमद्वारेणैव[4] पुराणकवयो लिखन्ति स्म "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" इति ॥ २२ ॥

इसके बाद यवनिका को हटाकर (ना० शा० ५।१२) इत्यादि के द्वारा जो गीतकविधि आदि दश अङ्गों को दिखाया गया है, उनका क्रम से लक्षण लिखते हैं—

अनुवाद— देवताओं के कीर्त्तन के लिए गीतक विधि का प्रयोग किया जाता हैं ॥ २१ ॥

अभिनव--कीर्त्तन का अर्थ स्तुति है। कीर्त्तन में हेतु अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है। इसके बाद शुष्काक्षर शब्द से निर्गीतकों में से किसी एक का अथवा वर्धमान गीत का प्रयोग करना चाहिए। इसके उपयोगी तालों का निरूपण ३१वें अध्याय में करेंगे ॥ २१ ॥

अनुवाद—क्योंकि नान्दी पाठ करने वाले इस रंगमञ्च पर सबसे पहिले प्रयोग (अभिनय) का उत्त्थापन करते हैं। इसलिए इसे उत्त्थापन कहते हैं ॥२२॥

अभिनव—वहाँ (रङ्ग पर) यदि प्रत्याहार आदि अङ्गों का प्रयोग करना है तो उसे पूर्वरङ्ग विधान में करना चाहिए। क्योंकि क्रम तो सिद्ध है। नान्दी का पाठ करने वाले से तात्पर्य है कि उससे उपलक्षित पूर्वरङ्ग के क्रम के द्वारा ही नान्दी पाठ करना चाहिए। इसलिए प्राचीन कवियों ने लिखा है कि "नान्दी के अन्त में सूत्रधार प्रवेश करता है" ॥ २२ ॥

---

१. क-त. गेयविधिस्तथा ।

२. [अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युत्थापनविधिक्रियाम् ।] यह आधा श्लोक कुछ संस्करणों में नहीं मिलता है और इसकी व्याख्या भी नहीं की गई है और इसकी उपयोगिता भी नहीं दिखाई देती। क्योंकि इसके पूर्व गीतक का लक्षण दिया गया है जो यवनिका के बाहर रङ्ग पर किये जाने वाले दश अङ्गों में से एक अङ्ग है उसका द्वितीय अङ्ग उत्त्थापन है। अतः गीतक के लक्षण कहने के बाद उत्त्थापन का लक्षण कहना चाहिए।

३. ख. ग. घ. आदौ यस्मादुत्थापयन्त्यादौ । ४. क-भ. तदुपलक्षितपूर्वद्वारेणैव ।

यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य[1] चतुर्दिशम् ।
वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च[2] परिवर्तनम् ॥ २३ ॥
आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात्प्रयुज्यते[3] ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता[4] ॥ २४ ॥

अहरहश्चैषां प्रयोगे प्रयोज्या । एवं च नित्यमेवंरूपमेव । अन्यपाठ्यानामुत्थापनादीनां प्रयोगवशादन्यथात्वोपपत्तिर्दृश्यते । न तु नान्दीपाठस्येति नित्यशब्दस्याभिप्रायः । आदिग्रहणात्प्रेक्षापतिप्रभृतयः । एषैव च नान्दी भारत्यङ्गनिरूपणे प्ररोचनेति निर्देक्ष्यते-"जयाभ्युदयिनी चैव मङ्गल्या" (ना. शा. २०-२७) इत्यादिना ।

अनुवाद—क्योंकि सूत्रधार चारों ओर घूमकर इन्द्रादि लोकपालों की बन्दना करता है । इसलिए उसे 'परिवर्त्तन' कहते हैं ॥ २३ ॥

अनुवाद—क्योंकि जहाँ पर देवता, द्विज, राजा आदि के आशीर्वचनों से युक्त नित्य स्तुति की जाती है इसलिए उसे 'नान्दी' कहते हैं ॥ २४ ॥

अभिनव--श्लोक में पठित नित्य शब्द का अभिप्राय है कि प्रतिदिन अभिनय के प्रयोग में नान्दी का पाठ करना चाहिए । इस प्रकार नित्य उसी प्रकार उसी रूप में पाठ करना चाहिए । उत्थापन आदि अन्य पाठों की तो प्रयोगवश अन्यथा उपपत्ति भी देखी जाती है अर्थात् पूर्वरङ्ग के उत्थापन आदि अन्य अङ्गों का तो कभी-कभी प्रयोग नहीं भी होता है । किन्तु नान्दी पाठ की यह स्थिति नहीं है । नान्दी का तो नित्य प्रयोग करना चाहिए । यह नित्य शब्द का अभिप्राय है । 'देवद्विजनृपादीनां' में आदि शब्द से प्रेक्षापति प्रभृति का ग्रहण होता है । यही नान्दी भारती वृत्ति के अङ्गों के निरूपण में प्ररोचना नाम से निर्दिष्ट किया जायगा अर्थात् भारती वृत्ति के अङ्गों के निरूपण में नान्दी का प्ररोचना नाम से निर्देश करेंगे—

"पूर्वरङ्ग में प्रयोग की जाने वाली प्ररोचना जय, अभ्युदय, मङ्गल और विजय को देने वाली तथा समस्त पापों को नष्ट करने वाली है ।" (ना० शा० २८।१२) ।

---

१. क-अ. परिवर्त्य । २. ख. घ. तस्मात्तु । क-अ. त. तस्माद्धि ।

३. ख. ब. प्रवर्तते । क-ब. प्रपूज्यते ।

४. इतः परं ग. पुस्तके-"नान्दीपदानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं प्रयोज्यं प्रागुक्तलक्षणम् । अन्ये तु—गीतप्रयोगादनन्तरं शुद्धे चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानप्रयोगमिच्छन्ति" । इत्यधिकं दृश्यते ।

अत्र[1] शुष्काक्षरैरेव ह्यवकृष्टा[2] ध्रुवा यतः ।
तस्माच्छुष्कावकृष्टेयं[3] जर्जरश्लोकदर्शिका[4] ॥ २५ ॥

इह तु या प्ररोचना सा तत्र भविष्यति । अत्र नान्दीपदानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं यत्प्रयोज्यं तत्पञ्चममङ्गं गणयति ।

नन्वेवं गीतकविधिः प्रथमाङ्गानन्तरमन्याङ्गमध्येऽपि च वर्धमानप्रयोगस्य चित्रेऽपि भावात्सङ्ख्याया अनवस्थानं न पदेऽपतदिति न पुनर्गणनार्हमिति न दोषः इति केचिदाहुः ॥ २४ ॥

यहाँ पर तो वह नान्दी है। वहाँ पर वही प्ररोचना माना गया है। यहाँ पर नान्दी पदों के बाद चित्रपूर्वरङ्ग विधि में जो वर्धमान का प्रयोग किया जाता है उसे पाँचवा अङ्ग गिना जाता है।

विशेष—यहाँ पर कुछ संस्करणों में निम्नलिखित पाठ अधिक मिलता है—

"नान्दीपदानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं प्रयोज्यं प्रागुक्तलक्षणम् । अन्येतु—गीतकप्रयोगादनन्तरं चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानप्रयोगमिच्छन्ति ।"

अर्थात् नान्दी पाठ के अवसर पर नान्दी के पदों के मध्य में चित्र नाम के पूर्वरङ्ग में वर्धमानक का प्रयोग करना चाहिए जिसका लक्षण पहिले कहा जा चुका है। भरत के समकालीन अन्य आचार्यों ने गीतक के प्रयोग के अनन्तर शुद्ध और चित्र दोनों प्रकार के पूर्वरङ्ग में वर्धमानक का प्रयोग माना है।

अभिनव - अब प्रश्न यह उठता है कि जब शुद्ध और चित्र दोनों प्रकार के पूर्वरङ्गों में वर्धमानक का प्रयोग होगा तो संख्या में अनवस्था दोष हो जायगा, इस पर कहते हैं कि वर्धमान गीतक विधि का प्रथम अङ्ग प्रत्याहार के बाद अथवा किसी अन्य अङ्गों के मध्य में और चित्र पूर्वरङ्ग में भी वर्धमानक गीत का प्रयोग होने से संख्या का अनवस्थान नहीं होगा, इसलिए फिर गणना करने की आवश्यकता नहीं है, अतः यहाँ कोई दोष नहीं है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं ॥ २४ ॥

अनुवाद—यहाँ पर अवकृष्टा ध्रुवा शुष्काक्षरों से संयोजित की जाती है इसलिए इसे शुष्कावकृष्टा ध्रुवा कहते हैं। यह ध्रुवा जर्जर श्लोक की दर्शिका है ॥ २५ ॥

---

१. ख. यत्र । क-अ. अयं श्लोको नास्ति । २. ख. घ. ह्यपकृष्टा ।

३. ख. अवकृष्टेव । घ. अपकृष्टेव ।

४. ख. घ. दर्शिता । इतः परं क-थ. त. पुस्तके—"न च गुर्वक्षराणीह षड्लघूनि द्वयं गुरोः । शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला त्वष्टौ प्रमाणतः ॥ यथा—दिग्ले दिग्ले दिग्ले दिग्ले जंबुक जगतिकझष्टुम्" इत्यधिकं दृश्यते ।

(¹शुष्कावकृष्टैवादिष्टा। असावेव च लक्षिता। अवकृष्टायास्त्वनुवादद्वारेण लक्षणं मन्तव्यम्। अन्यथा वक्ष्यमाणं)

"युक्तायामपकृष्टायां प्रीता नागा भवन्ति हि।
तथा शुष्कावकृष्टायां प्रीतः पितृगणो भवेत्॥" (ना० शा० ५-५०)

इति तन्निर्विषयं स्यात्। तत्रावकृष्टाया लक्षणम्—

"मुखप्रतिमुखोपेता ²ह्यवकृष्टा विधीयते॥" (ना० शा० ३२-१२)

इति तालविधिः।

³अन्यभावेषु कृष्टश्च द्रव्यहेतुषु पठ्यते।
यस्मात्कारुण्यसंयुक्ता ⁴हृयवकृष्टा भवेत्ततः" (ना० शा० ३२-३३५)

इति वाक्यार्थगानेतिकर्तव्यताविधिवृत्तस्वरूपं शम्यादेर्योजनं चाग्रेऽस्या वक्ष्यते। तदेतस्यां प्रयुक्तायां तदनन्तरं नाटचम्। ईदृश्येव शुष्काक्षरैः प्रयोज्या। तत्रावकृष्टात्वसामान्यात् ⁵पृथगवगते क्रमपातैर्जर्जरश्लोकदर्शिका ⁶यत्त-

अभिनव—यहाँ शुष्कावकृष्टा का ही आदेश दिया है और इसी का लक्षण किया गया है। अवकृष्टा के अनुवाद के द्वारा शुष्कावकृष्टा का लक्षण जानना चाहिए। अन्यथा आगे कहा जाने वाला—

"अवकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग से नाग प्रसन्न होते हैं और शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग से पितरगण प्रसन्न होते हैं।" (ना० शा० ५।५०)

यह कथन निर्विषय हो जाएगा। अब अवकृष्टा ध्रुवा का लक्षण कहते हैं—

"मुख और प्रतिमुख से युक्त अवकृष्टा ध्रुवा होती है।" (ना० शा० ३२।२१)

और भी—

"कारुण्य भाव में और अन्य भावों अर्थात् चित्तवृत्तियों के अवसाद रूप भावों में, विप्रलम्भ, भयानक आदि भावों में, निर्वेद, ग्लानि, शम, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों में जो उत्कृष्ट करके गाया जाता है, उसे अवकृष्टा ध्रुवा कहते हैं।" (ना० शा० ३२।३३५)।

१. क-म. भ. शुष्कानुकारेणादिष्टा। इह चासावेव लक्षिता। अन्या त्वनुवादद्वारेण। अन्यावान्तरकालं यद्वक्ष्यते॥
२. क. ह्यपकृष्टा।
३. क. म-भ अन्यभावेषु कृष्टश्च कृष्टहेतुषु गीयते।
४. क-म. भ. हृयपकृष्टास्तु पाततः। ५. क. पृथक्गताते।
६. क. यतस्तदनन्तरम्।

यस्मादभिनयस्त्वत्र[1] प्रथमं ह्यवतार्यते[2] ।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥ २६ ॥

दनन्तरम् । शुष्कावकृष्टेयमिति । असाववकृष्टा ध्रुवा । सा तस्माच्छुष्कावकृष्टा । आह । हि यस्मात् । अत्रेति अस्याङ्गतायाम् । अवकृष्टस्य (अवकृष्टा) समस्ततल्लक्षणणोपेता केवलं शुष्कैरक्षरैरनर्थकैः झण्टुमाद्यैः ।

अन्ये त्वेकस्यामेव ध्रुवायां शुष्कावकृष्टत्वधर्मद्वयविषयोऽयं "युक्तायामपकृष्टायाम्" इति श्लोको भविष्यतीति मन्यन्ते । उपाध्यायास्तु शुष्कायामवकृष्टायामेवान्तर्भूतं फलं वक्ष्यते । अत्र तु शुष्कैव लक्ष्यते । अनेन च लक्षणेनावकृष्टापि सूचिताऽत्रेति इयमिति च पदाभ्याम् ॥ २५ ॥

अभिनीयत इत्यभिनयो रूपकविशेषः । सोऽवतार्यते संक्षेपेण तस्यार्थप्रयोजनादिनिरूपणपाठ्यद्वारेण तथैव चाभिनयः क्रियते यत्र तद्रङ्गस्य भाविनो रूपकस्य द्वारमिव [3]रङ्गद्वारमुत्थापनाङ्गे सामान्येन नाट्यमुत्थापितम् । इह तु रूपकविशेषेण भेदः ॥ २६ ॥

इस प्रकार वाक्यार्थगान, इतिकर्त्तव्यताविधि, वृत्तस्वरूप और शम्या आदि की योजना इसके आगे कहेंगे। इस अवकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग होने के बाद नाट्य का प्रयोग होता है। इस प्रकार की अवकृष्टा ध्रुवा शुष्काक्षरों से प्रयोज्य है। क्योंकि वहाँ अवकृष्टात्व में समानता है। अवकृष्टा ध्रुवा में जर्जर सम्बन्धी श्लोक का निर्देश है। इस ध्रुवा में शुष्काक्षरों का प्रयोग होता है, इसलिए इसे शुष्कावकृष्टा कहते हैं। यहाँ पर अर्थात् शुष्कावकृष्टा अवकृष्टा के समस्त लक्षणों से युक्त है, केवल 'झण्टुम्' आदि शुष्क अर्थात् अनर्थक अक्षरों का प्रयोग होने से शुष्कावकृष्टा कहलाती है।

अन्य आचार्य तो मानते हैं कि एक ही ध्रुवा गीत में शुष्कत्व और अवकृष्टत्व धर्मों के एक साथ प्रयोग होने से 'युक्तायामवकृष्टायाम्' यह श्लोक होगा। उपाध्याय जी का शुष्कावकृष्टा में ही दोनों धर्मों का फल अन्तर्भूत मानते हैं। यहाँ पर शुष्क का लक्षण कहते हैं। इस लक्षण से अवकृष्टा का भी लक्षण सूचित होता है अर्थात् यहाँ पर 'अत्र' और 'इयम्' पद से शुष्का और अवकृष्टा दोनों के लक्षण का निर्देश है ॥ २५ ॥

अनुवाद—क्योंकि यहीं से सर्वप्रथम वाचिक और आङ्गिक अभिनय का अवतरण (आरम्भ) किया जाता है। इसलिए इसे रङ्गद्वार कहते हैं ॥ २६ ॥

---

१. क-न. यस्मादभिनयो ह्यत्र। क-अ. द. म. यस्मादभिनयस्तत्र ।
२. क-अ. द ह्यवधार्यते ।
३. क. रङ्गद्वारादुत्थापनाङ्गे ।

शृङ्गारस्य प्रचरणाच्चारी सम्परिकीर्तिता ।
[1]रौद्रप्रचरणाच्चापि महाचारीति कीर्तिता[2] ॥ २७ ॥
विदूषकः सूत्राधारस्तथा वै पारिपार्श्वकः ।
यत्र कुर्वन्ति सञ्जल्पं [3]तच्चापि त्रिगतं मतम्[4] ॥ २८ ॥

शृङ्गारस्येति शृङ्गारप्रधानं भगवतो महादेव्या सह चरितं वर्ण्यते काव्ये च तत्स्तुतिप्रधाने तदेव यत्राङ्गहारचार्यादिना प्रदर्श्यते सा चारी । [5]भगवतस्त्रिपुरमर्दनादीव गीतं रौद्ररसभूयिष्ठं यत्र काव्ये वर्ण्यते स्तुतिरूपेण तद्यत्र तदुचितैरेवोद्धतैर्मण्डलाङ्गहारैः च युज्यते सा महाचारी ॥ २७ ॥

अभिनव—अभिनय किया जाता है इसलिए अभिनय रूपक विशेष कहा जाता है । उसका अवतरण किया जाता है अर्थात् संक्षेप में रूपक के अर्थ तथा प्रयोजन आदि का पाठ्य के द्वारा उसी प्रकार जहाँ अभिनय किया जाता है । इस प्रकार रङ्ग के द्वार के समान भावी रूपक का द्वार होने से रङ्गद्वार है । उत्थापन रूप अङ्ग में सामान्य रूप से नाट्य का उत्थापन होता है अर्थात् रूपक की वस्तु का उत्थापन किया जाता है और यहाँ तो रूपकविशेष के साथ । यही दोनों में भेद है ॥ २६ ॥

अनुवाद—शृङ्गार रस का प्रचरण (प्रसार) होने के कारण चारी कहा जाता है और रौद्र रस का प्रचरण होने के कारण महाचारी कहा जाता है ॥ २७ ॥

अभिनव—जहाँ पर भगवान् शङ्कर एवं देवी पार्वती का शृङ्गार-प्रधान चरित का स्तुति रूप में वर्णन किया जाता है और उसीका जहाँ पर अङ्गहार, चारी आदि के द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसे चारी कहते हैं । इस प्रकार शङ्कर के त्रिपुरमर्दन से सम्बद्ध रौद्र-रस-प्रधान चरित्र का जिस काव्य में स्तुति के रूप में वर्णन किया जाता है और उसका जब उद्धत अङ्गहारों के द्वारा प्रदर्शन किया जाता है तो उसे 'महाचारी' कहते हैं । इसमें रौद्र रस का प्रसारण होता है इसलिए इसे 'महाचारी' कहते हैं । इसी प्रकार जिस नृत अङ्गहारों के प्रयोग में शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति होती है उसे चारी कहते हैं ॥ २७ ॥

---

१. ग. रौद्रप्रचारणाच्चापि । २. क-न. संज्ञिता ।
३. ख-घ. तत्रापि । ४. ख-घ. स्मृतम् ।
५. क-म. भ. रुद्रस्य त्रिपुरान्तकप्रभृतिपूजाकर्ण्यवक्तृन् रोचयते यत्कर्म तत्प्रध्वंसनादि तदभिधायकं काव्यं यत्र ।

उपक्षेपेण [1]काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया[2] ।
सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना ॥ २९ ॥

विदूषक इति । पारिपार्श्विकयोरन्यतरो विदूषकवेषभाषाचारो विदूषकः । सञ्जल्पो भविष्यन्नाटकादिविशेषो यद्यप्युक्तः तथापि तद्विशेषो नागानन्दादिभिः विवक्षित इत्यपौनरुक्त्यम् । स एव काव्योपक्षेपस्त्रिषु समायत्तत्वात्त्रिगत-शब्देनोक्तः ॥ २८ ॥

तेन काव्योपक्षेपेण हेतुभूतेन तद्विषये सामाजिकानां या आमन्त्रणा निमन्त्रणं सिद्धेन सिद्धयोपलक्षितमित्यर्थः । यस्मात्खल्वतः प्रीत्युत्पत्तिर्भविष्यति तस्मादवलोक्यतामेतदिति सा प्ररोचना प्रकृष्टरुचिहेतुभूतत्वात् । न तद्वचना-त्प्रवृत्तिर्भवतीत्याह—हेतुयुक्तीति । हेतोर्या युक्तिर्योजना संक्षेपेणाभिधानं तन्नि-मित्तमस्या इति ।

अनुवाद—जहाँ पर सूत्रधार, विदूषक और पारिपार्श्विक परस्पर संलाप करते हैं उसे 'त्रिगत' कहते हैं ॥ २८ ॥

अभिनव—दो पारिपार्श्विकों में से एक पारिपार्श्विक विदूषक के समान वेश-भूषा को धारण करता है, उसी प्रकार भाषा का व्यवहार करता है और उसी के समान आचरण करता है वह विदूषक कहलाता है । भविष्य में खेले जाने वाले नाटक विशेष के सम्बन्ध में बतलाना 'संजल्प' कहा जाता है । यद्यपि यह पहिले कहा जा चुका है तथापि वह विशेष 'नागानन्द' आदि के द्वारा विवक्षित है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं है । वही काव्य का उपक्षेप तीनों सूत्रधार, पारिपार्श्विक और विदूषक के अधीन होने से 'त्रिगत' शब्द से कहा गया है ॥ २८ ॥

अनुवाद—जहाँ पर सूत्रधार हेतु (कारण) और युक्तिपूर्वक नाट्य-वस्तु के उपक्षेपण (प्रारम्भ) के द्वारा सिद्धि से उपलक्षित कथन से आमन्त्रण किया जाता है उसे 'प्ररोचना' कहते हैं ॥ २९ ॥

अभिनव—हेतुभूत अर्थात् प्रयोजन तथा उद्देश्य के साथ नाट्यवस्तु के उपक्षेप से नाटक के विषय में सिद्धि से उपलक्षित सामाजिकों को आमन्त्रित करना (प्ररोचना है) । यहाँ पर 'सिद्धेन' पद का अर्थ सिद्धि से उपलक्षित है । क्योंकि उससे आप लोगों को प्रसन्नता होगी, इसलिए इस नाटक को देखिए । सामाजिकों में प्रकृष्ट रुचि का कारण होने से इसे 'प्ररोचना' कहते हैं । उसके कथन से प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए कहते हैं कि हेतु की जो युक्ति अर्थात् योजना का संक्षेप कथन ही प्रकृष्ट रुचि के उत्पादन का कारण है ।

---

१. क-म कार्यस्य । २. क-त. हेतुयुक्तिव्यपाश्रया ।

एवमेतानि बहिर्यवनिकाङ्गान्यपि दश दृष्टफलान्येव । तथा हि गीतक-वर्धमानान्युपजीव्य ध्रुवागानं नाट्यमिति प्रकृतेरुपजीव्यत्वादवश्यं प्रथमं बुद्धौ [1]कर्तव्यम् । ततोऽपि यदारभ्यते तदा बुद्धौ निवेश्यं तावत् सामान्ये । ततः सदाचारपालनाय देवतावन्दनम् । ततः परमाशीर्वादनमभिमुखीकरणार्थम् । ततोऽपि शङ्क्यमानविघ्नशान्त्युपकरणीभूतस्योत्तेजनम् । ततोऽपि विशेषेण प्रयोक्तव्यानुसन्धानम् । ततोऽपि शृङ्गारवीरयोः सर्वत्र रञ्जकपरमपुमर्थताप्रकर्षादुपक्षेपः । तदपि नाट्यविनेयसुकुमारजने [2]स्वच्छन्दताकरसर्वरञ्जकहास्यप्राधान्येन काव्यविशेषे भवदभिधेयानुसन्धानम् । तस्यापि प्रयोजननिरूपणम् ।

एवं यथा शास्त्रं कुर्वतामादिवाक्यपरिग्रहो लौकिकस्य वा कर्तव्यविषयमनुसन्धानं तथैव नाट्यारम्भे गीतकपिण्ड्यादिप्ररोचनान्तं लौकिकानुसार्येव । नात्र कस्यचिदङ्गस्य सामर्थ्यलक्ष्यत्वादि चोदनीयम् । सुकुमारजनविषयत्वादस्य प्रयोगस्य । तस्मान्नालौकिकं किञ्चिदेतत् । केवलं नाट्यस्य रचनाप्राधान्याद्वैचित्र्येण योजनीयमदृष्टसम्पत्तये चेति मन्तव्यमित्यलं बहुना ॥ २९ ॥

इस प्रकार बहिर्यवनिका के अर्थात् यवनिका के बहिर्भूत गीतक आदि दश अङ्ग दृष्ट फल वाले हैं और भी गीतक, वर्धमानक के उपजीव्य ध्रुवागान नाट्य है, इस प्रकार प्रकृति का उपजीव्य होने के कारण पहिले बुद्धि में रखना चाहिए। उसके बाद भी जब नाटक आरम्भ किया जाता है उस समय उसे सामान्य रूप से बुद्धि में रख लेना चाहिए अर्थात् बुद्धि से सोच लेना चाहिए कि इस प्रकार का अभिनय करना है। इसके बाद सदाचार-पालन के लिए देवता की वन्दना करनी चाहिए, फिर अभीमुखीकरण के लिए शुभाशीर्वचन का कथन; फिर उसके बाद भी आशङ्कित विघ्नों की शान्ति के उपकरणों के लिए उत्तेजित तैयार हो जाना, उसके बाद भी अभिनेय वस्तु का विशेष रूप से अनुसन्धान करना, फिर भी सभी जगह रञ्जक एवं परमपुरुषार्थ के प्रकर्ष श्रृङ्गार और वीर रस का उपक्षेप करना, फिर नाट्य के विनेय (शिक्षा के योग्य) सुकुमार जनों तथा स्वतन्त्रतापूर्वक सभी लोगों के अनुसन्धान करना और उसके प्रयोजन का निरूपण करना।

इस प्रकार जैसे शास्त्र के अनुसार कार्य करने वालों के आदि (वाक्य आदि कथन) का परिग्रह अथवा लौकिक जनों के कर्त्तव्य विषयक (कर्तव्य के सम्बन्ध में) अनुसन्धान किया जाता है उसी प्रकार नाट्य के आरम्भ में गीतक, पिण्डी आदि से लेकर प्ररोचना पर्यन्त सभी कार्य लौकिक विधि के अनुसार ही होते हैं। यहाँ पर किसी

१. कृति…… । २. स्वच्छन्दतासर्वरञ्जक हास्यप्रधानेन ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि[1] ह्याश्रावणविधिक्रियाम् ।
बहिर्गीतविधौ सम्यगुत्पत्ति[2] कारणं तथा ॥ ३० ॥
[3]चित्रदक्षिणवृत्तौ तु सप्तरूपे प्रवर्तिते[4] ।
सोपोहने सनिर्गीते देवस्तुत्यभिनन्दिते ॥ ३१ ॥
[5]नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः सभायां देवदानवाः ।
[6]निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम् ॥ ३२ ॥

ननु भवत्वेवम् । किञ्चारम्भाश्रावणादौ बहिर्गीतशब्दस्वरूपम् । [पदार्थः] (तदर्थः) कोऽत्र पदार्थः । तदयमर्थः—तेषामाश्रावणादीनां विधौ क्रियां प्रयोगरक्षात्मिकां बहिर्गीतशब्दस्य च वाचकत्वेन विधाने उत्पत्तिं बहिर्गीतस्य च विधौ प्रयोगे प्रयोजनरूपं कारणं वक्ष्यामि ॥ ३० ॥

तत्पुराकल्पद्वारेणाह—चित्रेत्यादिना श्लोकैकादशकेन "बहिर्गीतमिति स्मृतम् ।" इत्यन्तेन (५।४१) ।

अङ्ग का शास्त्रीय सामर्थ्य एवं लक्ष्य आदि नहीं कहना है। सुकुमार मति लोगों से सम्बन्धित होने से इसका प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार इसमें कुछ भी अलौकिक नहीं है। केवल नाट्य के रचना-प्रधान होने से विचित्रता के साथ उसका प्रयोग करना चाहिए और अदृष्ट फल प्राप्ति के लिए विचित्रता के साथ उसका प्रयोग करना चाहिए, ऐसा मानना चाहिए और अधिक कहने को आवश्यकता नहीं है ॥ २९ ॥

अनुवाद—इसके बाद बहिर्गीत विधान के अन्तर्गत आश्रवणा विधि की क्रिया, उसकी उत्पत्ति और कारणों को कहूँगा ॥ ३० ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि ऐसा ही हो किन्तु आश्रवणा गीतक आदि में जो बहिर्गीत शब्द स्वरूप है उसका पदार्थ क्या है ? अत पदार्थ अर्थात् उसका अर्थ बताते हैं—उन आश्रावणा आदि के विधान में प्रयोगरक्षात्मिका अर्थात् प्रयोग (अभिनय) की रक्षा रूप क्रिया और बहिर्गीत में शब्द के वाचक रूप से विधान तथा उसको उत्पत्ति और बहिर्गीत के विधान में प्रयोजन रूप कारण को भी कहूंगा ॥ ३० ॥

इसके बाद इतिहास के द्वारा 'चित्र' इत्यादि से लेकर 'बहिगीतमिति स्मृतम्' यहाँ तक ग्यारह श्लोकों में बहिगीत की चर्चा करते हैं—

---

१. क·अ. आसारितविधिक्रियाम् । २. ख. कारणं ।
३. ख चित्तदक्षिणवृत्तौ । ग. चित्रदक्षिणवृत्ते । ४. ग. प्रकीर्तिता ।
५. ख. घ. नारदाद्यैश्च । क–त. नारदाद्यैः सगन्धर्वैः ।
६. ख. निर्गीतं श्राविता ग. निगीतं श्राविताः । क-अ. ब. उद्गीतं श्राविताः ।

तच्छ्रुत्वा तु सुखं[1] गानं देवस्तुत्यभिनन्दितम् ।
अभवन्क्षुभिताः सर्वे मात्सर्याद्दैत्यराक्षसाः ॥ ३३ ॥

गीतवाद्यगीतोभयप्रधानाः क्रमेण चित्रादयो वृत्तिमार्गाः । चित्रदक्षिणसहिता वृत्तिरिति मध्यमपदलोपी समासः । तद्विषयं यद्गीतकं सहोपोहनप्रत्युपोहनैः वर्धमाननिर्गीतेन च "आश्रावणा तथारम्भः" इत्यादिना अष्टाविंशेऽध्याये (ना. शा. २९-८२) (एकोनत्रिंशेऽध्याये) वक्ष्यमाणेन सहितं देवस्तुत्या च वाच्यभूतयाऽभितो नन्दितं समृद्धं युद्धम् । तस्मिन्प्रवर्तिते प्रयुक्ते सति तद्गानं गीयमानं सुखजनकमपि श्रुत्वा दैत्याः क्षुभिताः । कुतः ? (मात्सर्यात् । तदपि कुतः ।) आह—देवैरहो रम्यं साधु साध्वित्यादिभिः स्तुतिभिरभिनन्द्यमानं यतः । तुरप्यर्थः । केन वा प्रवर्तितं तदित्याह—नारदाद्यैरिति तदधिष्ठितैरित्यर्थः । तदिति सप्तरूपम् (ना. शा. ३१. का. मा. यु. ५२१) । लयो द्रुतादिः । तालाः शम्यादिविशिष्टाः त्र्यश्रश्चतुरश्रो मिश्रश्च ॥ ३१-३२ ॥

अनुवाद—इसके बाद चित्र, दक्षिण और वार्त्तिक मार्ग में उपोहन और निर्गीत के साथ देवताओं की स्तुतियों से अभिनन्दित मद्रक आदि सात प्रकार के गीतों के प्रवृत्त होने पर नारद आदि गन्धर्वों ने सभा में देवता और दानवों को ताल और लय से समन्वित निर्गीत (बहिर्गीत) को सुनाया ॥ ३१-३२॥

अनुवाद—देवताओं की स्तुतियों से अभिनन्दित सुखद गीत को सुनकर सभी दैत्य और राक्षस ईर्ष्या से क्षुब्ध होगये ॥ ३३ ॥

अभिनव—गीतप्रधान, वाद्यप्रधान और कभी उभयप्रधान क्रमशः चित्र, दक्षिण और वार्त्तिक तीन मार्ग हैं । यहाँ पर 'चित्रदक्षिणसहिता वृत्तिः' अर्थात् चित्र एवं दक्षिण से सहित वृत्ति मार्ग, इस प्रकार मध्यमपद लोपी समास है । यद्विषयक अर्थात् जो मार्ग विषयक गीत है । उपोहन और प्रत्युपोहन के साथ और उनतीसवें अध्याय (ना० शा० २९।८०-८२) में कहे जाने वाले वर्धमान निर्गीत के साथ और वाच्यभूत देवस्तुति से सर्वतः समृद्ध गीत के प्रवृत्त होने पर सुखजनक उस गीत को सुनकर दैत्य लोग क्षुब्ध हो गये । क्यों क्षुब्ध हुए ? कहते हैं कि देवताओं के द्वारा 'सुन्दर, बहुत अच्छा' इस प्रकार प्रशंसा किये जाने वाले गीत को सुनकार ईर्ष्या से दैत्य क्षुब्ध हो गये । यहाँ 'तु' शब्द 'अपि' के अर्थ में है । उस गीत को किसने प्रवर्त्तित (प्रयोजित) किया ? इस पर कहते हैं कि नारद आदि गन्धर्वों ने प्रवर्त्तित किया । 'तत्' अर्थात् सप्तरूप गीत विधान । लय का अभिप्राय द्रुत, मध्य, विलम्बित है और ताल से तात्पर्य शम्या आदि से विशिष्ट त्र्यस्र, चतुरस्र और मिश्र से है ॥ ३१-३२ ॥

१. ख. समं गानं । च शुभं गानं । क-अ. ततश्चानुगतं ।

सम्प्रधार्य च तेऽन्योन्यमित्यवोचन्नवस्थिताः ।
[1]निर्गीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहे वयम् ॥ ३४ ॥
[2]सप्तरूपेण सन्तुष्टा देवाः कर्मानुकीर्तनात् ।
[3]वयं गृह्णीम निर्गीतं तुष्यामोऽत्रैव सर्वदा[4] ॥ ३५ ॥

सम्प्रधार्येत्यनेन परितोष्टव्यमन्यैस्त्वत्रेति । स्थितिं कृत्वावस्थिताः । इति शब्दसूचितमुच्यमानं निर्दिशति—त्वमिति । (निर्गीतमिति) वादित्रं तद्गतं शुष्काख्यं वीणावाद्यम् । ननु किं तस्य ग्रहणे निमित्तमित्याह—तुष्याम इति । स्तुतिकीर्तनाभावेऽप्याभिमानिकेन परितोषेणेत्यर्थः । दृष्टो ह्यभिमानकृतः प्रीतौ विशेषो यथा राजाकर्णनेऽपि ॥ ३४-३५ ॥

विमर्श—भारत ने तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है—चित्रा, वृत्ति (वार्त्तिक) और दक्षिणा । इनमें चित्रा वृत्ति वाद्यप्रधान, दक्षिणा वृत्ति गीतप्रधान और वार्त्तिक वृत्ति उभयप्रधान होती है । जैसाकि दत्तिल ने कहा है—

दक्षिणावृत्तिचित्राश्च वृत्तयस्तास्त्वयं विधिः ।
प्रधानं गीतमुभयं वाद्यं चेति यथाक्रमम् ॥ (दत्तिलम्)

इनमें से चित्रा में दो, वार्त्तिक में चार और दक्षिणा में आठ मात्राओं का कला (पादभाग) माना-जाता है । अर्थात् चित्रा एककल, वार्त्तिक द्विकल और दक्षिणा चतुष्कल माना-जाता है । इनका विधान मद्रक आदि सप्तरूप गीतों में किया जाता है । नारद आदि गन्धर्वों ने सभा में ताल और लय पर आश्रित निर्गीत को देवता और दैत्यों को सुनाया । निर्गीत को बहिर्गीत कहते हैं । इसमें ताल और लय पर आश्रित निरर्थक शुष्काक्षरों का प्रयोग होता है निर्गीत एक प्रकार का शुद्ध गीत माना जाता है । 'उपोहन' गीत के आरम्भ में शुष्काक्षर मान को कहते हैं (**तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम्**) । इस गान में देवताओं की स्तुति तथा प्रशंसा की गई थी । इस प्रकार देवताओं की स्तुति एवं प्रशंसा भरे गीत को सुनकर ईर्ष्या से दैत्य लोग क्षुब्ध होगये ॥ ३१-३३ ॥

अनुवाद—इसके बाद दैत्य और राक्षसों ने परस्पर विचार करके एक दूसरे से बोले । हम लोग वाद्यों से समन्वित इस निर्गीत को ग्रहण करते हैं और देवता लोग अपने कर्मों (कार्यों) की प्रशंसा के कारण सप्तरूप गीत से सन्तुष्ट हैं । हम लोग निर्गीत को ग्रहण करते हैं और इसी में हमेशा रहेंगे ॥ ३४-३५ ॥

१. ग. निर्गीतं । क-अ. निर्जितं । २. क-त. सप्तरूपे तु ।
३. ख. ष. एवं गृह्णीम निर्गीतं तुष्यामोऽत्रैव वै वयम् ।
क-त. प. ब. वयं गृह्णीम निर्गीतमत्र तुष्यामहेतराम् ।
क-अ. द. म. वयं गृह्णीम निर्जित्य तुष्योऽत्रैव वै वयम् ।

ते तत्र तुष्टा दैत्यास्तु साधयन्ति पुनः पुनः ।
[1]रुष्टाश्चापि ततो देवाः प्रत्यभाषन्त नारदम् ॥ ३६ ॥
एते तुष्यन्ति निर्गीते दानवाः सह राक्षसैः ।
[2]प्रणश्यतु प्रयोगोऽयं कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३७ ॥
देवानां वचनं श्रुत्वा नारदो वाक्यमब्रवीत् ।
धातुवाद्याश्रयकृतं निर्गीतं[3] मा प्रणश्यतु ॥ ३८ ॥
किन्तूपोहनसंयुक्तं [4]धातुवाद्यविभूषितम् ।
भविष्यतीदं निर्गीतं [5]सप्तरूपविधानतः ॥ ३९ ॥
[6]निर्गीतेनावबद्धाश्च दैत्यदानवराक्षसाः ।
न क्षोभं न विघातं च करिष्यन्तीह तोषिताः ॥ ४० ॥

अभिनव—'सम्प्रधार्य' का अभिप्राय है कि 'इस विषय में अन्यों को सन्तुष्ट करना चाहिए'। 'अवस्थिताः' का अर्थ है, स्थिति करके अवस्थित होना। **'इति' शब्द** सूचित अर्थात् उच्यमान का निर्देश करता है। 'निर्गीतम्' से तात्पर्य है वादित्र अर्थात् शुष्कवीणावाद्य। अब प्रश्न यह है कि उसके ग्रहण करने में क्या हेतु है? कहते हैं कि इससे हम लोग सन्तुष्ट रहेंगे। स्तुति (प्रशंसा) के कथन के अभाव में भी आभिमानिक परितोष होने से। अभिमान से उत्पन्न प्रीति में विशेषता देखी गई है। जैसे राजा के चुनने पर प्रीति होती है ॥ ३४-३५ ॥

विमर्श—दैत्यों ने जब गीत को सुना तो उन्होंने आपस में विचार करके निश्चय किया कि हम लोग वीणावाद्य से समन्वित निर्गीत को ग्रहण करते हैं। सप्तरूप गीत में देवताओं की प्रशंसा है अतः उसे वे लोग ग्रहण करें ॥ ३४-३५ ॥

अनुवाद—वे दैत्यगण उसी निर्गीत से ही सन्तुष्ट होकर बार-बार उसी की मांग करने लगे। इससे रुष्ट होकर देवताओं ने नारद से कहा—हे भगवन्! राक्षसों के साथ ये दानव निर्गीत से सन्तुष्ट हैं तो यह प्रयोग नष्ट हो जायगा, इस विषय में आप क्या मानते हैं? ॥ ३६-३७ ॥

---

१. क-म. तुष्टाश्चापि । २. क-अ. द. म, प्रणश्यताम् ।
३. ग निगीतं । ४. ग-ख. धातुवाक्यविभूषितम् ।
५ ग. सप्तरूपे विधानतः ।
६. ग. निर्गीतेनावनद्धाश्च । ख. घ. निर्गीतेनावबद्धास्तु ।

[1]एवं निर्गीतमेतत्तु दैत्यानां स्पर्धया द्विजाः ।
देवानां बहुमानेन बहिर्गीतमिति[2] स्मृतम् ॥ ४१ ॥

तत्रेति निर्गीते । साधयन्ति । साधनं सिद्धं ब्रुवते ॥ ३६-३७ ॥

(धातुवाद्यश्रयकृतमिति) धातवस्तन्त्रीविशेषाङ्गुलिविशेषसंयोगजा वैणवस्वराः । रञ्जनया अदृष्टविशेषस्य (दृष्टविशेषस्य) क्रमेण चतुष्टयपृथक्कृता विस्तारव्यञ्जनाविद्धकरणसंज्ञा । धातुवाद्यं सप्तभेदलक्षणम् । तस्य यदाश्रयणं तेन हेतुना कृतमिति चित्रम् । तत्तादृशेनादृष्टेन को गुणो न त्वदृष्टे स्तुतिनिरूपणेषु यद्विधानं तेन हि पूर्वमध्यान्तेषु प्रयुज्यमानेन वीणावाद्यवैचित्र्यावकाशदायिना ॥ ३८-३९ ॥

एवमविनाशकारणं प्रतिपाद्य संज्ञानिर्वचनं रूपयति—एवमिति ।

अभिनव—'तत्र' का अर्थ है निर्गीत में। 'साधयन्ति' का अर्थ है सिद्ध करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

अनुवाद—तब देवताओं के वचन को सुनकर नारद ने कहा—धातु वाद्यों पर आश्रित यह निर्गीत नष्ट न हो, किन्तु यह गीत आगे उपोहन से युक्त और धातुवाद्यों से विभूषित सप्तरूप विधान के अनुसार होगा। तब इस निर्गीत से आबद्ध (आकर्षित) होने के कारण ये दैत्य, दानव तथा राक्षस सन्तुष्ट होकर न तो क्षोभ करेंगे और न (नाट्य का विध्वंस) विनाश करेंगे ॥ ३८-४० ॥

अभिनव—'धातुवाद्याश्रयकृतम्' का अर्थ है—'धातुवाद्यों पर आश्रित'। धातु का अभिप्राय है तन्त्री विशेष पर अङ्गुलिविशेष के संयोग से उत्पन्न वीणा का स्वर। दृष्ट विशेष रञ्जन के क्रम से विस्तार, व्यञ्जन, आविद्ध और करण नामक चार करण पृथक् पृथक् निर्दिष्ट हैं। (धातुओं का निर्माण करणों से होता है। करणों को आधुनिक भाषा में 'बोल' कहते हैं)। धातुवाद्य के सात भेद हैं अर्थात् धातुवाद्य सप्तरूप होता है। उसका जो आश्रय, उस हेतु से रचित अर्थात् सप्तरुप धातुवाद्य के आश्रय से रचित गीत (निर्गीत)। इस प्रकार के दृष्ट अथवा अदृष्ट फल वाले इस धातुवाद्य से क्या लाभ है? अथवा क्या हानि है? क्योंकि स्तुति के निरूपण में जो विधान है उसके पूर्व, मध्य एवं अन्त्य में प्रयोग होने से वीणावादन में विचित्रता को अवकाश देने के कारण यह धातुवाद्य है ॥ ३८-३९ ॥

इस प्रकार अविनाश अर्थात् विध्वंस न होने का कारण कहकर अब संज्ञा का निर्वचन निरूपित करते हैं—

अनुवाद—हे द्विजों! इस प्रकार दैत्यों की स्पर्द्धा के कारण यह गीत (निर्गीत) देवताओं के बहुमान होने से 'बहिर्गीत कहा गया है ॥ ४१ ॥

---

१. ख. घ. एतन्निर्गीतमेवं तु । २. ख. बहु गीतमिदं । घ. बहिर्गीतमिदं ।

धातुभिश्चित्रवीणायां गुरुलध्वक्षरान्वितम् ।
वर्णालङ्कारसंयुक्तं प्रयोक्तव्यं बुधैरथ ॥ ४२ ॥

निर्गीतमिति तावदाद्यं नाम । निरर्थकं गीतमिति । तत्तु गन्धर्वैर्बहिर्गीतमिति स्मृतम् । कुतो दैत्यानां स्पर्धयेति । तत्कृतोऽयं स्वीकारः । ततो हेतोः ।

ननु यदि स्वीकृतं ततः किमित्येषा संज्ञा कृता । अत आह –देवानामिति । देवकर्मकं यद्बहुतयोत्कृष्टतया मननं तेन प्रयोजनभूतेन । वयं देवान्दानवेभ्यो बहुत्वेन मन्यामहे । तथा चेदं नाभ्यन्तरं बाह्यं गीतमस्माभिर्गीयत इति तैरेव वेदितव्यमित्यर्थः ॥४१॥

ननु सप्तरूप एव किमिदं प्रयोज्यम् । नेत्याह—धातुभिरिति ।

चित्रा नाटचोपरञ्जनार्था या वीणा तस्यामप्येतद्धातुभिरुक्तस्वरूपैः (करतलनिष्कोटितादिभिः) उपलक्षितं प्रयोज्यम् । कथम् । भाण्डवाद्ये गत्यर्थं यानि गुरूणि "घृत् वृङ" इत्यादिकानि लघूनि "मट कट" इत्यादिकानि । तत्रान्वितं कृत्वा । अनेन भाण्डवाद्योपरञ्जकत्वमुक्तम् । तथा ध्रुवागाने ये स्थाय्यादयो वर्णा ये च प्रसन्नादिप्रभृतयोऽलङ्कारास्तत्र सम्यग्युक्तं संबद्धं कृत्वा । अनेन गानोपरञ्जकत्वं दर्शितम् । अथ शब्दोऽप्यर्थें । योजितः पूर्वैरिति (बुधैरिति) योजनाकुशलैः ॥ ४२ ॥

अभिनव—'निर्गीत' यह प्रथम नाम है । निर्गीत का अर्थ है निरर्थक गीत । उसे गन्धर्वों ने बहिर्गीत कहा है । ऐसा क्यों ? दैत्यों के स्पर्द्धा के कारण इस गीत को निर्गीत कहा गया है और देवताओं के सम्मान के रूप में उसे 'बहिर्गीत' स्वीकार किया गया है ।

अब प्रश्न यह है कि जब उन्होंने (देवताओं ने) इसे स्वीकार कर लिया तो 'बहिर्गीत' नाम क्यों रखा ? इस पर कहते हैं'—देवानामित्यादि । देवविषयक जो अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से मनन है, इस कारण अर्थात् हम लोग देवताओं को दानवों की अपेक्षा अधिक मानते हैं । इसलिए देवताओं के सम्मान के लिए ऐसा किया है और इस आभ्यन्तर गीत को नहीं, अपितु बहिर्गीत का हमलोग गान करते हैं, इस प्रकार उन्हें समझना चाहिए ॥ ४१ ॥

अब पुनः प्रश्न होता है कि क्या सप्तरूप में ही इसका प्रयोग करना चाहिए । नहीं, इसपर कहते है—

अनुवाद—विद्वानों अर्थात् संगीतज्ञों के द्वारा 'चित्र' नामक वीणा पर धातुओं से गुरु और लधु अक्षरों से समन्वित तथा वर्ण और अलङ्कारों से संयुक्त इस गीत का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४२ ॥

[1]निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात् ।
असूयया च देवानां [2]बहिर्गीतमिदं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

ननु निर्गीतसंज्ञाऽस्य या पुराणी तत्र किन्निमित्तमित्याशङ्क्याह – निर्गीतमिति ।

पदमित्यर्थप्रत्यायकमित्यर्थः । वर्णा झण्टुमादयः स्थाय्यादयश्च । ननु लक्षणाभ्यन्तर एव तदिति कथं बाह्यमित्याशङ्क्याह - असूयया चेति । तैर्यतोऽसूयित बलादेवाविष्कृतबहुमानैः अतस्तदीयहृदयग्रहणायैवं व्याहृतम् । न च सर्वथा निर्निबन्धनमेवेदमिति दर्शयितुं चकारेणान्वर्थताप्यस्तीति सूचयति । गीयमानेभ्यः पदेभ्यः सार्थकेभ्यो पदेभ्यो बहिर्गीतमिति ॥ ४३ ॥

अभिनव—नाट्य के उपरञ्जन के लिए जो चित्रा वीणा है। उस पर उपर्युक्त अर्थात् ऊपर बताये गये धातुओं से उपलक्षित इसका प्रयोग करना चाहिए। कैसे प्रयोग करना चाहिए ? इस पर कहते हैं कि भाण्डवाद्य में गति के लिए जो गुरु अक्षर 'धृत् दृङ्' इत्यादि और लघु अक्षर 'कट मट' आदि हैं, उन्हीं का तन्त्रीवाद्यों में अन्वित करके प्रयोग करना चाहिए। इससे भाण्डवाद्य की रञ्जकता होती है और ध्रुवागान में जो स्थायी आदि वर्ण और प्रसन्नादि प्रभृति जो अलङ्कार है, उन्हें अच्छी तरह से युक्त (सम्बद्ध) करके प्रयोग करना चाहिए। इससे गान अधिक रञ्जक (आकर्षक) हो जाता है, यह दिखाया गया है। यहाँ 'अथ' शब्द 'अपि' (भी) अर्थ में है। 'योजित' का अर्थ है योजना में कुशल विद्वानों द्वारा प्रयोग करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अनुवाद—क्योंकि यह पदहीन अर्थात् निरर्थक वर्णों की योजना से गाये जाने के कारण इसे 'निर्गीत' कहा जाता है और देवताओं को ईर्ष्या के कारण इसे 'बहिर्गीत' कहा जाता है ॥ ४३ ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि इसकी जो पुरानी 'निर्गीत' संज्ञा (नाम) है, उसका निमित्त क्या था ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—'निर्गीतम्' इत्यादि ।

अभिनव—'पदम्' इस पद अर्थ का प्रत्यायक है। वर्ण से स्थायी आदि तथा झण्टुम् आदि वर्ण अभिप्रेत है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह तो लक्षण के भीतर ही है तो उसको 'बाह्य' कैसे कहते हैं ? इस पर कहते हैं कि–असूया से अर्थात् उन लोगों ने ईर्ष्या की थी अर्थात् बलात् अभिमान से ईर्ष्या की थी। अतः उनके हृदय को आवर्जित (ग्रहण) करने के लिए ऐसा कहा है। किन्तु यह सर्वथा निर्निबन्धन (निरर्थक) नहीं है, यह दिखाने के लिए चकार से इसकी अन्वर्थता भी है यह सूचित होता है। ४३ ॥

१. क-अ. निर्गीयतेऽतो निर्गीतमपदं वल्गु योजयेत् ।
२. ग. बहिर्गीतमिति स्मृतम् ।

निर्गीतं यन्मया प्रोक्तं सप्तरूपसमन्वितम् ।
उत्थापनादिकं यच्च तस्य कारणमुच्यते ॥ ४४ ॥
[[1]प्रत्याहारे यातुधानाः प्रीयन्ते सह पन्नगैः]
[तुष्यन्त्यप्सरसस्तत्र कृतेऽवतरणे द्विजाः ।
आश्रावणायां युक्तायां दैत्यास्तुष्यन्ति[2] नित्यशः[3]] ।
[4]वक्त्रपाणौ कृते चैव नित्यं तुष्यन्ति दानवाः ॥ ४५ ॥

एवमविनाशकारणं संज्ञानियोजननिमित्तं च तेनैव क्रमेणाभिधाय प्रतिजानीते—निर्गीतमित्यादिना ।

आश्रवणादि निर्गीतं सप्तरूपसमन्वितम् । इति गीतकविधिः । उत्थापनादिकमित्यवशिष्टं बहिर्यवनिकाङ्गम् । तस्य कारणं प्रयोजनम् ॥ ४४ ॥

तद्दर्शयति—आश्रावणायामित्यादिना भूतगणो भवेदित्यन्तेन श्लोकाष्टकेन ।

इस प्रकार प्रयाग के विनाश न होने के कारण और संज्ञा नियोजन अर्थात् निर्गीत इस नामकरण के निमित्त को क्रम से कह कर प्रतिज्ञा करते है—

अनुवाद—मैंने सप्तरूप से समन्वित जिस निर्गीत को कहा है और उत्थापन आदि का जो अभिधान किया है अब उसके कारण को कहता हूँ ॥४४॥

अभिनव—आश्रावणा आदि निर्गीत सप्तरूप से समन्वित है । यह गीतक विधि है । बहिर्यवनिका के उत्थापन आदि अङ्ग अवशिष्ट हैं । अब उनके कारणों को कहता हूँ ॥ ४४ ॥

[अनुवाद—प्रत्याहार के प्रयोग किये जाने पर पन्नगों के साथ यातुधान (राक्षस) प्रसन्न होते हैं । 'अवतरण' नामक अङ्ग का प्रयोग नोने पर अप्सराएँ प्रसन्न होती हैं तथा 'आरम्भ' अङ्ग के प्रयोग किये जाने पर गन्धर्व प्रसन्न होते हैं ।]

अब 'आश्रवणायाम्' से लेकर 'भूतगणो भवेत्' यहाँ तक आठ श्लोकों के द्वारा उसके कारणों को दिखाते हैं—

अनुवाद—आश्रावणा का प्रयोग किये जाने पर दैत्यगण सदैव प्रसन्न होते हैं और वक्त्रपाणि का प्रयोग करने पर दानव हमेशा सन्तुष्ट होते हैं ॥ ४५ ॥

---

१. क.ग. पुस्तकयोरयं सार्धश्लोको न दृश्यते ।
२. क-अ. मृष्यन्ति । ३. क-म. सर्वशः । ४. क-म. वज्रपाणौ ।

प्रत्याहाराद्याश्रावणायामेवान्तर्भूतम् । अवधित्वादस्याः । ([1]कस्मिश्चित्पुस्तके—

"प्रत्याहारे यातुधानाः प्रीयन्ते सह पन्नगैः ।
तुष्यन्त्यप्सरसस्तत्र कृतेऽवरणे द्विजाः ॥
तुष्यन्त्यपि च गन्धर्वा आरम्भे सम्प्रयोजिते ।"

इति सार्धश्लोको दृश्यते) यादृच्छिकसम्प्रधारितपरिग्रहबहुमानकृतः परितोषो विशिष्टविषयो मन्तव्यः) ॥ ४५ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि प्रत्याहारादि तीन अङ्गों का आश्रावणा में अन्तर्भाव है। क्योंकि आश्रावणा अवधि है। [कुछ पुस्तकों में—'प्रत्याहार का प्रयोग होने पर पन्नगों के साथ राक्षस प्रसन्न होते हैं, अवतरण के प्रयोग से अप्सराएँ सन्तुष्ट होती हैं और 'आरम्भ' के प्रयोग करने पर गन्धर्व प्रसन्न होते हैं।' ये डेढ़ श्लोक अधिक दिखाई देते हैं और इस पर अभिनवगुप्त की व्याख्या भी नहीं है।] इस प्रकार स्वेच्छा से निश्चित (निश्चय करके) अथवा (शङ्का करके) सम्मान से उत्पन्न परितोष को विशिष्ट विषय मानना चाहिए ॥ ४५ ॥

विशेश—काशी संस्करण में उपर्युक्त डेढ़ श्लोक मिलता है और गायकवाड़ संस्करण में उक्त श्लोक नहीं पाया जाता, किन्तु यहाँ पर उपर्युक्त डेढ़ श्लोक को स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है क्योंकि पूर्वरङ्ग विधान में यवानिकान्तर्गत पूर्वरङ्ग के प्रत्याहार आसारित पर्यन्त नौ अङ्ग माने गये हैं। उनमें कुतुप-विन्यास को 'प्रत्याहार' कहा गया हैं। वंशीवादक के साथ गायकों का स्थान ग्रहण करना 'अवतरण' है। आलाप को 'आरम्भ' कहा जाता है और वाद्ययन्त्रों का सन्तुलन 'आश्रावणा' है। पन्नगों और यातुधानों का सम्बन्ध कुतुप-विन्यास से माना जाता है। इसीलिए प्रत्याहार के प्रयोग से पन्नगों और यातुधानों के प्रसन्न होने की बात कही गई है। इसी प्रकार अप्सराओं का सम्बन्ध गायन से होने के कारण अवतरण के प्रयोग होने पर अप्सराएँ प्रसन्न होती हैं और गन्धर्वों का सम्बन्ध आलाप से होने के कारण आरम्भ के प्रयोग से गन्धर्वों के सन्तुष्टि की बात कही गई है। इससे आश्रावणा के प्रयोग से दैत्यों और वक्त्रपाणि के प्रयोग होने पर दानवों का सन्तुष्ट होना बताया गया है। इस प्रकार प्रत्याहार, अवतरण और आरम्भ के निरूपण करने के बाद आश्रवणा का प्रयोग करने पर पूर्णता होती है और क्रम भी बना रहता है। अतः पाठ की पूर्णता की दृष्टि से यहाँ डेढ़ श्लोक का होना आवश्यक है ॥ ४५ ॥

---

१. क. भ. म. अयं कोष्ठकान्तर्गतो भागो न दृश्यते ।

[1]परिघट्टनया तुष्टा युक्तायां रक्षसां गणः ।
[2]सङ्घोटनाक्रियायां च तुष्यन्त्यपि च गुह्यकाः[3] ॥ ४६ ॥
मार्गासारितमासाद्य तुष्टा[4] यक्षा भवन्ति हि ।
गीतकेषु प्रयुक्तेषु [5]देवास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥ ४७ ॥
वर्धमाने प्रयुक्ते तु रुद्रस्तुष्यति सानुगः ।
तथा चोत्थापने युक्तो ब्रह्मा तुष्टो भवेदिह ॥ ४८ ॥

मार्गासारितशब्देनैकदेशेन सर्वमङ्गं लक्षितम् । आसारितशब्देनासारितविधिरिति समाहारद्वन्द्वेन द्वयोरङ्गयोः फलमेतन्निरूपितम् । देवाः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—परिघट्टना अर्थात् तन्त्रीवाद्यों के स्वरसन्धान होने पर राक्षस प्रसन्न होते हैं और सङ्घोटना क्रिया के प्रयोग होने पर गुह्य सन्तुष्ट होते हैं ॥ ४६ ॥

अनुवाद—मार्गासारित को प्राप्त करके यक्ष परितुष्ट होते हैं और गीतक क प्रयोग होने पर देवगण सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ४७ ॥

अभिनव—एकदेशवाची मार्गासारित शब्द से समस्त अङ्ग का लक्षण होगया। आसारित शब्द से आसारित विधि का ग्रहण है, इस प्रकार समाहारद्वन्द्व होने से दोनों अङ्गों का फल निरूपण हो गया। इसी प्रकार गीतक के प्रयोग से गीतक और वर्धमानक दोनों में किसी एक के प्रयोग में दोनों का फल होगया ॥ ४७ ॥

अनुवाद—वर्धमान के प्रयोग होने पर अनुचरों के साथ रुद्र प्रसन्न होते हैं और उत्थापन के प्रयोग होने पर ब्रह्मा सन्तुष्ट होते हैं ॥ ४८ ॥

अभिनव—'रुद्र' अर्थात् उनके (रुद्र के) कर्म की प्रशंसा से रुद्र प्रसन्न होते हैं। गीतक में भी देवताओं की स्तुति होती है। इसलिए गीतक और वर्धमानक में से एक के प्रयोग होने पर वैकल्पिक रूप से दो फल कहा गया है। ब्रह्मा पद से प्रथम सृष्टि का व्यापार कहा गया है और वह नाट्यविषय है। उसकी यहाँ पुष्पाञ्जलि से पूजा की जाती है ॥ ४८ ॥

---

१. ख. ग. परिघट्टनायां तुष्टाः स्युर्युक्तायां रक्षसां गणाः ।
   घ. परिघट्टनायां तुष्टा युक्तायां रक्षसां गणाः ।
२. ख-ग. घ. सङ्घोटनक्रियायां तु ।
३. क. अ. तुष्यन्तीह सगुह्यकाः । ४. ग. प्रीताः ।
५. क-अ. तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः । क-म. गीतास्तुष्यन्ति नित्यशः ।

तुष्यन्ति लोकपालाश्च प्रयुक्ते परिवर्तने ।
[1]नान्दीप्रयोगेऽथ कृते प्रीतो भवति चन्द्रमाः ॥ ४९ ॥
[2]युक्तायामवकृष्टायां प्रीता नागा भवन्ति हि ।
[3]तथा[4]शुष्कावकृष्टायां प्रीतः पितृगणो भवेत् ॥ ५० ॥
रङ्गद्वारे प्रयुक्ते तु विष्णुः प्रीतो भवेदिह ।
जर्जरस्य प्रयोगे तु तुष्टा विघ्नविनायकाः ॥ ५१ ॥

रुद्र इति। तदियकर्मस्तुतेः । एतच्च गीतकवर्धमानयोरन्यतरप्रयोगे वैकल्पिकं फलद्वयम् । ब्रह्मेति । प्रथमसृष्टिव्यापारः तत्र नाट्यविषयः । स चात्र पुष्पाञ्जलिना पूज्यते (सूच्यते) ।।४८।।

चन्द्रमा इति । "जितं सोमेन" इति (ना. शा. ५-११०) नान्द्यां पाठात् ॥ ४९ ॥

नागा इत्यवकृष्टगतिः ॥ ५० ॥

अनुवाद—परिवर्त्तन के प्रयोग से लोकपाल सन्तुष्ट होते हैं और नान्दी के प्रयोग से चन्द्रमा प्रसन्न होते हैं ॥ ४९ ॥

अभिनव—परिवर्त्तन के प्रयोग में नाट्यप्रयोक्ता चारों ओर घूमकर देवताओं की वन्दना करता है । अतः उसका सम्बन्ध लोकपालों से माना जाता है । नान्दी का सम्बन्ध चन्द्रमा से हैं । जैसाकि आगे कहेंगे—'राजा सोम ने विजय प्राप्त किया' इस प्रकार नान्दी का पाठ होने से ॥ ४९ ॥

अनुवाद—अवकृष्टा (ध्रुवा) के प्रयोग से नाग सन्तुष्ट होते हैं और शुष्कावकृष्टा के प्रयोग से पितृगण प्रसन्न होते हैं ॥ ५० ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि अवकृष्ट अर्थात् वक्रगति होने के कारण इसका सम्बन्ध नाग से माना गया शै ॥ ५० ॥

अनुवाद—'रङ्गद्वार' का नामक अङ्ग का प्रयोग होने पर विष्णु देवता प्रसन्न होते हैं और जर्जर के प्रयोग से विघ्नविनायक (गणेश) प्रसन्न होते हैं। ॥ ५१ ॥

---

१. क-अ. न. नान्दीप्रयोगे च । क-त. नान्दीप्रयोगे तु ।
२ ख. घ. युक्तयामपकृष्टायां ।
३. घ पुस्तके इतः सार्द्धश्लोकद्वयं नास्ति ।
४. घ शुष्कापकृष्टायां ।

तथा चार्यां प्रयुक्तायामुमा तुष्टा भवेदिह ।
[1]महाचार्यां प्रयुक्तायां तुष्टो भूतगणो भवेत् ॥ ५२ ॥
[2]आश्रावणादिचार्यन्तमेतद्दैवतपूजनम् ।
पूर्वरङ्गे [3]मया ख्यातं तथा चाङ्गविकल्पनम् ॥ ५३ ॥

जर्जरस्येति । शुष्कावकृष्टालक्षणस्यैवाङ्गस्य शेषभूतो जर्जरस्तुतिप्रदर्शकः श्लोको वक्ष्यते "ततः श्लोकं पठेदेकम्" (ना. शा. ५-११८) इति । तस्येदं प्रयोजनं—विघ्नानां यो विनायको निवारयिता स तुष्टो भवति । तन्निवारणोपकरणसमुत्तेजनाद्विघ्नविनायका विरूपाक्षादयः । ते विघातं न कुर्वन्तीति । सव फलसाम्यात्तुष्टिरेषामिति केचित् ॥ ५१ ॥

उमेति । तस्या एव स्वरूपकीर्तनात् ॥ ५२ ॥

एतत्सर्वमुपसंहर्तुमाह—आश्रावणादीत्यादि कृतानि त्वित्यन्तं श्लोकचतुष्टयम् ।

अभिनव—शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के अङ्गभूत जर्जर की स्तुति का प्रदर्शक श्लोक आगे कहेंगे—'तदनन्तर एक श्लोक का पाठ करे (ना. शा. ५-११८) ॥ इसका प्रयोजन यह है कि—विघ्नों के जो विनायक निवारयिता हैं वह इससे सन्तुष्ट होते हैं। उसके और विघ्नों के निवारण के उपकरण के समुत्तेजन के कारण विरूपाक्ष आदि जो विघ्नविनायक हैं वे विनाश नहीं करते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि फलों की समानता होने से इनकी तुष्टि है ॥ ५१ ॥

अनुवाद—चारी के प्रयोग होने पर उमा देवी प्रसन्न होती हैं और महाचारी के प्रयोग से भूतगण प्रसन्न होते हैं ॥ ५२ ॥

अभिनव—उमा के स्वरूप का कीर्त्तन (स्तुति) होने से उमा प्रसन्न होती हैं ॥ ५२ ॥

अभिनव—उन सबका उपसंहार करने के लिए 'आश्रावणा' से लेकर 'कृतानि तु' पर्यन्त चार श्लोकों में कहते हैं—

अनुवाद—आश्रवणा से लेकर चारी पर्यन्त पूर्वरङ्ग में देवताओं के इस प्रकार का पूजन और उनके सभी अङ्गों का विकल्पन मैंने कहा है ॥ ५३ ॥

---

१. ख. रङ्गप्रयोगमाचार्यं (चर्यं) तुष्टो भूतगणै। (णो) भवेत् ।
२. ख. घ. प्रत्याहारादिचार्यन्तमेतद्दैवतपूजनम् ।
३. क-न. पूर्वरङ्गे समाख्यातं तथा चाङ्गविकल्पनम् ।
क-त. पूर्वरङ्गे ययाख्याते तथा आङ्गविकल्पने ।

[1]देवस्तुष्यति यो तेन यस्य यन्मनसः प्रियम् ।
तत्तथा पूर्वरङ्गे तु मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥ ५४ ॥
[2]सर्वदैवतपूजार्हं सर्वदैवतपूजनम् ।
[3]धर्म्यं यशस्यमायुष्यं पूर्वरङ्गप्रवर्तनम् ॥ ५५ ॥

प्रत्याहारादीनामाश्रावणायामन्तर्भावः । चारीशब्देनेह महाचारी । त्रिगतप्ररोचनयोर्दृष्टैकं प्रयोजनमिति तात्पर्यम् । पूर्वरङ्ग इति । तदुपश्लिष्टमित्यर्थः । ख्यातमित्युद्देशेन । अङ्गानां चैषां विकल्पनं लक्षणमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

देवस्तुष्यतीत्यादिना प्रयोजनोपसंहारः । मनसः प्रियमित्यभिमानपरिग्रहबलादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अभिनव—प्रत्याहार आदि का आश्रावणा में अन्तर्भाव है ।चारी शब्द से यहाँ महाचारी का ग्रहण होता है। त्रिगत और प्ररोचना दोनों का दृष्ट एक प्रयोजन है। पूर्वरङ्ग अर्थात् उससे सम्बद्ध। 'ख्यातम्' यह उद्देश के अनुसार कहा गया है। इनके अङ्गों का विकल्पन अर्थात् लक्षण है ॥ ५३ ॥

कुछ आचार्य 'आश्रवणा' के स्थान पर 'प्रत्याहारादि' पाठ मानते हैं तदनुसार इसका अर्थ होगा—

अनुवाद—प्रत्याहारादि से लेकर महाचारी पर्यन्त पूर्वरङ्ग के विधान में पूर्वरङ्ग के विविध अङ्ग और देवताओं के पूजन का विधान मैंने बताया है। ॥ ५३ ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! जो देवता जिससे तुष्ट होता है और जिस देवता के मन को जो प्रिय है उन सब का उसी रूप में पूर्वरङ्ग के प्रकरण कहा है ॥ ५४ ॥

अभिनव—'देवस्तुष्यति' इस कथन के द्वारा प्रयोजन का उपसंहार कह दिया है। 'मनसः प्रियम्' (मन को प्रिय) पद का अभिप्राय है अभिमान के परिग्रह के बल से ॥ ५४ ॥

अनुवाद—समस्त देवताओं की पूजा के योग्य अर्थात् समस्त देवताओं से प्रशंसित तथा जिससे समस्त देवताओं की पूजा की जाती है पूर्वरङ्ग का वह विधान धर्म, यश और आयुष्य प्रदान करने वाला है ॥ ५५ ॥

---

१. ग. तेन तुष्यति यो देवो यस्य यन्मनसः प्रियम् ।
२. क-त. सर्वदैवतपूजार्थम् ।
३. क. धन्यं यशस्यायुष्यं ।

दैत्यदानवतुष्टचर्थं सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
निर्गीतानि सगीतानि पूर्वरङ्गकृतानि तु ॥ ५६ ॥
या विद्या यानि शिल्पानि या गतिर्यच्च चेष्टितम् ।
लोकालोकस्य[३] जगतस्तदस्मिन्नाटकाश्रये ॥ ५७ ॥

प्रशंसामस्य दर्शयति—सर्वैर्दैवतैः पूजार्हं प्रशंसनीयम् । अत्र हेतुः—यतो दैवतान्यनेन पूज्यन्ते । अत एव प्रेक्षापतिप्रयोक्तृप्रभृतीनामेव तत् । धनेषु यशस्यायुषि तत्साधु । तत्कारित्वात् । नह्यत्र कश्चिदपि (कस्यचिदपि) विरक्तिरिति ॥ ५५ ॥

दैत्येति—निर्गीतं दैत्यादिकस्य तुष्टिकृत् । गीतकादि च देवानाम् ॥ ५६ ॥

अभिनव—इसकी प्रशंसा को दिखाते हैं--समस्त देवताओं के पूजा के योग्य अर्थात् समस्त देवताओं के द्वारा प्रशंसनीय है। यहाँ पर हेतु यह है कि क्योंकि देवता इससे पूजे जाते हैं अर्थात् इससे देवताओं की पूजा को जाती है। इसलिए प्रेक्षापति तथा नाट्यप्रयोक्ता आदि के लिए ही वह है। धन में, यश में और आयु में अर्थात् धन, यश, आयु के विषय में वह साधु है; क्योंकि वह धन, यश और आयु की प्रदान करने वाला है। इस विषय में किसी की भी विरक्ति नहीं है ॥ ५५ ॥

अनुवाद—समस्त दैत्य, दानव तथा समस्त देवताओं की तुष्टि के लिए पूर्वरङ्ग में निर्गीत और सगीत का विधान किया गया है। भाव यह कि पूर्वरङ्ग के विधान में निर्गीत अथवा सगीत दोनों का प्रयोग दैत्य, दानव और देवताओं की तुष्टि के लिए किया जाता है ॥ ५६ ॥

अभिनव--निर्गीत दैत्यों एवं राक्षसों की तुष्टि के लिए और सगीत अर्थात् गीत देवताओं को तुष्टि के लिए है ॥ ५६ ॥

अनुवाद—इस चर और अचर, दृश्य और अदृश्य जगत् की जो विधाएँ हैं, जो शिल्प हैं, जो गतियाँ और जो चेष्टाएँ है वे सब इस नाटक में हैं ॥५७॥

विमर्श—कुछ संस्करणों में यह श्लोक नहीं पाया जाता। गायकवाड़ संस्करण में यह कोष्ठक में दिया गया है। किन्तु इस पर अभिनवगुप्त की टीका नहीं है। इसी से मिलता जुलता एक श्लोक नाटचशास्त्र के प्रथम अध्याय में किया गया है (न तच्छिल्पं न तच्छास्त्रं न सा विद्या न सा कला इत्यादि)। उसीका पुनरावर्त्तन यह प्रतीत होता है ॥ ५७ ॥

---

३. ख. लोकालोकस्य ।

निर्गीतानां सगीतानां वर्धमानस्य चैव हि ।
ध्रुवं विधाने वक्ष्यामि लक्षणं कर्म चैव हि ॥ ५८ ॥

नन्वस्य लक्षणं कुतो ज्ञेयम् । यत इह तावन्नोक्तम् । चाङ्गप्रसङ्गतः लक्षण-मस्य पश्यामो वयम् । इत्याशङ्क्य [1]प्रसङ्गादन्यत्र लक्षणं वक्ष्यामीति प्रसङ्गावकाशं दर्शयितुमाह—निर्गीतानामिति ।

तेषां लक्षणं "तथा रुन्द्रे" ति (यथा ऋदुम् इति) लक्ष्यमुदाहरणं वक्ष्यामि । ध्रुवाणां विधाने (ना. शा. ३१-१२२) कर्तव्ये सतीत्यर्थः । न तु ध्रुवाध्याये । एतदुक्तं भवति—ध्रुवागानस्येहोपरञ्जकज्येष्ठतया तस्य वक्तव्य-प्रकृतिभूतं गान्धर्वं ज्ञातुं यत्तल्लक्षणं वक्ष्यते तत्रैतत्ततातोद्यविधाने तालाध्याये च वक्ष्यामि इति । [2]एतदविदित्वा यद्ध्रुवाशब्दोऽत्र छन्दोनिबद्धनिमित्तनिर्गीतत्वे वर्तत इत्याहुः तदसत् । अनुक्तसमत्वादस्य । तद्विधाने तल्लक्षणं वक्ष्यामीति न किञ्चित् । अनार्षोऽयं श्लोक इति तु महत्साहसम् ॥ ५८ ॥

अथोत्थापनादीनां लक्षणशेषः पूरयितव्यः । तत्रोत्थापनस्यानुवादपूर्वकं ध्रुवालक्षणं तत्प्रयोगद्वारेण पूर्णं कर्तुमाह—प्रयुज्येत्यादि योजयेदित्यन्तं श्लोक-चतुष्टयम् ।

अब प्रश्न यह है कि इसका लक्षण कैसे जाना जाय ? क्योंकि यहाँ पर उसका कथन नहीं किया गया है । यहाँ पर अङ्गों (पूर्वरङ्ग के अङ्गों) के प्रसङ्ग में उसका लक्षण हम नहीं देखते । इस प्रकार आशङ्का करके प्रसङ्गवश यहाँ लक्षण कहूँगा, इस प्रकार प्रसङ्ग का अवसर दिखाने के लिए कहते—

अनुवाद—अब मैं ध्रुवाविधान के अवसर पर निर्गीत. सगीत और वर्ध-मानक के लक्षण और विधान का कथन करूँगा ॥ ५८ ॥

अभिनव—उनके लक्षण तथा 'रुन्द्रे' इत्यादि उदाहरण को आगे ध्रुवाओं के विधान में कहूँगा' ध्रुवाध्याय में नहीं । इससे यह कहा गया है कि ध्रुवागान का रञ्जक तत्त्वों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण उसके वक्तव्य के प्रकृतिभूत गान्धर्व को जानने के लिए जो लक्षण कहेंगे उसे वहाँ तत आतोद्य-विधान और तालाध्याय में कहूँगा । इसको न जानकर ध्रुवा शब्द का जो प्रयोग यहाँ छन्दोनिबद्ध निर्गीत के सम्बन्ध में किया गया है ऐसा जो कहते हैं वह असत् है । क्योंकि उसमें समता का निर्देश नहीं है । 'उसके विधान में उसका लक्षण कहूँगा' इसका तो कोई अर्थ नहीं है । यह श्लोक अनार्ष है, यह कहना तो महान् साहस है ॥ ५८ ॥

---

१. क. प्रसङ्गादत्र ।

२. क. एतदविदितत्त्वद्ध्रुवाशब्दोऽत्र छन्दोनिबद्धनिमित्ता ।

प्रयुज्य गीतकविधिं वर्धमानमथापि[1] च ।
गीतकान्ते ततश्चापि कार्या ह्युत्थापनी ध्रुवा ॥ ५९ ॥
आदौ द्वे च चतुर्थं चाप्यष्टमैकादशे तथा ।
गुर्वक्षराणि जानीयात्पादे ह्येकादशाक्षरे ॥ ६० ॥
चतुष्पदा भवेत्सा तु चतुरश्रा[2] तथैव च ।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च त्रिलया त्रियतिस्तथा ॥ ६१ ॥
परिवर्तांश्च[3] चत्वारः पाणयस्त्रय एव च ।
जात्या[4] चैव हि विश्लोका[5]तां च तालेन योजयेत् ॥६२॥

तत्र प्रथमः श्लोकोऽनुवादकः । गीतकवर्धमानयोरन्यतरत्प्रयुज्यते । गीतकान्ते । ततो वा । वर्धमानादनन्तरम् । उत्थापनी ध्रुवा कार्येत्यनुवादः । चो भिन्नक्रमो वार्थे । अन्ये तु समुच्चये । निपातसमुदायं युगपद्गीतकवर्धमानप्रयोगाशयेनाहुः ॥ ५९ ॥

इसके बाद उत्त्थापन आदि अङ्गों के अवशिष्ट लक्षणों को कहूँगा । वहाँ 'प्रयुज्य' यहाँ से लेकर 'योजयेत्' इस श्लोक पर्यन्त चार श्लोको में उत्त्थापन का अनुवाद पूर्वक ध्रुवा के लक्षण को उसके प्रयोग के द्वारा पूरा करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—पहिले गीतक विधि फिर वर्धमानक के प्रयोग करने के पश्चात् गीतक के अन्त में उत्त्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५९ ॥

अभिनव - वहाँ अर्थात् उनमें पहला श्लोक अनुवादक है। गीतक और वर्धमानक में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है। गीतक के अन्त में अथवा उसके बाद अर्थात् वर्धमानक के प्रयोग के बाद उत्त्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए, यह अनुवाद है। यहाँ 'च' पद भिन्नक्रम 'वा' के अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरे आचार्य समुच्चय के अर्थ में 'वा' का प्रयोग मानते हैं। इस प्रकार निपातसमुदाय का आशय है कि गीतक और वर्धमानक का प्रयोग एक साथ करना चाहिए ॥ ५९ ॥

अब ध्रुवा के लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद--ध्रुवा के पाद में आदि के दो अक्षर अर्थात् प्रथम और द्वितीय तथा चतुर्थ, अष्टम तथा एकादश अक्षर गुरु होते हैं। इसमें एक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं। इसके चार पाद होते हैं। इसमें चतुरस्र ताल होता है और चार सन्निपात, तीन लय, तीन यति, चार परिवर्त्त, तीन पाणि होते हैं। इसमें विश्लोक नामक जातिवृत्त (छन्द) होता है और उसी प्रकार का ताल प्रयुक्त किया जाता है ॥ ६१-६२ ॥

---

१. ख घ. वर्धमानं तथैव च । २. ख. चतुरश्रे । ३. ख. घ. परिवर्त्तास्तु ।
४. ख. जात्यां । ५. ख. भ. घ. विश्लोकास्तांश्च ।

ध्रुवाया लक्षणम्—आदौ द्वे चेति। शेषाणि तु लघूनि। एवम्भूताश्चत्वारोऽस्याः पादाः। तालश्चास्याश्चञ्चत्पुटः द्विकलः। भाविविधिना तल्लाभेऽपि चतुरश्रग्रहणाद् द्विकलचञ्चत्पुटपादभागविषयो वक्ष्यमाणाङ्गुलिनियमोपजीवनार्थः। सर्वपादान्ते यतोऽस्याः सन्निपातस्तेन चतुस्सन्निपाता। द्रुतादयो लयाः। स्रोतोगतादयो यतयः। परिवर्ता गानक्रियाभ्यावृत्तयः ते चत्वारः। [1]समपाणिरवपाणिरुपरिपाणिश्चेति त्रयः पाणयोऽस्यां कार्या इति शेषः। किमियं ध्रुवा वृत्तजातिमध्ये न गणितेत्याशङ्क्याह—विश्लोकाऽख्यवृत्तजातिरियम्—

"[2]आद्ये चतुर्थमपि चाष्टमकं सैकादशं यदि भवेच्च गुरुः।
सा त्रैष्टुभे भवति पादविधौ विश्लोकजातिरवकृष्टकृता॥
(ना. शा. ३२-१४९)

अभिनव- अब ध्रुवा का लक्षण कहते हैं—ध्रुवा के प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं। इसमें पाद के प्रथम दो अक्षर तथा चौथा, आठवाँ, ग्यारहवां अक्षर गुरु होते हैं और शेष अक्षर लघु होते हैं। (इसका स्वरूप इस प्रकार है—ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ)। इस प्रकार इसके चार पाद होते हैं। इसका ताल द्विकल चञ्चत्पुट होता है। भावी विधान के अनुसार उसका लाभ हो जाने पर भी चतुरस्र के ग्रहण से द्विकल चञ्चत्पुट पादभाग का विषय वक्ष्यमाण अर्थात् आगे कहे जाने वाले अङ्गुलि-योजना नियम के उपजीवन के लिए है। यतश्च समस्त पादों के अन्त में इसका सन्निपात होता है अतः इसे चार सन्निपातों से युक्त होता है। सन्निपात सशब्दा क्रिया का एक भेद है जिसमें दोनो हाथों में ताली बजाई जाती है। इसमें द्रुत, मध्य और विलम्बित तीन लयों का प्रयोग होता है। तालक्रिया के अन्तराल में किया जाने वाला विश्राम लय है। इसमें समा, स्रोतोवहा तथा गोपुच्छा नामक तीन यतियों का प्रयोग होता है। लय के प्रयोग के नियम को यति कहते हैं। इसमें चार परिवर्त्त का प्रयोग होता है। गानक्रिया की आवृत्ति को परिवर्त्त कहते हैं। मनमोहन घोष ने परिवर्त्त को पूर्वरङ्ग का परिवर्त्तन समझ लिया है। अभिनवगुप्त ने इसे ज्ञानक्रिया की आवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। ताल के साथ तीन पाणि का प्रयोग होता है। समपाणि, उपरिपाणि और अवपाणि इन तीन पाणियों का इसमें प्रयोग करना चाहिए। यह ध्रुवा वृत्त जाति के मध्य में क्यों नहीं गिना गया ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि यह विश्लोका नामक वृत्त जाति है। जिसका लक्षण है—जहाँ एकादशाक्षर पादवाले त्रिष्टुप् छन्द में आदि के दो अक्षर, चौथा, आठवां तथा ग्यारहवां अक्षर यदि गुरु हों तो वहाँ विश्लोका जाति वृत्त होता है।" (ना० शा० ३२।१४८) ॥

१. क. समपाणिरपरपाणिरुपरिपाणिश्चेति। २. क. आद्यां।

शम्या तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च।
पुनश्चैकला शम्या सन्निपातः [1]कलात्रयम् ॥ ६३ ॥

चतुरश्रेति तालेन योजयेदिति च यदुक्तं तत्स्पष्टयति—शम्या त्वित्यादि। द्विकलचञ्चत्पुटस्य शम्यादेः स्वरूपमनेन दर्शितम्। सापि सशब्दपातगतहस्तनिर्वर्त्यैव। पूर्वादिशब्दात् द्विकलेति दर्शयति—द्विकलेत्यादिना। 'तेन निष्कामशम्ये दक्षिणेन। पुनः निष्क्रामतालो वामेन। ततो दक्षिणेन शम्या। ततो द्वाभ्यां प्रवेशनिष्क्रामसन्निपाताः। तत्र—

'आवापसंज्ञकं ज्ञेयमुत्तानाङ्गुलिकुञ्चनम्।
अधस्तलेन हस्तेन निष्क्रामोऽन्त्यप्रसारणम् ॥
भूयश्चाकुञ्चनं ज्ञेयं प्रवेशाख्यमधस्तलम्। (ना. शा. ३१,३३-३४)
शम्या दक्षिणपातस्तु तालो वामेन कीर्तितः।
उभयोः सन्निपातः स सन्निपात इति स्मृतः ॥

चतुरस्र ताल के साथ प्रयोग करना चाहिए, यह जो कहा गया है उसे स्पष्ट कहते—

अनुवाद—इसमें प्रथम दो कलाओं की शम्या, फिर दो कला का ताल, फिर एक कला की शम्या और अन्त में तीन कलाओं का सन्निपात प्रयुक्त होता है ॥ ६३ ॥

अभिनव—यहाँ पर द्विकल चञ्चत्पुट ताल तथा शम्या आदि का स्वरूप दिखा दिया गया है। वह भी शब्दक्रिया के साथ हाथ से निवर्त्य अर्थात् सम्पाद्य है। पूर्वादि शब्दों में द्विकला को दिखाते हैं। इसमें निष्क्राम और शय्या क्रिया दाहिने हाथ से फिर निष्क्राम और ताल क्रिया बायें हाथ से, फिर शम्या क्रिया दाहिने हाथ से फिर उसके बाद दोनों हाथों से प्रवेश, निष्क्राम और सान्निपात क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। वहाँ—

"हाथ को उत्तान करके अङ्गुलियों का आकुञ्चन करना 'आवाप' संज्ञक क्रिया होती है और हाथ को अधोमुख करके नीचे की ओर अङ्गुलियों को फैलाना 'निष्क्राम' क्रिया है। हाथ की अङ्गुलियों को नीचे की ओर ले जाकर फिर आकुञ्चन करना 'प्रवेश' क्रिया कही जाती है।" (ना० शा० ३१।३२-३३)।

"शम्या क्रिया में दक्षिण हाथ का पात होता है और ताल क्रिया में केवल बायें हाथ का पात होता है और जब दोनों हाथ का पात होता है तो 'सन्निपात' क्रिया कही जाती है।" (ना० शा० ३१।३६-३७)।

---

५. क-भ. म. कलात्रये। क-त-कलाश्रयम्।

एवमष्टकलः कार्यः सन्निपातो विचक्षणैः ।
चत्वारः सन्निपाताश्च[1] परिवर्तः[2] स उच्यते ॥ ६४ ॥
पूर्वं स्थितलयः[3] कार्यः परिवर्तो विचक्षणैः ।
तृतीये सन्निपाते तु तस्य भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ६५ ॥
एकस्मिन्परिवर्तें तु गते प्राप्ते द्वितीयके ।
कार्यं मध्यलये[4] तज्ज्ञैः सूत्रधारप्रवेशनम् ॥ ६६ ॥

चत्वारः सन्निपाता इति पादचतुष्टयस्यापि परिवर्तनमाह—स्थितलयो विलम्बितलय उक्तः । तृतीय इत्यन्त्यकलावर्जितपादत्रयं तन्त्रीगानसमन्वितं प्रयुज्य तृतीयपादान्त्यकला । ततः प्रभृति पुष्करवाद्यप्रयोगो यावत्तुर्यपादसमाप्तिः । पुनर्मध्यलयेन गानम् । तत्समये सूत्रधारप्रवेशः । तस्येति—प्रथमपरिवर्तस्य । प्रथममपि च गानमन्यद्वितीयादिसाहचर्यात्परिवर्तशब्देनोच्यते । अन्यत् द्विः पचतीति त्रयः[5] पाकाः स्युः । सकृत्पचतीति द्वौ स्याताम् ॥ ६४-६५ ॥

सूत्रधारशब्देन तत्साहचर्यात्पारिपार्श्विकावपि ॥ ६६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार विद्वानों को अष्टकल सन्निपात का प्रयोग करना चाहिए और चार सन्निपातों के प्रयोग से एक परिवर्त्तन है ॥ ६४ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को सर्वप्रथम बिलम्बित लय में परिवर्त्त का प्रयोग करना चाहिए । फिर तीसरे सन्निपात में भाण्डवाद्यों का प्रयोग करे ॥ ६५ ॥

अभिनव—चार सन्निपात होते हैं, उससे चारों पादों के परिवर्त्तन को कहा गया है। स्थितिलय को विलम्बित लय कहा गया है। 'तृतीय' कहने का तात्पर्य है अन्त्य कला से रहित तीन पादों को तन्त्रीगान से समन्वित प्रयोग करके तृतीय पाद की अन्तिम कला। उससे आरम्भ करके चौथे पाद की समाप्ति पर्यन्त पुष्करवाद्य का प्रयोग करना चाहिए। फिर मध्य लय से गाना चाहिए, उस समय सूत्रधार का प्रवेश होना चाहिए। उस प्रथम परिवर्त्त का पहला गाना भी अन्य द्वितीय आदि के साहचर्य से परिवर्त्त शब्द से कहा जाता है। जैसे दो बार पकाता है, इस कथन से तीन पाक समझा जाता है और एक बार पकाता है, ऐसा कहने से दो पाक होते हैं ॥ ६५ ॥

अनुवाद—नाट्यवेताओं को एक परिवर्त्त के समाप्त हो जाने के बाद द्वितीय परिवर्त्त के प्रारम्भ में मध्यलय का प्रयोग करना चाहिए और उसी समय सूत्रधार का प्रवेश कराना चाहिए ॥ ६६ ॥

अभिनव—यहाँ सूत्रधार शब्द से अर्थात् सूत्रधार के साहचर्य से दोनों परिपार्श्वकों का भी ग्रहण होता है ॥ ६६ ॥

---

१. ख. घ. सन्निपातास्तु । २. ख. घ. परिवर्तस्य उच्यते ।
३. ख. पूर्वस्थितिलयः । घ. पूर्वः स्थितलयः । ४. ख, मध्यलयं । ५. क-म. भूयः ।

पुष्पाञ्जलिं[1] समादाय रक्षामङ्गलसंस्कृताः[2] ।
शुद्धवस्त्राः[3] सुमनसस्तथा चाद्भुतदृष्टयः ।। ६७ ।।
स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
दीक्षिताः शुचयश्चैव प्रविशेयुः समं त्रयः ।। ६८ ।।

तेषां प्रवेशे [4]इतिकर्तव्यतामाह–पुष्पाञ्जलिमित्यादिना ।

पूर्वं पुष्पाञ्जलिः सूत्रधारस्यैव । इतरयोर्भृङ्गारजर्जरधरत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । शुद्धं शुक्लम् । शोभनं मनः सविस्मयं दृष्टिः येषाम् । विस्मयश्च ये श्रुत्यादिभिः दुर्विनेयास्तेऽस्माभिः सुखेन विनीयन्त इति ।

"या चाकुञ्चितपक्ष्माग्रा साश्चर्योद्वृत्ततारका ।
सौम्या विकसितान्ता च साद्भुता दृष्टिरद्भुते ।।" (ना. शा. ८-५१)

अभिनव—उनके अर्थात् सूत्रधार और पारिपार्श्वकों के प्रवेश में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

अनुवाद—अञ्जलि में पुष्पों को लेकर रक्षा और मङ्गल सूत्रों से सुसंस्कृत शुद्ध (श्वेत) वस्त्रों को धारण किये हुए, प्रसन्नचित्त और अद्भुत दृष्टि वाले, अङ्गों को सौष्ठव स्थिति में रखते हुए वैष्णव स्थानक की चेष्टा में स्थित, दीक्षित और पवित्र तीनों व्यक्ति एक साथ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करें ।। ६७-६८ ।।

अभिनव–प्रथम पुष्पाञ्जलि सूत्रधार की होनी चाहिए । अन्य दोनों के विषय में आगे कहे जाने वाले भृङ्गार और जर्जर में से एक भृङ्गार को और दूसरा जर्जर को धारण करेगा । शुद्ध का अर्थ है श्वेत । शोभन (सुन्दर) है मन जिसका वह 'समुनसः' है और विस्मययुक्त दृष्टि है जिसकी उसे साद्भुतादृष्टि कहते हैं और विस्मय यह हे कि जो श्रुत्यादि के द्वारा विनेय नहीं हैं अर्थात् जिनको शास्त्रों के द्वारा शिक्षित नहीं किया जा सकता है उन्हें हम सुखपूर्वक सरलता से शिक्षित करते हैं ।

"जहाँ पर बरौनी का अग्रभाग आकुञ्चित हो और आँखों की पुतलियाँ आश्चर्य से उद्वृत्त हों और नेत्रप्रान्त सौम्य एवं विकसित हो वहाँ अद्भुता दृष्टि होती है । यह अद्भुत कार्यों में प्रयुक्त होती है ।" (ना० शा० ८-५१) ।

---

१. ख. पुष्पाञ्जली ।
२. ग. रक्षामङ्गलसत्कृताः । क-म. रक्षामङ्गलसंस्तुता। ।
क-त. रक्षामण्डलसत्कृताः । क-न. रक्षां मङ्गलसंस्कृताम् ।
३ ख. शुद्धवर्णा। ।
४ क. तेषां प्रयोग इतिवक्तव्यतामाह ।

भृङ्गारजर्जरधरौ भवेतां पारिपार्श्विकौ[1] ।
मध्ये तु [2]सूत्रभृत्ताभ्यां [3]वृत्तः पञ्चपदीं व्रजेत् ॥ ६९ ॥

सौष्ठवेत्यादिना लक्षणैकदेशेन वैष्णवमेव स्फुटयति । अन्यथा विष्णुत्वादावपि कस्यचित्सम्भावना भवेदन्वर्थतया ।

"द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।
तयोः समस्थितश्चैकः त्र्यश्रः पक्षगतोऽपरः ॥ (ना. शा. १०-५२)
किञ्चिदञ्चितजङ्घं च सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ।" (ना. शा. १०-५३)

दीक्षिता इति कृतोपवासाः ॥ ॥६७-६८ ॥

भृङ्गारः शौचाय । जर्जरो विघ्नशान्त्यै । परिपार्श्वभवौ पारिपार्श्विकौ । अत एव सूत्रधारो मध्ये द्वाभ्यां वृत्तस्सन्निति त्रयोऽपि पञ्चपदीं व्रजेयुरित्यर्थः ॥ ५९ ॥

'सौष्ठव' इत्यादि के द्वारा लक्षणैकदेश न्याय से वैष्णव स्थानक को ही स्पष्ट करता है। अन्यथा विष्णुत्वादि में भी अन्वर्थ रूप से किसी की सम्भावना हो सकती है।

"इसमें दोनों पैरों का अन्तर २½ ताल का होता है। उनमें एक पैर सम स्थिति में तथा दूसरा पैर पार्श्व में तिरछा होना चाहिए और जङ्घा कुछ झुका हुआ अञ्चित चेष्टा में होना चाहिए तथा अङ्ग सौष्ठव से पुरष्कृत हों तो उसे 'वैष्णव-स्थान' कहते है।" (ना० शा० १०-५२-५२)।

'दीक्षित' का अर्थ है जिसने उपवास किया है ॥ ६७-६८ ॥

अनुवाद—वे दोनो पारिपार्श्विक क्रमशः भृङ्गार (झारी) और जर्जर को धारण किये हुए हो और उनके बीच में स्थित सूत्रधार पांच पग चले ॥६९॥

अभिनव—भृङ्गार शुद्धि के लिए जल से भरा हुआ पात्र है। 'जर्जर" विघ्न की शान्ति के लिए बांस का खण्ड होता है। दोनो पार्श्वों में रहने वाले को पारिपार्श्विक कहते हैं। इसलिए सूत्रधार उन दोंनो के बीच स्थित होकर तीनों ही पाँच पग (कदम) आगे चलें ॥ ६९ ॥

१ ख. ग. घ. पारिपार्श्वकौ ।
२. ख. घ. मध्ये च सूत्रधृक् ताभ्यां ।
३ ख. ग. घ. वृतः ।

[1]पदानि पञ्च गच्छेयुर्ब्रह्मणो यजनेच्छया ।
[2]पदानाञ्चापि विक्षेपं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः[3] ॥ ७० ॥
[4]त्रितालान्तरविष्कम्भमुत्क्षिपेच्चरणं शनैः ।
[5]पार्श्वोत्थानोत्थितं चैव तन्मध्ये पातयेत्पुनः ॥ ७१ ॥

तत्प्रयोजनमाह—पदानीति । त्रयस्ताला अन्तरं मानं यस्य तादृशो विष्कम्भः ऊर्ध्वगमने परिमाणं यस्य चरणस्य तं [6]पार्श्वोत्थानेन न तु स्पष्टतरोर्ध्वतयोत्थितं चरणं मध्ये द्वयोः पातयेत् । गमनस्य प्रक्रान्तत्वात् । किञ्चित्पुरत इत्थमेवान्यानि चत्वारि पदानि ॥ ७०-७१ ॥

अब उसके प्रयोजन को कहते हैं—

अनुवाद—ब्रह्मा की पूजा के लिए वे तीनों पांच पग आगे चलें। अब क्रमशः पदों के विक्षेप की व्याख्या करूँगा ॥ ७० ॥

अनुवाद—तीन ताल के अन्तर पर पैर को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाये। फिर पार्श्व में उठाने से उठे हुए पैर को उसके मध्य में गिरावे ॥ ७१ ॥

अभिनव—अब पाँच पदों के चलने का प्रयोजन बतलाते हैं। तीन ताल अन्तर (मान, प्रमाण) है जिसका, ऐसा विष्कम्भ ऊर्ध्वगमन (ऊपर उठाने में) में परिमाण है जिस चरण का, उसे बगल से उठाकर (पार्श्वोत्थान विधि से उठे हुए चरणको) बीच में गिराये, न कि स्पष्ट रूप से ऊपर उठे हुए पैर को दोनों के बीच में गिराये। गमन के प्रकान्त होने के कारण पैर को थोड़ा आगे रखे। इसी प्रकार अन्य चारों पगों को भी रखे ॥ ७०-७१ ॥

विमर्श—अभिनव ने एक बालिश्त को हस्तताल माना है। सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार अंगूठा और बीच की अंगुली के फैलाने से जो अवकाश या माप होता है उसे ताल कहा जाता हैं। विष्कम्भ का सामान्य अर्थ है वृत्त का व्यास, अन्तराल अथवा विस्तार। अभिनव ने तीन ताल के अन्तराल को विष्कम्भ कहा है। पैरों को पार्श्वोत्थान विधि से उठाकर अर्थात् पहिले दोनों पार्श्वों में क्रमशः उठाए और फिर उसी क्रम से भूमि पर रखे।' ७ -७१ ॥

---

१. क- त. सलिलं तु पुरस्कृत्य ।
२. ख. च. पादानाञ्चास्य ।
३. ख. ष. व्याख्यास्यामि यथाक्रमम् ।
४. ख. त्रिकालान्तरविष्कम्भम् । 'ख' पुस्तके इदं पद्यं नास्ति ।
५. ख. च. पार्श्वेनोत्थानोत्थितश्चैव ।
६ क. पार्श्वोत्थापनेन ।

[1]एवं पञ्चपदीं गत्वा सूत्रधारः सहेतरः[2] ।
सूचीं वामपदे[3] दद्याद्विक्षेपं दक्षिणेन च[4] ॥ ७२ ॥
पुष्पाञ्जल्यपवर्गश्च कार्यो ब्राह्मेऽथ मण्डले ।
रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७३ ॥
ततः सललितैर्हस्तैरभिवन्द्य पितामहम्[5] ।
[6]अभिवादानि कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ७४ ॥

अथ यदर्थं पञ्चपदविक्षेपः कृतस्तं पुष्पाञ्जलिविमोक्षं सेतिकर्तव्यताकमाह—सूचीमित्यादि ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥" (ना. शा. १०-३४)

पृष्ठदेश इति शेषः । तस्य पादस्य बहिः क्षेपः मण्डलं स्थानम् । किन्तत् । ब्राह्ममित्याह । रङ्गपीठस्येति ।

अनुवाद—इस प्रकार सूत्रधार दोनो पारिपार्श्वकों के साथ पाँच पग चलकर बायें पर को सूची चारी का सम्पादन करे और दाहिने पैर को विक्षेप प्रक्रिया में रखे ॥ ७२ ॥

अभिनव—इसके बाद जिसके लिए पांच पग (पाद) का विक्षेप किया था, उसे पुष्पाञ्जलि विमोक्ष को इतिकर्त्तव्यता के साथ कहते हैं—

अभिनव—यदि कुञ्चित बायें पैर को ऊपर की ओर उठाकर जानु के ऊपर फैलाये, फिर आगे की ओर करके पृष्ठभाग में गिरा दे तो वह 'सूची' कही जाती है।" (ना० शा० १०-३४)

उस पैर का बाहर की ओर क्षेपण किया जाता है अर्थात् मण्डल के बाहर प्रक्षेपण करते है। मण्डल स्थान को कहते हैं। वह किसका स्थान है ? कहते हैं ब्रह्मा का। इसी बात को कहते हैं—

अनुवाद—इसके बाद ब्रह्मा के मण्डल में पुष्पाञ्जलि का अर्पण करना चाहिए। क्योंकि रङ्गपीठ के मध्य में स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं ॥ ७३ ॥

अनुवाद—इसके बाद ललित हस्तचेष्टा के साथ ब्रह्माजी का अभिवादन करके पृथ्वीतल पर हाथ से स्पर्श करते हुए तीन बार अभिवादन करना चाहिए ॥ ७४ ॥

---

१. ग. एवं विष्णुपदीं कृत्वा । २. ख. घ. सहेतरैः ।
३. ख. घ. सूचीं वामपदं दद्यात् । ग. सूचीवामपदं दद्यात् । ४. ख. तु ।
५. ग. घ. अभिवन्द्य पितामहः । ६. ग ख. घ. अभिवादनानि ।

कालप्रकर्षहेतोश्च पादानां प्रविभागतः ।
सूत्रधारप्रवेशाद्यो वन्दनाभिनयान्तकः[1] ॥ ७५ ॥
द्वितीयः परिवर्तस्तु कार्यो मध्यलयाश्रितः[2] ।

अभिवादनानीत्यर्थः । त्रीणीति । प्रत्येकं कथं वन्दनं कार्यमित्याह । कालस्य यः प्रकर्षो बहुतरत्वं तत्र । चो हेतौ । नृत्तहस्तकरणप्रयोगात्मकमवलम्ब्य । ननु किलासौ (कियानसौ) कालप्रकर्षः । आह—पादानामिति । तदुपलक्षितानां कलानां यः प्रविभागः कालपरिमाणान्तरमाश्रित्य । ननु तासामपि को विधिरित्याशङ्क्याह—सूत्रधारप्रवेशाद्य इति ।

एतदुक्तं भवति—द्वात्रिंशत्कलानां मध्ये प्रवेशः पञ्चपदीगमनं पुष्पत्यागोऽभिवादनत्रयं चेति निर्वर्तनीयम् । तत्र यावतीषु कलासु पञ्चपदीगमनान्तं कर्म सम्पन्नं ततो या अवशिष्यन्ते कलास्तदभिवादनयोग्यं व्यावर्तितपरिवर्तिताविकरणमुद्वृत्तनलिनीपद्मकोशादिनृत्तहस्तजातं वाऽवलम्ब्य सललितमभिवादनत्रयं कार्यम् ।

अनुवाद—काल के प्रकर्ष के हेतु पादों को विभाजित करके रखे और सूत्रधार के प्रवेश से आरम्भ करके वन्दना अर्थात् अभिवादन के अभिनय पर्यन्त मध्य लय पर आश्रित करके द्वितीय परिवर्त्त को सम्पादित करना चाहिए ॥७५-७६ (१)॥

अभिनव—तीन अभिवादन करना चाहिए। प्रत्येक अभिवादन कैसे करना चाहिए ? इस पर कहते हैं कि काल का जो प्रकर्ष (बाहुल्य) है उसमें। यहाँ पर 'च' हेतु अर्थ में है। नृत्तहस्त करण के प्रयोग का अवलम्बन करके। प्रश्न होता है कि कितने काल का प्रकर्ष यहाँ अपेक्षित है। इस पर कहते हैं—पाद से उपलक्षित कलाओं का जो प्रविभाग है। काल परिमाणान्तर का अवलम्बन करके। अब प्रश्न यह है कि उन कलाओं की क्या विधि है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—सूत्रधार के प्रवेश से लेकर ब्रह्मा के वन्दना पर्यन्त मध्य लय पर तृतीय परिवर्त्त करना चाहिए।

यह कहा जाता है कि—बत्तीस कलाओं के मध्य में पांच पग (पाद) गमन, पुष्प-विमोक्षण तथा तीन अभिवादन कार्य को करना चाहिए। उनमें जितनी कलाओं में पञ्चपदी-गमन-पर्यन्त कर्म सम्पन्न होता है उससे अवशिष्ट जो कलाएँ हैं उनमें अभिवादन के योग्य व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित आदि करणों तथा उद्वृत्त, नलिनी, पद्मकोश आदि नृत्तहस्तों का आश्रय लेकर ललित हस्तचेष्टा के साथ तीन अभिवादन करना चाहिए ॥ ७२-७६ (१) ॥

---

१. ख. ग. वन्दनाभिनयानुग। । २. ख. घ. मध्यलयाश्रयः ।

[1]ततः परं तृतीये तु मण्डलस्य प्रदक्षिणम् ॥ ७६ ॥
भवेदाचमनं चैव जर्जरग्रहणं तथा ।
उत्थाय मण्डलात्तूर्णं दक्षिणं [2]पादमुद्धरेत् ॥ ७७ ॥
[3]वेधं तेनैव कुर्वीत विक्षेपं वामकेन च ।
पुनश्च दक्षिणं पादं पार्श्वसंस्थं समुद्धरेत् ॥ ७८ ॥
[4]ततश्च वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च ।

एवं द्वितीये परिवर्ते कर्मत्रयं प्रदर्श्य तृतीयपरिवर्ते द्रुतलये कर्मकलापमुपदिशति—ततःपरमिति ।

मण्डलस्येति । ब्रह्मस्थानस्य । तत्कर्मत्रयं लक्षयन्प्रथमस्य लक्षणमाह—उत्थायेति । अभिवादने हि जानुशिरोविनमितभूश्लेषपर्यन्तं कृतम् । उद्धरेदिति । "कुञ्चितं पादम्" (ना० शा० १०-३४) इत्यादिसूचीं सूचयति । वेधमिति द्वितीयपादपार्ष्णिपृष्ठे पातनम् । पार्श्वसंस्थमिति पार्श्वक्रान्तां (ना० शा० १०-३२) चारीमाह ॥७६-७८ (१) ॥

इस प्रकार द्वितीय परिवर्त्त में तीन कर्मों को दिखाकर तृतीय परिवर्त्त में द्रुत लय में किये जाने वाले क्रियाकलाप का उपदेश करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद तृतीय परिवर्त्त में ब्रह्ममण्डल की प्रदक्षिणा करे, फिर आचमन करके जर्जर को ग्रहण करे, फिर ब्रह्मा के मण्डल से शीघ्रता से उठकर दाहिने पैर को ऊपर उठाये, फिर उसी पैर से वेध करे और बायें पैर से विक्षेप करे, फिर पार्श्व में स्थित दाहिने पैर को ऊपर उठाये, तदनन्तर बायें पैर से वेध और दाहिने पैर का विक्षेप करे ॥ ७६-७८ (१) ॥

अभिनव—मण्डल अर्थात् ब्रह्मस्थान का क्रमशः उनके तीन कर्मों का लक्षण करते हुए पहिले का लक्षण करते हैं—उठकर इत्यादि । क्योंकि अभिवादन में पृथ्वी के स्पर्श पर्यन्त जानु और शिर का विनमन किया जाता है । 'उद्धरेत्' पद से कुञ्चित पैर को उठाकर' (ना० शा० १०-३४) इत्यादि नाट्यशास्त्रोक्त सूची चारी सूचित होती है । 'वेध' का अर्थ है दूसरे पैर की एड़ी के पीछे गिराया जाना । 'पार्श्वस्थं' पद से पार्श्वाक्रान्ता चारी का निर्देश है ॥ ७६-७८ (१) ॥

---

१. ख अतः परं तृतीयस्तु मण्डलस्य प्रदक्षिणम् ।
घ. अतः परं तृतीये तु मण्डलस्य प्रदक्षिणम् ।
२. ग. पदमुद्धरेत ।
३. ख. घ. तेनैव वेधं कुर्वीत । क-त एवं तेनैव कुर्वीत ।
४. क-त. म. भूयश्च ।

इत्यनेन विधानेन सम्यक्कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ७९ ॥
[1]भृङ्गारभृतमाहूय शौचं चापि समाचरेत् ।
यथान्यायं तु कर्तव्या तेन ह्याचमनक्रिया ॥ ८० ॥
आत्मप्रोक्षणमेवाद्भिः कर्तव्यं तु यथाक्रमम् ।

एतत्कर्मोपसंहरन्द्वितीयं शौचाख्यं लक्षयति—इत्यनेनेति ।

आहूयेति वचनाद्भृङ्गारधारिणः प्रदक्षिणभ्रमणे तूष्णींभावेन स्थितिरिति लक्ष्यते। शौचप्रयोजनं वक्ष्यते। यतोऽभिवादने श्लिष्टं शिर इत्यादिन्यायस्मृत्यादिः प्राङ्मुख उपविश्याबहिर्जानुरित्यादिक्रमः ॥ ७९-८१ (१) ॥

विमर्श—यहाँ पर ब्रह्ममण्डल में दाहिने पैर को ऊपर उठाकर बायें पैर के विक्षेप के साथ वेध करने की जिस प्रक्रिया का निर्देश है उससे सूची चारी सूचित होती है, क्योंकि सूची चारी में कुञ्चित पैर को उठाकर जानु के ऊपर प्रसारित कर पुनः अग्रभाग में गिराया जाता है। (ना० शा० १०-३४)। अभिनव वेध का अर्थ दूसरे पैर की एड़ी के पिछे गिराया जाना लेते हैं। सूची चारी के बाद यहाँ फिर दाहिने पैर के पार्श्वक्रान्ता चारी में उठाये जाने का निर्देश है। उसके बाद बायें पैर से वेध अर्थात् बायें पैर को सूची चारी में रखकर दाहिने पैर से विक्षेप किया जाता है ॥ ७६-७९ (१) ॥

अब इन कर्मों का उपसंहार करते हुए शौच नामक द्वितीय कर्म का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार इस विधान से अच्छी तरह प्रदक्षिणा करके भृङ्गार (झारी) को धारण करने वाले को बुलाकर शौचक्रिया अर्थात् हस्तपादादि का प्रक्षालन करे, फिर उसी से शास्त्रविधान के अनुसार आचमन करे, तदनन्तर जल से क्रमशः अपना प्रोक्षण करना चाहिए ॥ ७९-८१ (१) ॥

अभिनव—'आहूय' अर्थात् 'बुलाकर' इस कथन से भृङ्गारधारी के प्रदक्षिण अर्थात् भ्रमण के अवसर पर चुपचाप शान्त रहना लक्षित होता है। भाव यह कि प्रदक्षिणा के समय भृङ्गारधारी चुपचाप शान्त रहता है। शौच (शुद्धीकरण) के प्रयोजन को आगे कहेंगे। क्योंकि अभिवादन में शिर भूमि से श्लिष्ट होता है, इत्यादि न्याय अर्थात् स्मृति आदि में निर्दिष्ट विधि से पूर्वाभिमुख बैठकर जानु के भीतर हाथ रखकर समस्त शौच क्रिया करनी चाहिए, यही क्रम है ॥ ७९-८१ (१) ॥

---

१. ग. प्रकारेण ।
२. ख. घ. भृङ्गाधारम् ।

प्रयत्नकृतशौचेन सूत्रधारेण यत्नतः ॥ ८१ ॥
[1]सन्निपातसमं ग्राह्यो जर्जरो विघ्नजर्जरः ।
प्रदक्षिणाद्यो विज्ञेयो जर्जरग्रहणान्तकः[2] ॥ ८२ ॥
तृतीयः परिवर्तस्तु विज्ञेयो वै द्रुते लये ।
गृहीत्वा जर्जरं [3]त्वष्टौ कला जप्यं[4] प्रयोजयेत् ॥ ८३ ॥

तृतीयं कर्म दर्शयति—प्रयत्नेति। कस्मिन् सन्निपाते तद्ग्रहणमित्याशङ्कामपाकर्तुमाह—प्रदक्षिणाद्य इति। तेन तृतीयपरिवर्तान्त्यसन्निपातकाले तद्ग्रहणमित्युक्तं भवति ॥ ८१-८२ ॥

अथ द्रुतलय एव चतुर्थे परिवर्ते कर्मद्वयं—गृहीत्वेति। ग्रहणं धारणम्। इहाष्टौ कला इति। प्रथमपादगतपर्यन्तमित्यर्थः। जप्यं जपनीयं तृतीयाध्यायोक्तम्। "अत्र विघ्नविनाशार्थम्। (ना० शा० ३ ७८) इत्यादिश्लोकचतुष्टयं प्रतिकलमर्धश्लोक इत्यनेनावसानप्रकर्षेण योजयेदुच्चारयेदिति यावत्। ॥ ८३ ॥

अब तीसरे कर्म को दिखाते हैं—

अनुवाद—प्रयत्न से शौचक्रिया करने के बाद सूत्रधार को बलपूर्वक सन्निपात के साथ विघ्नों को नष्ट करने वाले जर्जर को ग्रहण करना चाहिए। यह विधि प्रदक्षिणा से प्रारम्भ करके जर्जर ग्रहण पर्यन्त करनी चाहिए ॥ ८१-८२ ॥

अभिनव—किस सन्निपात में जर्जर का ग्रहण होता है, इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं कि प्रदक्षिणा से जर्जर ग्रहण पर्यन्त यह विधि करनी चाहिए। इससे तृतीय परिवर्त्त के अन्तिम सन्निपात के काल में जर्जर का ग्रहण होता है, यह कहा गया है ॥ ८१-८२ ॥

अनुवाद—तृतीय परिवर्त्त को द्रुत लय में समझना चाहिए। सूत्रधार जर्जर को ग्रहण करके आठ कला तक जप करें ॥ ८३ ॥

अभिनव—इसके बाद द्रुत लय से ही चतुर्थ परिवर्त्त में दो क्रियाएँ करनी चाहिए। गृहीत्वा का अर्थ है ग्रहण करके। यहाँ 'अष्टौ कला' का अर्थ है प्रथम पाद की गति पर्यन्त। 'जप्यं' से तात्पर्य है तृतीय अध्याय में कहे गये 'अत्र विघ्नविनाशार्थं' इत्यादि चार श्लोकों का यहाँ जप करना चाहिए अर्थात् प्रतिकल में आधे श्लोक की समाप्ति हो जाय, इस प्रकार योजना करे अर्थात् उच्चारण करे ॥ ८३ ॥

---

१. ख. सन्निपातसमग्राह्यो। ग. सन्निपाते समं ग्राह्य।
२. क-म. जर्जरग्रहणं ततः। ३. ख. घ. जर्जरं चाष्टौ। ४. ख. घ. जाप्यं।

[1]वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणस्य च ।
ततः पञ्चपदीं चैव गच्छेत्तु कुतपोन्मुखः ॥ ८४ ॥

वामवेधस्तु तत्रापि [2]विक्षेपो दक्षिणस्य तु ।
जर्जरग्रहणाद्योऽयं कुतपाभिमुखान्तकः[3] ॥ ८५ ॥

चतुर्थः परिवर्तस्तु [4]कार्यो द्रुतलये पुनः ।
[5]करपादनिपातास्तु भवन्त्यत्र तु षोडश ॥ ८६ ॥

ननु पञ्चपद्यां कियान् कालविक्षप इत्याशंक्याह—जर्जरग्रहणाद्य इति । इहापि ग्रहणं धारणम् । चतुर्विंशत्या कलानां कुतपगमने कुर्यादिति तात्पर्यम् ॥८५॥

षोडशेति । कलाद्वयेनैकं पतनमिति यावत् ॥ ८६ ॥

अनुवाद—इसके बाद बायें पर से वेध करे अर्थात् सूची चारी का प्रयोग करें और दाहिने पैर से विक्षेप प्रदर्शित करे । उसके बाद कुतुप वाद्ययन्त्रों की ओर पाँच पग तक चले ॥ ८४ ॥

अनुवाद—उसके बाद वहाँ भी बायें पैर से बेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग करके दाहिने पैर से विक्षेप क्रिया करें । यह विधान जर्जर धारण करने से लेकर कुतुप (वाद्ययन्त्रों) की ओर गमन पर्यन्त करना चाहिए ॥ ८५ ॥

अनुवाद—चतुर्थ परिवर्त्त द्रुत लय में करना चाहिए । इसमें हाथ और पैरों का निपात सोलह बार होता है ॥ ८६ ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह उठता है कि पञ्चमी अर्थात् पाँच पग चलने में कितने काल का विक्षेप होता है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि जर्जर ग्रहण से लेकर कुतुपाभिमुख गमन पर्यन्त । ग्रहण का अर्थ है धारण करना । इससे चौबीस कलाओं के मध्य में कुतुप पर्यन्त गमन करे, यह तात्पर्य निकलता है ॥ ८५ ॥

अभिनव—षोडश पद से तात्पर्य है दो कलाओं के काल के हिसाब से एक पात ॥ ८६ ॥

---

१. ख. ध. वामवेधस्ततः कार्यो विक्षेपो दक्षिणेन तु ।

२. क-अ. विज्ञेयो दक्षिणस्य तु । क-न. विक्षेपोत्सर्पणान्तिकम् ।

३. ख. ध. कुतपाभिमुखान्तगः । ग. कुतपो निगमान्तकः । क-अ. सर्वनिष्क्रान्तकस्तथा ।

४. ख. ध विज्ञेयो वै द्रुते लये ।

५. ख. ग. करपातनिपातास्तु ।

[1]त्र्यश्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः ।
वन्दनान्यथ कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ८७ ॥
आत्मप्रोक्षणमद्भिश्च त्र्यश्रे[2] नैव विधीयते ।
एवमुत्थापनं कार्यं ततश्च[3] परिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

त्र्यश्र इति । प्रसङ्गादेतदुक्तम् । न चैतावत्प्रयोगात्मकमेतदङ्गमिति दर्शयितुमाह--एवमित्यादि । एवम्भूतायामिहेतिकर्तव्यतायां

"यस्मादुत्थापयन्त्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः ।
पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिन् तस्मादुत्थापनं स्मृतम्" ॥ (ना० शा० ५-२२)

इति श्लोकलक्षितं प्रत्याहारादीनां गीतकविध्यन्तानां प्रयोगस्य च नाट्यस्योत्थापनं व्याख्यातरूपं कार्यम् । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे । ततस्तु परिवर्तनम् । न तु ध्रुवाप्रयोगानन्तरमेव ।

अनुवाद—त्र्यस्र ताल में तो हाथ और पैरों के बारह पात होते हैं । इसके बाद हाथ से भूमि का स्पर्श करते हुए तीन बार वन्दना करनी चाहिए ॥ ८७ ॥

अनुवाद—त्र्यस्रताल में जल से आत्मप्रोक्षण नहीं किया जाता है । इस प्रकार पहिले उत्त्थापन करना चाहिए, फिर इसके बाद परिवर्त्तन का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८८ ॥

अभिनव—'त्र्यस्र' को यहाँ प्रसङ्गवश कहा गया है । यह इतने प्रयोग का अङ्ग नहीं है, यह बात बताने के लिए कहते हैं कि इस प्रकार उत्त्थापन के बाद परिवर्त्तन करना चाहिए । एवम्भूत का अर्थ है यहाँ इतिकर्त्तव्यता करने के बाद—

"नान्दी पाठ करने वाले इसी से यहाँ रङ्ग में पहिले प्रयोग (अभिनय) का उत्त्थापन करते हैं, इसीलिए इसे उत्त्थापन कहते हैं ।" (ना० शा० ५-२२) ।

इस श्लोक से लक्षित प्रत्याहार आदि से लेकर गीतक विधि पर्यन्त प्रयोग रूप नाट्य का उत्त्थापन करना चाहिए । यहाँ पर 'च' शब्द 'तु' के अर्थ में प्रयुक्त है । 'ततश्च परिवर्त्तनम्' अर्थात् उत्त्थापन के बाद परिवर्त्तन करना चाहिए । ध्रुवा के प्रयोग के बाद परिवर्त्तन नहीं करना चाहिए ।

---

१. ख. त्र्यस्रे तु द्वादशपदा भवन्ति करपादजाः ।
   घ. त्र्यस्रे पाता हि द्वादश भवन्ति करपादजाः ।
   ग. त्र्यस्रे तु द्वादशपदा भवन्ति करपादयोः ।
२. ख. ग. त्र्यस्रेनैव । क-ब. त्र्यस्रेणैव । क-त. त्र्यस्रेण तु ।
३. क. ततस्तु ।

ये तूपसंहारग्रन्थत्वेनैतद व्याचक्षते "तस्मादुत्थापयन्ति" इति न तैः किञ्चिदनुस्मृतं[1] स्यात्। न हि ब्रह्माभिवादनजर्जराभिमन्त्रणमात्रेण किञ्चिद-प्युत्थापितं भवति। विघ्नशमनोपयोगित्वेनोत्थापकत्वं परिवर्तनादावपि स्यात्। उत्थापनीत्यन्वर्थत्वात्। नाट्यायितेन च प्रयोगोत्थापनान्तस्य च ध्रुवाभिनय-रूपतयोचितार्थाक्षेपात्।

"यत्तु काव्येनं नोक्तं स्याद्गीतेन" इति।

तथा "गीतं प्राणाः प्रयोगस्य" इति।

"परिक्रमेण रङ्गस्य तथैवार्थवशेन च।
परिवर्तास्तु"

इति वचनेन गान्धर्व इव ध्रुवागाने परिवर्तानामदृष्टार्थेतिकर्तव्यतारूपाभावात्[2]। स्फुटश्चैषामुपाये निर्दिष्टेनोचितेनार्थचतुष्टयेन युक्तेयं सुकविना ध्रुवा कार्येति वृद्धाः ॥ ८८ ॥

जो लोग उपसंहार ग्रन्थ के रूप में 'इससे उत्थापन करते हैं' इस प्रकार जो व्याख्या करते हैं, उन्हें कुछ भी स्मरण नहीं है। केवल ब्रह्मा के अभिवादन और जर्जर के अभिमन्त्रण मात्र से कुछ भी उत्थापित नहीं होता। विघ्नों के शमन (शान्ति) के उपयोगी होने से प्रयोग का उत्थापन परिवर्त्तन आदि में भी हो सकता है। क्योंकि 'उत्थापन' यह शब्द अन्वर्थसंज्ञक है और नाट्य के अभिनय के प्रयोग के उत्थापन पर्यन्त ध्रुवा के अभिनय रूप होने से उचित अर्थ में आक्षेप होता है।

"जो काव्य के द्वारा नहीं कहा गया है उसे गीत से सिद्ध करना चाहिए क्योंकि गीत-प्रयोग (अभिनय) के प्राण हैं।"

"रङ्ग के परिक्रमण से तथा उसी प्रकार प्रयोजनवश परिवर्त्तन का प्रयोग करना चाहिए।"

इस कथन से गन्धर्व के समान ध्रुवागान में परिवर्त्तों के अदृष्ट फल रूप इति-कर्त्तव्यता का अभाव होता है। स्पष्ट है कि इनके उपाय में निर्दिष्ट अर्थ चतुष्टय से युक्त ध्रुवा का प्रयोग कवियों को करना चाहिए, ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं ॥ ८८ ॥

विशेष—यहाँ तक उत्थापनविधि का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इसमें नान्दीपाठक पहिले प्रयोग का उत्थापन करता है, इसीलिए उसे 'उत्थापन' कहते हैं। उत्थापन के बाद परिवर्त्तन अर्थात् परिवर्त्तिनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा वृद्धों का कथन है ॥ ८८ ॥

१. क. किञ्चिदनुसृतं स्यात्।
२. क. इतिकर्त्तव्यतारूपत्वाभावात्। क-म. भ. इतिकर्त्तव्यतारूपाभावत्वात्।

चतुरश्रं[1] लये मध्ये सन्निपातैरथाष्टभिः ।
[2]यस्या लघूनि सर्वाणि केवलं नैधनं[3] गुरु ॥ ८९ ॥
भवेदतिजगत्यान्तु सा ध्रुवा परिवर्तनी[4] ।
वार्तिकेन[5] तु मार्गेण वाद्येनानुगतेन च ॥ ९० ॥
ललितैः [6]पादविन्यासैर्वन्द्या [7]देवा यथादिशम् ।

ततश्चेति चतुरश्रतालयुक्तध्रुवायोगात्परिवर्तनं चतुरश्रम् । पादैर्गीयत इति सन्निपाताच्च(सन्निपाताश्च) पादचतुष्टययोगात् । सन्निपाताष्टकमत्र लक्षयति—यस्या इति । अतिजगती त्रयोदशाक्षरा । तेन परिवर्तनचतुष्टयम् ॥८९-९०(१)॥

गुरुः वार्तिकमार्गो यत्र [8]चतुर्मात्रा कला । गीतं यदनुगच्छत्यनुगतमेतद्भ्वेद्वाद्यम् ॥ ९०-९१ (१)

परिवर्त्तिनी ध्रुवा का लक्षण

अनुवाद—परिवर्त्तिनी ध्रुवा चतुरस्र ताल में मध्य लय में आठ सन्निपातों से युक्त होती है। जिसमें अतिजगती छन्द का प्रयोग होता है जिसमें तेरह अक्षर होते हैं। जिसके सभी अक्षर लघु होते हैं केवल अन्तिम अक्षर गुरु होता है वह परिवर्त्तिनी ध्रुवा कही जाती है ॥ ८९-९० (१) ॥

अभिनव—चतुरस्र ताल से युक्त ध्रुवा के योग से परिवर्त्त चतुरस्र होता है। पादों से गाया जाता है, इसलिए सन्निपात से पादचतुष्टय के योग से चतुरस्र होता है। अब आठ सन्निपातों का लक्षण करते हैं—जिसके सभी अक्षर लघु और अन्तिम गुरु होता है और तेरह अक्षर वाला अतिजगती छन्द का प्रयोग होता है, इसलिए परिवर्त्तन चतुष्टय कहा है ॥ ८९-९० (१) ॥

अनुवाद—सूत्रधार वार्त्तिक मार्ग से वाद्यों में अनुगत किये जाते हुए ललित पदविन्यास के द्वारा दिशाओं के अनुसार देवताओं की वन्दना करनी चाहिए ॥ ९१-९२ (१) ॥

अभिनव—वार्त्तिकमार्ग जिसमें चार मात्राओं की कला होती है। गीत का जो अनुगमन करता है वह अनुगत वाद्य होता है ॥ ९०-९१ (१) ॥

---

१. ख. घ. चतुरस्रे लये मध्ये सन्निपातस्तथाष्टभिः ।
२. ख. ग. घ. यस्यां । ३. ख. घ. निधनं ।
४. ख ग. परिवर्तिनी । ५. ख. घ वामकेन ।
६. ग. पदविन्यासैः ।
७. ग. घ. वन्द्याद् देवान् यथादिशम् । क-अ. वन्द्याश्चैव दिशो दश । क-द. न. ब. वन्दे देवान् यथादिशम् । ८. क-म. भ. चतुर्मार्गा ।

द्विकलं पादपतनं पादचार्यां[1] गतं भवेत् ॥ ९१ ॥
[2]वामपादेन वेधस्तु कर्तव्यो नृत्तयोक्तृभिः ।
[3]द्वितालान्तरविष्कम्भो विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ ९२ ॥
ततः पञ्चपदीं गच्छेदतिक्रान्तैः पदैरथ ।
ततोऽभिवादनं कुर्याद्देवतानां यथादिशम् ॥ ९३ ॥
वन्देत प्रथमं पूर्वां दिशं शक्राधिदैवताम्[4] ।
द्वितीयां दक्षिणामाशां वन्देत [5]यमदैवताम् ॥ ९४ ॥

पादचार्यां भौम्यामाकाशिक्यां वा कर्तव्यायां पादपतनं द्वे कले व्याप्नोति । एकस्यामुत्क्षेपोऽन्यस्यां पतनमिति यावत् । अन्ये तु शोभार्थं कलायां द्वौ पादपातौ वार्तिकमार्गे वर्णयन्त इत्थं व्याचक्षते–द्वित्वं वर्तयत्येको योऽन्योभिवर्तते । न विद्यते कले यस्य पादपतनस्य तद्विकलमिति ॥ ९१-९२ ॥

अनुवाद–इसमें पादचारी के प्रयोग में पाद का पतन अर्थात् पैरों के गिरने का अन्तराल दो कलाओं का होता है । नाट्यप्रवोक्ताओं को इसमें बायें पैर से वेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग करना चाहिए और दो ताल के अन्तर पर दाहिने पैर का विक्षेप किया जाता है ॥ ९१-९२ ॥

अभिनव–पादचारी अर्थात् भौमी अथवा आकाशिकी पाद चारी के प्रयोग में पादपतन अर्थात् पैरों का गिरना दो कलाओं का होता है अर्थात् एक कला में पाद का उत्क्षेप और दूसरी कला में पाद का पतन होता है । दूसरे लोग तो शोभा के लिए कला में दो पातों को वार्त्तिक मार्ग में वर्णन करते हुए इस प्रकार व्याख्या करते हैं– एक द्वित्व का वर्त्तन करता है और दूसरा उसका अभिवर्द्धन (अनुवर्त्तन) करता है । जिसमें पादपतन की कलाएँ नहीं होतो, उसे विकल कहते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अनुवाद–इसके बाद अतिक्रान्त चारी पाद (पैरों) से पाँच पग चलना चाहिए, फिर दिशाओं के अनुसार देवताओं का अभिवादन करे ॥ ९३ ॥

अनुवाद–पहिले इन्द्र देवता से अधिष्ठित पूर्व दिशा की वन्दना करे । उसके बाद यम देवता से अधिष्ठित दक्षिण दिशा की वन्दना करे ॥ ९४ ॥

---

१. ख. घ. पादचर्यां विधीयते । क-अ. पादचार्यंभिधीयते । क-त. पादचार्या विधीयते ।
२. ख. घ. पुस्तकयोः इतः पूर्वं 'एकैकस्यां दिशि तथा सन्निपातद्वयं भवेत्' इत्यधिकः पाठः ।
३. ख द्वितालान्तरविष्टम्भो विक्षेपो दक्षिणस्य तु ।
४. ख. घ. शक्राधिदेवताम् ।
५. ख. यमदेवताम् ।

वन्देत पश्चिमामाशां ततो [1]वरुणदैवताम् ।
चतुर्थीमुत्तरामाशां वन्देत धनदाश्रयाम् ॥ ९५ ॥
दिशां तु वन्दनं कृत्वा वामवेधं प्रयोजयेत् ।
दक्षिणेन च कर्तव्यं विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ ९६ ॥
प्राङ्मुखस्तु ततः कुर्यात्पुरुषस्त्रीनपुंसकैः ।
[2]त्रिपद्या सूत्रभृद्रुद्रब्रह्मोपेन्द्राभिवादनम् ॥ ९७ ॥

शक्रोऽधिष्ठात्री देवता अस्या इति तां पूर्वां यजेतेति (वन्देतेति) । विशेष्येण वा [3]विशेषेण वेदं (बध्नातीति विशेषणेन वा संबध्नातीति) सविशेषं वन्द्यमानत्वं शक्रस्य गम्यते ॥ ९४ ॥

विक्षेपपूर्वकं परिवर्तनम् । येनोत्तराभिमुखं स्थितः परिवृत्य पूर्वाभिमुखो भवति ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इसके बाद वरुण देवता से अधिष्ठित पश्चिम दिशा की वन्दना करे, फिर कुबेर के द्वारा आश्रित उत्तर दिशा की वन्दना करें ॥ ९५ ॥

अभिनव—इन्द्र हैं अधिष्ठातृ देवता जिसके, उस पूर्व दिशा की पहिले वन्दना करे। इस प्रकार विशेषण के द्वारा विशेष्य के साथ सम्बन्ध (अन्वय) होता है अतः सविशेष इन्द्र वन्दनीय है, यह लक्षित होता है अर्थात् पूर्व दिशा की वन्दना करने का अभिप्राय है पूर्व दिशा के अधिष्ठातृ देव इन्द्र की वन्दना करनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य दिशाओं के अधिष्ठातृदेवों की भी वन्दना करे ॥ ९४-९५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार दिशाओं की वन्दना करके बायें पैर से वेध करे अर्थात् सूची चारी का सम्पादन करे, फिर दाहिने पैर के विक्षेपपूर्वक परिवर्त्तन करे ॥ ९६ ॥

अभिनव—'विक्षेपपरिवर्त्तन' का अर्थ हैं विक्षेपपूर्वक परिवर्त्तन करना। जिससे उत्तर दिशा की ओर स्थित व्यक्ति घूमकर पूर्वाभिमुख हो जाता है ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इसके बाद पूर्वाभिमुख होकर सूत्रधार पुरुष, स्त्री और नपुंसक लक्षण वाले त्रिपदी अर्थात् तीन पैरों के न्यास से रुद्र, ब्रह्मा और उपेन्द्र (विष्णु) का अभिवादन करे ॥ ९७ ॥

---

१. ख. वरुणदेवताम् ।
२. ग. त्रिपदीं सूत्रभृद् । घ. त्रिपदैः सूत्रधृक् ।
ख. त्रिपाद्या सूत्रधृक्रुद्रब्रह्मोपेन्द्राभिवन्दनम् ।
३. क-म. भ. विशेष्येति क्रियाविशेषेणैव बध्नाति सद्विशेषणम् ।

दक्षिणं तु पदं पुंसो वामं स्त्रीणां प्रकीर्तितम्[1] ।
[2]पुनर्दक्षिणमेव स्यान्नात्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ॥ ९८ ॥
वन्देत पौरुषेणेशं स्त्रीपदेन जनार्दनम् ।
नपुंसकपदेनापि तथैवाम्बुजसम्भवम्[3] ॥ ९९ ॥
परिवर्तनमेवं स्यात्तस्यान्ते प्रविशेत्ततः ।
चतुर्थकारः[4] पुष्पाणि प्रगृह्य विधिपूर्वकम् ॥ १०० ॥

तत्र किं कुर्यादित्याह—प्राङ्मुखस्त्विति । त्रिपदीं दर्शयति—दक्षिणन्त्विति तया त्रिपद्या । अभिवादनं दर्शयति - वन्देतेति । एवं दिग्देवतावन्दनं परिवर्तिन्या ध्रुवया विध्युद्गीयमानपदया कार्यम् । तस्यान्त इत्यादि । तस्येति परिवर्तस्य । सूत्रधारस्य पारिपार्श्विकयोश्च तिस्रः क्रियाः । तद्व्यतिरिक्तश्चतुर्थं कर्म करोतीति चतुर्थकारः[5] । विधिः "स्थानन्तु वैष्णवम्" इत्यादि (ना. शा ५ ६७) सूत्रधारोक्तः ॥ ९७-१०० ॥

अनुवाद—दाहिना पैर पुरुष और बायाँ पैर स्त्रीपाद कहा गया है और फिर अधिक न उठा हुआ दाहिना पैर नपुंसक पाद कहा गया है ॥ ९८ ॥

अनुवाद—पुरुष पाद से स्थित होकर ईश्वर (शिव) की वन्दना करे। स्त्रीपाद से विष्णु की और उसी प्रकार नपुंसक पाद से स्थित होकर ब्रह्मा की वन्दना करे ॥ ९९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार परिवर्त्तन की क्रिया सम्पन्न होती है। फिर उसके अन्त में चतुर्थकार अर्थात् चतुर्थपरिवर्त्त करने वाला विधिपूर्वक पुष्पों को लेकर मञ्च पर प्रवेश करे ॥ १०० ॥

अभिनव—इसके बाद वहाँ क्या करे ? कहते हैं कि पूर्वाभिमुख होकर त्रिपदी के द्वारा वन्दना करे। अब त्रिपदी को दिखाते हैं—दक्षिण पाद को अर्थात् दक्षिण आदि पुंस्त्रीक्लीब पाद त्रिपदी है। त्रिपदी के द्वारा वन्दना करे। इस प्रकार विधि-पूर्वक गीयमान पदों वाली परिर्वात्तनी ध्रुवा के द्वारा दिशाओं के अधिष्ठातृ देवों की वन्दना करे परिवर्त्त के अन्त में सूत्रधार और दोनो पारिपार्श्वकों की तीन क्रियाएँ हैं। उनके अतिरिक्त चौथी क्रिया को जो करता है वह चतुर्थकार है। 'विधि' से तात्पर्य है जो 'स्थानं तु वैष्णवं कृत्वा' के द्वारा सूत्रधार के लिए कही गई है ॥९७-१००॥

---

१. ग. वामं स्त्रीपदमुच्यते ।

२. ख. घ. दक्षिणं तु पदं ज्ञेयं नाभ्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ।

ग. पुनर्दक्षिणमेव स्यान्नाभ्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ।

३. क-अ. ब्रह्माणं पद्मसम्भवम् ४. ख. चतुष्प्रकारपुष्पाणि ५. क-म, भ. चतुष्प्रकारः ।

यथावत्तेन कर्तव्यं पूजनं जर्जरस्य तु ।
[1]कुतपस्य च सर्वस्य सूत्रधारस्य चैव हि ॥ १०१ ॥
तस्य [2]भाण्डसमः कार्यस्तज्ज्ञैर्गतिपरिक्रमः ।
न तत्र गानं[3]कर्तव्यं तत्र स्तोभक्रिया भवेत् ॥ १०२ ॥
[4]चतुर्थकारः पूजां तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत् ।
ततो गेयावकृष्टा[5] तु चतुरस्रा स्थिता ध्रुवा[6] ॥ १०३ ॥

पुष्पाणां प्रयोजनमाह—यथावदिति । तृतीयेऽध्याये पुष्कराध्याये (३४) च निरूपि तद्देवतापूजाक्रमेण ॥ १०१ ॥

भाण्डेनैव सम इति । पुष्करवाद्यमेवास्य गत्यर्थे परितः क्रमेण कार्यम् । गीयत इति गानमर्थवद्वाक्यम् । स्तोभानां शुष्काक्षराणाम् । क्रिया गानमित्यर्थः ॥ १०२ ॥

अनुवाद—इसके बाद उसके द्वारा विधिपूर्वक जर्जर की और समस्त कुतुप (वाद्ययन्त्र) तथा सूत्रधार का पूजन करना चाहिए ॥ १०१ ॥

अभिनव—पुष्पों के प्रयोजन को कहते हैं—'यथावत् अर्थात् विधिपूर्वक। तृतीय अध्याय में और चौंतीसवें पुष्कराध्याय में निरूपित (बताये गये) देवताओं के पूजा के क्रम से ॥ १०१ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को उस चतुर्थकार की गति का परिक्रमण भाण्ड-वाद्यों के साथ करनी चाहिए। उस समय गान नहीं करना चाहिए, केवल स्तोभक्रिया अर्थात् केवल अर्थहीन अक्षरों का आलाप होना चाहिए ॥ १०२ ॥

अभिनव—भाण्ड वाद्यों के साथ अर्थात् इस चतुर्थकार की गति के अर्थ में चारों ओर क्रम से पुष्करवाद्य का ही प्रयोग करना चाहिए। जो गाया जाय वह गान है अर्थवान् वाक्य है। स्तोभ का अर्थ है शुष्काक्षरों का गान (आलाप)। यहाँ क्रिया का अर्थ गान है ॥ १०२ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा

अनुवाद—इस प्रकार पूजा सम्पन्न करके वह चतुर्थकार अन्तर्हित हो जाता है। उसके बाद चतुरस्र ताल तथा विलम्बित लय से युक्त अवकृष्टा ध्रुवा का गान करना चाहिए ॥ १०३ ॥

---

१. ख. भाण्डस्यैव च ।
२. ख. घ. तस्य भाण्डगतः कार्यस्तज्ज्ञैर्गीतपरिक्रमः । ३. क-अ. श्लोकं क्रिया ।
४. चतुष्प्रकारपूजां तु निष्क्रामेत् सम्प्रयुज्य हि । चतुर्थकारः पूजां तु निष्क्रामेत् सम्प्रयुज्य हि । ग. चतुर्थकारपूजां तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत् । ५. ग. गेहावकृष्टा । घ. गेयापकृष्टा ।
६. ख. घ. स्थिरा ध्रुवा । क-अ. ध्रुवा स्थितलयाश्रिता ।

गुरुप्राया तु सा कार्या तथा चैवावपाणिका[1]।
स्थायिवर्णाश्रयोपेता[2] कलाष्टकविनिर्मिता ॥ १०४ ॥
[3]चतुर्थं पञ्चमं चैव सप्तमं चाष्टमं तथा।
लघूनि पादे पङ्क्त्यान्तु सावकृष्टा ध्रुवा स्मृता ॥ १०५ ॥

स्थितेति। विलम्बितलया ॥ १०३ ॥

गुरुप्रायेति। "नव गुर्वक्षराण्यादौ" इति (ना. शा. ५-१११) यच्छुष्कावकृष्टाया लक्षणं भविष्यति तदेवास्यामिति यावत्। "स्थिताः स्वराः समा यत्र स्थायी वर्णः सः" (ना. शा. २९-१९) तमाश्रिता येऽलङ्कारा वक्ष्यन्ते तैरुपेताः। कलाष्टकं द्विकलचञ्चत्पुट उक्तपूर्वः (५-६२) ॥ १०४ ॥

एवं [4]पूर्वामितिकर्तव्यतामभिधाय नान्दीमाह—सूत्रधार इति।

अभिनव—'स्थिता का अर्थ है विलम्बित लय ॥ १०३ ॥

अनुवाद—वह अवकृष्टा ध्रुवा प्रायः गुरु अक्षरों वाली, अवपाणिका ताल से युक्त, स्थायी वर्णों के आश्रय से युक्त और आठ कलाओं से निर्मित होती है ॥ १०४ ॥

अभिनव—'गुरुप्राय' अर्थात् इसमें प्रायः गुरु अक्षर होते हैं। "प्रारम्भ में नौ गुरु अक्षर" ऐसा जो शुष्कावकृष्टा का लक्षण आगे कहेंगे वही इसका लक्षण भी होगा। 'जहाँ पर स्वर स्थित (सम) हों, वही स्थायी वर्ण होता है।" उसके आश्रित जो अलङ्कार कहें जायेंगे उनसे युक्त। 'कलाष्टक' पद से पहिले कहे हुए द्विकल चञ्चत्पुट समझना चाहिए ॥ १०४ ॥

अनुवाद—जहाँ पर पङ्क्ति छन्द के प्रत्येक चरण में चौथा, पाँचवा, सातवाँ तथा आठवाँ अक्षर लघु हों वह अवकृष्टा ध्रुवा कहलाती है ॥ १०५ ॥

विमर्श—यहाँ अवकृष्टा ध्रुवा का लक्षण बताया गया है। अवकृष्टा ध्रुवा में प्रायः गुरु अक्षर होते हैं और इसमें अवपाणि ताल का प्रयोग होता है। गीत, वाद्य, नृत्य के बाद प्रयुक्त ताल का आरम्भ अवपाणि ताल कहा गया है। यह स्थायी वर्णों के आश्रित होता है और आठ कलाओं से निर्मित माना गया है। जिसके चतुर्थ, पञ्चम, सप्तम और अष्टम वर्ण लघु होते हैं उसे अवकृष्टा ध्रुवा कहते हैं ॥ १०४-१०५ ॥

अभिनव—इस प्रकार पहिले इति कर्त्तव्यता को कहकर फिर नान्दी को कहते हैं—

---

७. ग. चैवार्धपाणिका। ८. ख. घ. स्थायिवर्णाश्रयोपेतां कलाष्टकविनिर्मिताम्।
९. इदं पद्यं ख. पुस्तके नास्ति।
११. क-म. भ. ध्रुवामितिकर्तव्यतामभिधाय।

सूत्रधारः पठेत्तत्र[1] मध्यमं स्वरमाश्रितः ।
नान्दीं[2] पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाऽप्यलङ्कृताम् ॥ १०६ ॥
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो [3]द्विजातिभ्यः शुभं तथा ।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च[4] ॥ १०७ ॥

तत्रेत्यवकृष्टायां गीतायामित्यर्थः । तद्ध्रुवागानगतेन मध्यमस्वरेण पाठ इत्यतस्तस्या ध्रुवाया मध्यमांशको [5]जात्यंशको गृहीत इत्युक्तं भवति । एतदुपजीवनेनोक्तं कश्यपाचार्येण "पूर्वरङ्गे तु षाडबः" इति । वाग्रहणादपिशब्दाच्चतुष्षोडशपदत्वं चतुरश्रे पूर्वरङ्गे । त्र्यश्रे तु (त्रिषट्पदत्वमपि)लभ्यते । एतच्च प्रथमाध्याय एवास्माभिरुक्तम् (२५-२६) ॥ १०५ ॥

नान्दी

अनुवाद—इसके बाद सूत्रधार मध्यम स्वर का आश्रय लेकर बारह अथवा आठ पदों से अलङ्कृत नान्दी का पाठ करे ॥ १०६ ॥

अभिनव—'तत्र' से अभिप्राय है अवकृष्टा ध्रुवा का गान होने पर। उस ध्रुवा के गान के अन्तर्गत मध्यम स्वर से पाठ होता है, इसलिए उस ध्रुवा का मध्यम अंश जाति अंश को लिया गया है, यह कहा गया है। इसको उपजीवन करके कश्यपाचार्य ने कहा है कि "पूर्वरङ्ग में षाडब स्वर का प्रयोग करना चाहिए"। यहाँ पर 'वा' शब्द और अपि शब्द के ग्रहण से चतुरस्र पूर्वरङ्ग में त्रिपदा एवं षट्पदा नान्दी का ग्रहण होता है। यह बात प्रथम अध्याय में ही हम लोगों ने कह दिया हैं ॥ १०७ ॥

विमर्श—इस श्लोक में 'पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाऽप्यलङ्कृताम्' में 'वा' और 'अपि' शब्द आया है। उससे यह सङ्केत मिलता है कि चतुरस्र रङ्ग में चतुष्पदा और षोडशपदा नान्दी भी होती है। इसी प्रकार त्र्यस्र मण्डप में त्रिपदा और षट्पदा नान्दी का भी ग्रहण होता है। यहाँ पर पद अवान्तर वाक्य का बोधक है। तदनुसार चार, छः, आठ, बारह, सोलह आदि अवान्तर वाक्य होने से चतुष्पदा, षट्पदा, अष्टपदा, द्वादशपदा, षोडशपदा आदि नान्दी के कई प्रकार होते हैं ॥ १०६ ॥

अनुवाद- समस्त देवताओं के लिए नमस्कार हो तथा समस्त द्विजातियों का कल्याण हो, राजा चन्द्रमा की जय हो, गो और ब्राह्मण का मङ्गल हो ॥ १०७ ॥

---

१. ख. घ. पठेन्नान्दीं । २. ख. घ. ततः ।
३. क-अ. म. द्विजातिभ्यश्च वै नमः ।
४. ख. आरोग्यं भोग एव च । घ. आरोग्यं गोभ्य एव च । क-अ. शिवं गोब्राह्मणस्य वा ।
५. क-म. भ जात्यङ्गको ।

ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
[1]प्रशास्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥ १०८ ॥
[2]राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव [3]रङ्गस्याशा समृद्धयतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान्धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः[4] ॥ १०९ ॥
[5]काव्यकर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता[6] इति ॥ ११० ॥
नान्दीपदान्तरेष्वेव ह्येवमार्येति[7] नित्यशः ।
[8]वन्देतां सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिस्तौ[9] पारिपार्श्विकौ[10] ॥ १११ ॥

नान्दीं पठति—नमोऽस्त्वित्यादि देवता इत्यन्तम् । रङ्गस्येति । नटकुशीलववर्गस्य । धर्म इति । "य इमं पूर्वरङ्गम्" इति (ना. शा. ५-१७०) वक्ष्यमाणः ॥ १०७-११० ॥

अनुवाद—उसी प्रकार ब्राह्मणों का उत्कर्ष हो और ब्रह्मद्रोही नष्ट हो जाँय, महाराज समुद्र के साथ इस पृथ्वी पर शासन करें ॥ १०८ ॥

अनुवाद—राष्ट्र की समृद्धि हो, रङ्ग की आशाएँ समृद्ध हों तथा प्रेक्षा-निर्माता नाट्याचार्य से वेदों में कथित महान् धर्म का लाभ हो ॥ १०६ ॥

अनुवाद—काव्य-निर्माता (नाटककार) को यश की प्राप्ति हो और धर्म की वृद्धि हो और इस प्रकार इस यजन से अर्थात् काव्यरूप यज्ञ के अनुष्ठान से देवता सदा प्रसन्न हों ॥ ११० ॥

अभिनव—'नमोऽस्तु' से लेकर 'देवता इति' यहाँ तक नान्दी का पाठ करते हैं । रङ्ग का अर्थात् नटकुशीलव वर्ग का । 'धर्म' पद से "जो इस पूर्वरङ्ग का विधि-पूर्वक प्रयोग करता हैं" इत्यादि वक्ष्यमाण वाक्य अभिप्रेत है ॥ १०८-११० ॥

अनुवाद—इस प्रकार प्रत्येक नान्दी पद के पाठ के अन्त में वे दोनों पारिपार्श्विक अच्छी तरह से उक्त स्पष्ट वाणी से "हे आर्य ! ऐसा ही हो" इस प्रकार कहें ॥ १११ ॥

---

१. ग. प्रशास्त्वेमां । २. ख. घ. राज्यं ।
३. ख. घ. रङ्गश्चायं समृध्यताम् । क-अ. रङ्गमस्यां समृद्धचताम् ।
४. ख. घ. ग. ब्रह्मभावितः ।
५. क-म. काव्यकर्त्तुर्यशश्चात्र नित्यमेव प्रवर्धताम् ।
६. क-प. म. दानवा इति । क-अ. सर्वदेवताः ।
७. ख. ग. घ. ह्येवमस्त्विति । ८. ख. घ. ग. वन्देताम् ।
९. ग. वाग्मिनौ । ख. घ. गीर्भिस्तौ । १०. ख. ग. घ. पारिपार्श्वकौ ।

पदमत्रावान्तरवाक्यम्। तदन्तेष्वेवमार्येति। अन्तरशब्दो विशेषे। नान्दीपदविशेष उक्त इत्यर्थः। [1]मध्यवाचिनीत्यन्तरशब्दोऽन्त्यं पदं न स्वीकृतम्।

एवमिति [2]चतुर्थकारप्रवेशादितिकर्तव्यतेयमित्यर्थः।

अभिनव—यहाँ पर 'पद' से अवान्तर वाक्य अभिप्रेत है। उसके अन्त में 'हे आर्य! ऐसा ही हो' इस प्रकार कहना चाहिए। यहाँ पर अन्तर शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् नान्दीपद विशेष कहा गया है। मध्यवाची अन्तर शब्द से अन्तिम पद को स्वीकार नहीं किया गया है॥ १११॥

विमर्श—यहाँ पर अभिनवभारती में इस अनुच्छेद का पाठ अत्यन्त अस्त-व्यस्त एवं क्रमहीन छपा हुआ है और कुछ अंश अस्थान-पतित भी है। इस अनुच्छेद का पाठ संशोधित कर निम्नप्रकार कर देने से क्रमबद्ध हो जाता है और यथास्थान नियोजित कर देने से अस्थान-पाठ दोष का निराकरण हो जाता है—

"वाशब्दग्रहणादपि शब्दाच्चचतुष्षोडशपदत्वं चतुरस्रे पूर्वरङ्गे। त्र्यस्रे तु त्रिषट्पदत्वमपि लभ्यते। एतच्च प्रथमाध्याय एवास्माभिरुक्तम् (२५-२६)

"नान्दीं पठति—**नमोऽस्त्वि**त्यादि **देवता** इत्यन्तम्। **रङ्गस्येति**। नटकुशीलववर्गस्य। **धर्म** इति। "य इमं पूर्वरङ्गं तु विधिनैव प्रयोजयेत्।" इति (ना. शा. ५।१७४) वक्ष्यमाणः॥

"**पद**मत्रावान्तरवाक्यम्। तदन्तेष्वेवमार्येति। अन्तरशब्दो विशेषे। नान्दीपदविशेष उक्त इत्यर्थः। मध्यवाचिनीत्यन्तरशब्दोऽन्त्यं पदं न स्वीकृतम्।"

इस पाठ का प्रथम अंश ('वा' से लेकर 'उक्तम् तक) १०६वें श्लोक की अभिनवभारती के साथ सम्बद्ध है। उक्त श्लोक में 'वा' और 'अपि' शब्द आया है। उनकी व्याख्या इस अंश में की गई है कि चतुरस्रपूर्वरङ्ग में त्रिपदा और षट्पदा नान्दी का प्रयोग होता है।

द्वितीय अंश का पाठ १०७वें श्लोक 'नमोऽस्तु' से लेकर 'देवता इति' ११० वें श्लोक तक चार श्लोकों से सम्बद्ध अभिनवभारती की व्याख्या है। जिसमें राष्ट्र की समृद्धि, धर्म और यश की अभिवृद्धि तथा समस्त देवताओं के प्रसन्न होने की कामना की गई है।

तृतीय अंश १११वें श्लोक से सम्बद्ध है। इस श्लोक में नान्दी पाठ की एक विशेषता है। सूत्रधार प्रत्येक पद का सस्वर पाठ करता है और दोनों पारिपार्श्विक उसके पाठ को 'हे आर्य! एवमस्तु' कहकर स्वीकृति देते चलते हैं।

अभिनव—'एवम्' पद से चतुर्थकार के प्रवेश से यह इतिकर्त्तव्यता है सूचित होती है।

१. क. मध्यवाचिन्यन्तरशब्देऽन्त्यं पदं न स्वीकृतम्।
२. क-क. भ. चतुष्प्रकारप्रवेशादिति।

एवं नान्दी विधातव्या [1]यथावल्लक्षणान्विताः ।
[2]ततश्शुष्कावकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोकदर्शिका ॥ ११२ ॥
[3]नवगुर्वक्षराण्यादौ षड्लघूनि गुरुत्रयम् ।
[4]शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला ह्यष्टौ प्रमाणतः ॥ ११३ ॥
यथा—
[5]दिग्ले दिग्ले दिग्ले दिग्ले जम्बुकपलितकते तेचाम् ।

एवं नान्दीं लक्षणतः पूरयित्वा शुष्कावकृष्टाख्यमङ्गं पूरयति—ततश्शुष्का-कृष्टेत्यादिना । (ततः) एतत्प्रयोगानन्तरम् । जर्जरस्तुतिश्लोको यतः सूत्रधारेण पठ्यतेऽतो जयतेर्दर्शिका तत्पुरस्सरीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार लक्षणों से युक्त नान्दी का विधिवत् प्रयोग करना चाहिए । उसके बाद जर्जर के यश को प्रर्दाशत करने वाली शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का गान करना चाहिए ॥ ११२ ॥

अभिनव—इस प्रकार नान्दी के लक्षण को पूरित करके अब शुष्कावकृष्टा नामक अङ्ग को पूरित करते हैं—उसके बाद अर्थात् नान्दी के बाद शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग करे । 'ततः' पद का अर्थ है इसके प्रयोग के बाद । क्योंकि जर्जर की स्तुति-दर्शक श्लोक को सूत्रधार पढ़ता है इसलिए 'जय' को प्रर्दाशत करने वाली नान्दी का पाठ किया जाता है । ॥ ११२॥

शुष्कावकृष्टा ध्रुवा

अनुवाद--शुष्कावकृष्टा ध्रुवा में आदि के नौ अक्षर गुरु होते हैं । फिर छः अक्षर लघु और अन्तिम तीन अक्षर गुरु होते हैं तथा आठ कला का परिमाण होता है ॥ ११३ ॥

उदाहरण जैसे--

S SS SSSS SS|||| ||SSS
"दिग्ले दिग्ले दिग्ले दिग्ले जम्बुकपलितकते तेचाम्"

---

१. ख. घ. यथोक्ता लक्षणैर्मया ।
२. ख. घ. ततः शुष्कापकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोकदर्शिता ॥
३. क-त. न च गुर्वक्षराण्यादौ । क-अ. नवगुर्वक्षराणीह ।
४. ख. घ. कलाश्चाष्टौ प्रमाणेन पादैह्यष्टादशाक्षरैः ।
५. ख. झण्डे झण्डे दिल्लग् दिग्ले । जम्बुक वलितक तेत्तेन्नाम् ।
ग. दिग्ले दिग्ले झण्डु झण्डु जम्बुकवलितक ते तेन्नाम् ।
क-अ. दिल्हे दिल्हे दिल्हे दिल्हे जम्बूकवलितक ते ते च ।

कृत्वा शुष्कावकृष्टां[1] तु यथावद्द्विजसत्तमाः ॥ ११४ ॥
ततः श्लोकं पठेदेकं गम्भीरस्वरसंयुतम् ।
देवस्तोत्रं पुरस्कृत्य यस्य पूजा प्रवर्तते ॥ ११५ ॥
[2]राज्ञो वा यत्र भक्तिः स्यादथ वा ब्रह्मणस्स्तवम् ।
[3]गदित्वा जर्जरश्लोकं रङ्गद्वारे च यत्स्मृतम[4] ॥ ११६ ॥
पठेदन्यं पुनः श्लोकं जर्जरस्य प्रकाशनम्[5] ।

शुष्कावकृष्टामात्राः (नवगुर्वक्षराणीति)। उदाहरणं पठतीदं दिग्ले इत्यादि । यथावदित्यनेन तदनन्तरं जर्जरश्लोकपाठं सूचयति । तद्दर्शनेन तस्या उक्तत्वात् ॥ ११३ ॥

इसमें प्रारम्भ के ९ अक्षर गुरु हैं, उसके बाद के सात अक्षर लघु हैं, फिर उसके बाद के अन्तिम तीन अक्षर गुरु हैं। इसलिए यह शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का उदाहरण है ॥११३॥

अभिनव--शुष्कावकृष्टा ध्रुवा में ९ गुरु अक्षर होते हैं। 'दिग्ले दिग्ले' इत्यादि उदाहरण को पढ़ते हैं। 'यथावत्' पद से शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के अनन्तर जर्जर श्लोक के पाठ की सूचना मिलती है। क्योंकि जर्जर श्लोक को देखकर नान्दीपाठ कहा गया है ॥ ११३ ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों ! विधिपूर्वक शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का गान करके सूत्रधार गम्भीर स्वर से एक श्लोक का पाठ करे । जिसमें जिस देवता की पूजा में प्रवत्त हो उस देवता की स्तुति को लक्ष्य करके गम्भीर स्वर से एक श्लोक का पाठ करे ॥ ११४-११५ ॥

अनुवाद - जिसमें राजा की भक्ति हो अथवा ब्राह्मण की स्तुति हो और रङ्ग के द्वार में जिसका स्मरण किया गया हो, इस प्रकार जर्जर श्लोक का पाठ करके फिर जर्जर के यश को प्रकाशित करने वाले दूसरे श्लोक का पाठ करे ॥ ११६-११७ (१) ॥

---

१. घ. शुष्कापकृष्टां तु ।
२. ख. घ. राज्ञो भक्तिश्च यत्र स्यादथवा ब्रह्मणस्तवः ।
३. ख. नन्दित्वा ।
४. ख. ग. रङ्गद्वारे च यः स्मृतः । क-म. रङ्गद्वारमिति स्मृतम् ।
५. घ. विनामनम् । क. ग. विनाशनम् ।

ततः श्लोकमित्यनेन रङ्गद्वारमङ्गं निरूपयति । देवस्य विष्णोः स्तोत्रं पूर्वं कृत्वा यां देवतामुद्दिश्योत्सवादौ नाट्यं कृतं सा तत्र स्तोतव्या । अथैवमेव(येन) नाट्यं प्रवर्तितं तत्प्रेक्षापतेराराध्यदेवता । स चेदुदासीनस्तर्हि ब्रह्मणः अयमसौ ।

रङ्गद्वारमुपसंहरंश्चार्याख्यमङ्गं पूरयितुं तत्र पूर्वेतिकर्तव्यतामाह—गदित्वेति ।

जर्जरश्लोकं गदित्वा यो रङ्गद्वारे श्लोकस्तं च गदित्वा जर्जरोऽपि नाम्यते । वक्ष्यमाणतुलाधृतरूपतया येन श्लोकेन संपाद्यते तादृशमन्यं श्लोकं पठेत् । "अत्र विघ्नविनाशार्थम्" (ना. शा. ३-७८) [1]इत्युक्तश्लोकाव्यतिरिक्त-नाम्नाऽर्थाभिधायिनं श्लोकं चार्यङ्गभूतं पठेदिति यावत् ।

अन्ये तु शुष्कावकृष्टानन्तरं देवतास्तोत्रमिति श्लोकः । ततो जर्जर-श्लोकः । ततो विष्णुस्तुतिकृद्रङ्गद्वारश्लोकः । ततो जर्जरश्लोक इत्याहुः ॥ ११५-११७ (१)॥

अभिनव- इसके बाद 'श्लोक' इस पद से रङ्गद्वार नामक अङ्ग का निरूपण करते हैं। पहिले ये विष्णु देवता की स्तुति करके जिस देवता के उद्देश्य से उत्सव आदि में नाट्य (अभिनय) किया गया है उसी देवता की स्तुति करनी चाहिए अथवा जिसके द्वारा नाट्य प्रवृत्त होता है उस प्रेक्षापति का जो आराध्य देवता है उसकी स्तुति करनी चाहिए। यदि वह उदासीन है तो ब्रह्मा की स्तुति करनी चाहिए।

अभिनव—इस प्रकार रङ्गद्वार का उपसंहार करते हुए चारी नामक अङ्ग को पूरित करने के लिए वहाँ पहिले इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—गदित्वा (कहकर)।

जर्जर श्लोक का पाठ करके और रङ्गद्वार से सम्बद्ध जो श्लोक है उसका पाठ करके जर्जर को नमित किया जाता है अर्थात् झुकाया जाता है। आगे कहे जाने वाले जिस श्लोक से सन्तुलित रूप में जर्जर को नाभिप्रदेश में धारण किया है उसी प्रकार किसी अन्य श्लोक का पाठ करे। इसके बाद विघ्नों के विनाश के लिए उक्त श्लोक के अतिरिक्त अर्थ को कहने वाले चारी के अङ्गभूत श्लोक का पाठ करे॥

अन्य लोग तो कहते हैं कि शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग के बाद देवता के स्तोत्र-विषयक श्लोक का पाठ फिर उसके बाद जर्जरश्लोक का पाठ, फिर विष्णु की स्तुति करने वाला रङ्गद्वार के श्लोक, उसके बाद फिर जर्जर श्लोक का पाठ करना चाहिए ॥ ११५-११७ (१) ॥

१. क-म इत्युक्तश्लोकव्यतिरिक्त ।

जर्जरं नमयित्वा[1] तु ततश्चारीं प्रयोजयेत् ॥ ११७ ॥
पारिपार्श्विकयोश्च स्यात्पश्चिमेनापसर्पणम्[2] ।
[3]अड्डिता चात्र[4] कर्तव्या ध्रुवा मध्यलयान्विता[5] ॥ ११८ ॥
चतुर्भिः [6]सन्निपातैश्च चतुरश्रा प्रमाणतः ।
[7]आद्यमन्त्यं चतुर्थं च पञ्चमं च तथा गुरु ॥ ११९ ॥
[8]यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ।

पश्चिमेनेति । प्राङ्मुखावेव पृष्ठनिवृत्तिभिः पदैः पारिपार्श्विकावपसर्पेतामित्यनेन केवलसूत्रधारप्रयोज्यमानाश्चारीमहाचार्यः सूचिताः ।

अनुवाद—इसके बाद जर्जर को प्रणाम करके चारी का प्रयोग करे और उसी समय पश्चिम की ओर अर्थात् पीछे की ओर से दोनो पारिपार्श्विकों को चला जाना चाहिए ॥ ११७-११८ (१) ॥

अभिनव—'पूर्वाभिमुख होकर पीछे की ओर लौटने वाले पैरों से दोनों पारिपार्श्विकों को अपसर्पण करना चाहिए' इस कथन से केवल सूत्रधार के द्वारा प्रयोज्य चारी और महाचारी सूचित होती है ॥ ११७-११८ (१)"

अड्डिता ध्रुवा

अब इसके बाद अड्डिता ध्रुवा का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद मध्य लय से युक्त अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। जो चार सन्निपातों से युक्त तथा प्रमाण में चतुरस्र हो और जिसमें पहला, अन्तिम, चौथा, पाँचवाँ अक्षर गुरु हो और शेष अक्षर लघु हों, विद्वानों को उसे अड्डिता ध्रुवा समझना चाहिए ॥ ११८-१२० (१) ॥

१. ख. बानयित्वा । २. क-च. पश्चिमेनापि सर्पणम् ।
३. क-ञ. च. आड्डता ।
४. ख. अड्डिता चानुकर्तव्या ।
५. क-अ. प. मध्यलयाश्रिता ।
६. ख. चतुर्भिः सन्निपातैस्तु चतुरस्रं प्रमाणतः ।
७. क-म. आद्यं मध्यं ।
८. ख. ग. यस्यां तु जायते पादे सा भवेदड्डिता ध्रुवा ।
क-न. पङ्क्त्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ।
क-त. पङ्क्तौ ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ।
क-ञ. यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वाड्डता ध्रुवा ।

[1]अस्याः प्रयोगं वक्ष्यामि यथा पूर्वं महेश्वरः ॥ १२० ॥
सहोमया क्रीडितवान्नानाभावविचेष्टितैः ।

ध्रुवामाह—अड्डिता चात्रेति । रङ्गद्वारे चार्यां चेति केचित् । अन्ये तु सन्निधानाद्रङ्गद्वारेऽवकृष्टैवेत्याहुः । अध्रुवमेव रङ्गद्वारमित्येके ।

चतुरश्रा इति । प्रस्ताराञ्चित एव चञ्चत्पुटे स्यात् (ना. शा. ३१-पु. ५२२. का. मा.) इह छन्दो विशेषाभिधानेऽपि नियमो वक्ष्यते 'उष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिश्चेति ।' (ना शा. ३२-३६) अड्डिता जातिरिति ।

अन्ये तु पठन्ति—

[2]आद्यं चतुर्थं दशममष्टमैकादशे तथा ।
गुरूणि दोधके या स्यादड्डिता नाम सा स्मृता ॥ इति ।
"आद्यमन्त्यं चतुर्थं च पञ्चमं च तथा गुरु ।" इत्यन्ये ॥

अभिनव—यहाँ अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिये। कुछ विद्वान् रङ्गद्वार और चारी में अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग मानते हैं। दूसरे लोग तो रङ्गद्वार के सान्निध्य के कारण रङ्गद्वार में अवकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग मानते हैं और अन्य विद्वान् तो रङ्गद्वार में ध्रुवा का प्रयोग ही स्वीकार नहीं करते हैं।

इस ध्रुवा में चार सन्निपात प्रयुक्त होते हैं। शास्त्रप्रमाण के आधार पर इसे चतुरस्र कहा गया है। चतुरस्र ध्रुवा प्रस्तार से अञ्चित चञ्चत्पुट ताल में होती है। यहाँ छन्दोविशेष के अभिधान में भी नियम को कहेंगे कि सात अक्षरों वाला उष्णिक् छन्द, आठ अक्षरों वाला अनुष्टुप्, नौ अक्षरों वाला बृहती और दश अक्षरों वाला पङ्क्ति छन्द होता है। भरत ने इसे जाति कहा है। उनके अनुसार अड्डिता एक जाति छन्द है।

अभिनव ने एक अन्य मत के अनुसार अड्डिता का लक्षण उद्धृत किया है—

"दोधक छन्द के पाद (चरण) में जब पहला, चौथा, आठवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ अक्षर गुरु होता है तो उसे अड्डिता ध्रुवा कहते हैं।"

अन्य आचार्य तो कहते हैं कि जहाँ पर पहिला, अन्तिम, चौथा और पाँचवा अक्षर गुरु होता है वहाँ अड्डिता ध्रुवा होती है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त अड्डिता के सम्बन्ध में दो मत स्वीकार करते हैं अथवा अभिनवगुप्त के समय तक दो मत प्रचलित हो चुके थे ॥ ११८-१२० (१) ॥

---

१. क-अ. न. म. तस्याः । क-ङ. यस्याः ।

२. क-भ. म. आद्यं चतुर्थमष्टमैकादशे तथा ।

[1]कृत्वाऽवहित्थं स्थानं तु वामं चाधोमुखं भुजम् ॥ १२१ ॥
[2]चतुरश्रमुरः कार्यमञ्चितश्चापि मस्तकः ।

अस्या इति । चार्याः । सहोमयेति । 'शृङ्गारस्य प्रचरणात् ।' (ना. शा. ५-२७) 'उमा तुष्टा' (ना. शा. ५-५२) इति चोक्तत्वादिति भावः । क्रीडितवानिति । स्त्रीचेष्टितेनेति भावः ॥ १२०-१२१ (१) ॥

कृत्वावहित्थं स्थानन्त्विति । अवहित्थं स्त्रीणां स्थानकम्—
"पूर्वो विरचितस्त्यश्रस्तदन्योऽपसृतः समः ।
पादस्तालान्तरन्यस्तस्त्रिकमीषत्समुन्नतम् ॥ (ना. शा. १२-१६८)
पाणिर्लताख्यो यत्रैकस्तदन्यस्तु नितम्बगः ।
अवहित्थं समाख्यातं स्थानमागमभूषणैः ।" (ना. शा. १२-१६९)

अनुवाद—अब मैं इस चारी के प्रयोग का वर्णन करूँगा, जैसाकि पहिले महेश्वर शिव ने उमा के साथ नाना प्रकार के पादों और चेष्टाओं में इसका अभिनय किया था ॥ १२०-१२१ (१) ॥

अभिनव—'अस्याः' का अर्थ है इस चारी का । 'सहोमया' अर्थात् उमा के साथ शिव ने क्रीड़ा की थी । जैसा कि इसी अध्याय में कहा जा चुका है कि **'शृङ्गार** रस के प्रचरण के कारण इसे चारी कहा गया है ।' (ना० शा० ५।५२) । भाव यह कि शृङ्गाररसपरक चारी के प्रयोग से उमा तुष्ट होती हैं । क्योंकि उमा और शिव के नानाविध भावों और चेष्टाओं से चारी का प्रयोग माना गया है । **'क्रीडितवान्'** अर्थात् क्रीड़ा शब्द से शृङ्गारपरक स्त्रीचेष्टाओं का द्योतन होता है ॥ १२०-१२१ (१) ॥

अनुवाद—सूत्रधार पहिले अवहित्थ नामक स्थानक में खड़ा होकर, बायें हाथ को नीचे की ओर झुकाकर (अधोमुख कर) उर (वक्षःस्थल) को चतुरस्र तथा मस्तक को अञ्चित चेष्टा में विन्यस्त करे ॥ १२१-१२२ (१) ॥

अभिनव—यहाँ पर अवहित्थ नामक स्थानक के प्रयोग का निर्देश अवहित्थ स्त्रियों का स्थानक माना गया है । इसमें स्त्रियों की गतिचेष्टाएँ होती हैं । अवहित्थ का लक्षण है—

"जिसमें सर्वप्रथम एक पैर को त्र्यस्र चेष्टा में रखा जाता है, फिर दूसरा पैर सम और अपसृत होता है । पैर एक ताल के अन्तर पर न्यस्त होता है और त्रिक किञ्चित् उठा हुआ होता है । एक हाथ लता चेष्टा में और दूसरा हाथ नितम्ब पर स्थित होता है । उसे 'अवहित्थ' कहा जाता है ।" (ना० शा० १२।१६८-१६९) ॥

१. क-न. कृत्वा बहिःस्थम् ।
२. इदमर्धं ख. ग. घ. पुस्तकेषु न दृश्यते ।

नाभिप्रवेशे विन्यस्य जर्जरं च तुलाधृतम् ॥ १२२ ॥
वामपल्लवहस्तेन पादैस्तालान्तरोत्थितैः[1] ।
गच्छेत्पञ्चपदीं चैव सविलासाङ्गचेष्टितैः[2] ॥ १२३ ॥
वामवेधस्तु कर्तव्यो विक्षेपो दक्षिणस्य च[3] ।
[4]शृङ्गाररससंयुक्तां पठेदार्यां विचक्षणः ॥ १२४ ॥

जर्जरमिति । खटकामुखमध्ये स्त्रीगतौ हि वक्ष्यते—
"नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यं च खटकामुखम् ।" इति (ना. शा. १२-१७९) ।
वामपल्लवः—
"मणिबन्धनमुक्तौ तु पताकौ पल्लवौ स्मृतौ" इति (ना. शा. ९-१९६) ।
पञ्चपदीं पूर्वोक्तामेव स्मारयति ॥ १२३ ॥

अनुवाद—इसके बाद संतुलित रूप में धारण किये हुए जर्जर को नाभि-प्रदेश में रखकर 'पल्लवमुद्रा' में न्यस्त बायें हाथ और एक-एक ताल के अन्तर से उठाये हुए पैरों से विलासपूर्ण आङ्गिक चेष्टाओं के साथ पाँच पग (कदम) चले ॥ १२२-१२३ ॥

जर्जरमिति—जर्जर को बायें हाथ से नाभिप्रदेश पर सन्तुलित रखा जाता है। अभिनव खटकामुख हस्त चेष्टा में जर्जर को धारण करना स्वीकार करते हैं। जैसाकि स्त्रियों की गति निरूपण के अवसर पर कहेंगे—

"पहिले अवहित्थ स्थानक को करके फिर वामभुजा को अधोमुख करे, उसी बाये हाथ को खटकामुख चेष्टा में नाभिप्रदेश पर रखे।" (ना० शा० १२।१७९)। अब वामपल्लव का लक्षण बताते हैं—

"मणिबन्ध (कलाई) से युक्त दो पताक हस्तों को पल्लव कहते हैं।" (ना० शा० ९।१९७) ॥

पञ्चपदी पद पूर्व कथन को स्मरण दिलाता है ॥ १२३ ॥

अनुवाद—उसके बाद बायें पैर से बेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग तथा दाहिने पैर से विक्षेप करना चाहिए। फिर विद्वान् सूत्रधार शृङ्गार रस से संयुक्त आर्या का पाठ करे ॥ १२४ ॥

---

१. ख. ग. घ. पादैस्तालान्तरस्थितैः ।
२. क-अ- प. विलासाङ्गविचेष्टितैः । क-त. लक्षितै रङ्गचेष्टितैः ।
३. ख. घ. दक्षिणेन तु ।
४. ख. घ. ततः शृङ्गारसंयुक्तं पठेच्छ्लोकं विचक्षणः ।

चारीश्लोकं गदित्वा[1] तु कृत्वा च परिवर्तनम् ।
तैरेव च पदैः कार्यं पश्चिमेनापसर्पणम्[2] ॥ १२५ ॥
[3]पारिपार्श्विकहस्ते तु न्यस्य जर्जरमुत्तमम्[4] ।
महाचारीं ततश्चैव प्रयुञ्जीत यथाविधि ॥ १२६ ॥
चतुरश्रा ध्रुवा तत्र[5] तथा द्रुतलयान्विता[6] ।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च कला ह्यष्टौ[7] प्रमाणतः ॥ १२७ ॥

वामवेधस्त्विति । आर्यामिति । यत्र देव्या सह भगवतः पार्वतीप्रियस्य प्रणयकोपादि वर्ण्यतेऽनेनेति । श्लोक आर्यैवात्र ॥ १२४ ॥

अथ महाचारीप्रयोगमवतारयति—पारिपार्श्विकहस्ते त्विति ॥ १२६ ॥
तत्र ध्रुवामाह—चतुरश्रेति । द्विकलेनोक्तेन चञ्चत्पुटेन ॥ १२७ ॥

अभिनव—जहाँ पर देवी के साथ भगवान् पार्वतीवल्लभ शिव के प्रणय, कोप आदि का वर्णन किया जाय वह श्लोक आर्या ही है ॥ १२४ ॥

अनुवाद—इसके बाद चारी श्लोक का पाठ करके फिर परिवर्त्तन करके उसी प्रकार (पूर्वोक्त से) विधि उन्हीं पैरों से उलटे पश्चिम अर्थात् पीछे की ओर से अपसर्पण करना चाहिए अर्थात् उसी प्रकार पीछे की ओर से उलटे पाँव लौट जाय ॥ १२५ ॥

इसके बाद महाचारी के प्रयोग का अवतरण करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद पारिपार्श्विक के हाथ में उत्तम जर्जर को रखकर फिर विधिपूर्वक महाचारी का प्रयोग करे और उसमें द्रुत लय से समन्वित चतुरस्र ध्रुवा का प्रयोग करे जो प्रमाणतः चार सन्निपातों तथा आठ कलाओं से युक्त होता है ॥ १२६-१२७ ॥

अभिनव—महाचारी के प्रयोग का अवतरण करते हैं कि पारिपार्श्विक के हाथ में जर्जर को रखकर महाचारी का प्रयोग करे। उसमें ध्रुवा को कहते हैं—चतुरस्र ध्रुवा का प्रयोग करे। पूर्वोक्त द्विकल चञ्चत्पुट ताल से युक्त हो। 'आद्यं चतुर्थम्' इत्यादि ध्रुवा का लक्षण है ॥ १२६-१२७ ॥

---

१. ख. विदित्वा । क-अ. पठित्वा ।
२. ख घ. प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ।
३. ख. घ. पारिपार्श्वकयोर्हस्ते ।
४. क-त. जर्जरमुन्नतम । ५. ख. घ. यत्र ।
६. ख. घ. द्रुतलयाश्रया । ७. ख. घ. ग. कलास्त्वष्टौ ।

[1]आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु ।
[2]लघु शेषं ध्रुवापादे त्रैष्टुभे चरणे भवेत् ॥ १२८ ॥
(यथा-)
[3]पादतलाहति पातितशैलं क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम् ।
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते पातु[4] जगत्सुखदायि हरस्य ॥ १२९ ॥

आद्यं चतुर्थमिति ध्रुवालक्षणम् ॥ १२८ ॥

अनुवाद--इस ध्रुवा के त्रिष्टुप् जाति के प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम और अन्तिम अक्षर गुरु होता है और शेष अक्षर लघु होते हैं ॥ १२८ ॥

अनुवाद—उदाहरण जैसे—

S I I S I I S I I S S
पादतलाहति पातितशैलं

S I I S I I S I I S S
क्षोभितभूत समग्रसमुद्रम् ।

S I I S I I S I I S S
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते

S I I S I I S I I S I
पातु जगत्सुखदायि हरस्य ॥ १२७ ॥

अर्थात् "प्रलय के समय जिसके पैरों के आघात से पहाड़ टूट कर गिर गये हैं और समुद्र एवं समस्त प्राणिवर्ग क्षुब्ध हो गये हैं, ऐसे जगत् को सुख देने वाले भगवान् शिव का यह ताण्डव नृत्त सब की रक्षा करे।"

इस आर्या में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम एवं एकादश अक्षर गुरु है और शेष लघु हैं अतः यह चतुरस्र ध्रुवा का उदाहरण है ॥ १२९ ॥

अभिनव—जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, द्वादश और अन्तिम अक्षर गुरु हों और शेष अक्षर लघु हों, उसे ध्रुवा कहते हैं।

---

१. क-न. त. आद्यमन्त्यचतुर्थं च । क-म. आद्यं चतुर्थमाद्यं च ।
२. क. ग. लघु शेषं ध्रुवापादे चतुर्विंशतिके भवेत् ।
ख. लघुशेषं ध्रुवायोगे त्रैष्टुभं चरणे यथा ।
घ. लघुशेषं ध्रुवापादे त्रैष्टुभे चरणे यथा ।
क-म. लघुशेषं द्रुतापादे स्याच्चतुर्विंशके द्विजाः ।
३. ख. ग. घ. पादतलाहतपातितशैलं । ४. ख. घ. पातु हरस्य सदा सुखदायि ।

भाण्डोन्मुखेन कर्तव्यं पादविक्षेपणं ततः ।
[1]सूचीं कृत्वा पुनः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ १३० ॥
अतिक्रान्तैः सललितैः [2]पादैर्द्रुतलयान्वितैः ।
[3]त्रितालान्तरमुत्क्षेपैर्गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १३१ ॥
तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च ।
[4]तैरेव च पदैः कार्यं प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ॥ १३२ ॥
पुनः पदानि त्रीण्येव गच्छेत्प्राङ्मुख एव तु ।
ततश्च वामवेधः स्याद्विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ १३३ ॥

अस्याः प्रयोगमाह—भाण्डोन्मुखेनेति । पश्चिमाभिमुखेन । महेश्वरत्वं यस्य न्यस्यात्मनि तस्यात्मनीच्छता ऊनचतुस्तालता तच्चेष्टितानुसरणाच्च मध्यत्वेऽपि तद्द्वितालतेत्यौचित्यात्तालान्तरत्वमुक्तम् । ॥ १३० ॥

अनुवाद—इसके बाद भाण्डवाद्यों की ओर उन्मुख होकर पाद का विक्षेप करना चाहिए, फिर सूची चारी का प्रयोग करके विक्षेप के साथ परिवर्त्तन (परिक्रमण) करे ॥ १३० ॥

अभिनव—अब इसके प्रयोग को कहते हैं—भाण्डवाद्यों की ओर उन्मुख होकर अर्थात् पश्चिमाभिमुख होकर पाद विक्षेप करना चाहिए। जिसकी आत्मा में महेश्वरत्व का न्यास किया गया है उसकी आत्मा में चार से कम ताल होता है और उसकी चेष्टा का अनुकरण होने से मध्य में भी दो ताल होना चाहिए, इस औचित्य के कारण तीन ताल का अन्तर कहा गया है ॥ १३० ॥

अनुवाद—इसके बाद अतिक्रान्त चारी से युक्त सुन्दर आङ्गिक चेष्टाओं के साथ द्रुत लय से अन्वित तीन ताल के अन्तर पर उठाये गये पैरों से पाँच पग चलना चाहिए ॥ १३१ ॥

अनुवाद—उसमें भी बायें पैर से वेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग और दाहिने पैर का विक्षेप करे, फिर उन्हीं पगों (कदमों) से पूर्वाभिमुख अपसर्पण करना चाहिए ॥ १३२ ॥

अनुवाद—फिर पूर्वाभिमुख ही (सन्मुख मुख किये हुए ही) तीन पग आगे चले। उसके बायें पैर से वेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग तथा दाहिने पैर का विक्षेप करना चाहिए ॥ १३३ ॥

१. ख. सूची दत्वा ततः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्त्तनम् ।
२. ख. पदैः द्रुतलयाश्रितैः । घ. पदैः द्रुतलयान्वितैः ।
३. ख त्रितालान्तरमुत्क्षिप्तैः । क-म. त्रिकालान्तरमुक्षिप्तैः । ४. ग. तत्रैव च ।

ततो रौद्ररसं[1] श्लोकं [2]पादसंहरणं पठेत् ।
तस्यान्ते तु त्रिपद्याऽथ व्याहरेत्पारिपार्श्विकौ[3] ॥ १३४ ॥
[4]तयोरागमने कार्यं गानं नर्कुटके बुधैः[5] ।
तथा च भारतीभेदे [6]त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ॥ १३५ ॥

अथ महाचारीं सूचयति—ततो रौद्ररसमिति । रुद्रस्यायं रौद्रप्रायः सः रसः । यत्र पादानां च संहरणं समासयोजनयैक्यं यत्रेत्योजःप्रधानत्वं दर्शितम् । तस्येति । पाठस्यान्ते । त्रिपद्येति । पारिपार्श्विकावामुखरूपया[7] । अत्र च ध्रुवाया अनुक्तत्वात्पूर्वोक्तैवाड्डिता संश्रयणीया ॥ १३४ ॥

अनुवाद—उसके बाद पैरों का संहरण अर्थात् समास रूप में एक साथ लाये जाने के समानान्तर रौद्र रस से युक्त श्लोक का पाठ करे, उसके अन्त में तीन पग चलकर दोनो पारिपार्श्वकों को बुलाये ॥ १३४ ॥

अभिनव—इसके बाद महाचारी को सूचित करते हैं—उसके बाद रौद्ररस श्लोक का पाठ करे । रुद्र का यह रस अर्थात् रौद्रप्राय यह रस । जहाँ पर पैरों का संहरण अर्थात् समास की योजना से एक साथ जहाँ रहें इससे ओज की प्रधानता दिखा दी गई है । 'तस्य' अर्थात् उस पाठ के अन्त में । 'त्रिपद्या' अर्थात् तीन पग से । दोनो पारिपार्श्विकों को अर्थात् आमुख रूप त्रिपदी से (तीन पग चलकर) दोनों पारिपार्श्विकों को बुलाये । यहाँ पर किसी ध्रुवा का कथन नहीं है अतः पूर्वोक्त (पूर्व में कही हुई) अड्डिता ध्रुवा का ही आश्रयण (ग्रहण) करना चाहिए ॥१३४॥

अनुवाद—उन दोनों के आगमन पर नाट्यविज्ञों को नर्कुटक ध्रुवा का गान करना चाहिए और भारती वृत्ति के त्रिगत भेद का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् तीन पात्रों के संलाप की योजना करे ॥ १३५ ॥

---

१. ख. ग. घ रौद्ररसश्लोकं । क-अ. महारसं श्लोकं । क-म. रौद्रपदं श्लोकं ।
२. ख. घ. पदसंहरणं ।
३. पारिपार्श्वकः ।
४. ख. ग. तयोरागमनं गानं नकुटके बुधैः ।
क-त. तयोरागमने कार्यं गेयं नर्कुटकं बुधैः ।
५. ख. घ. इतः परं 'तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च' इत्यधिकं दृश्यते ।
६. क-अ. त्रिपदीम् ।
७. क-घ. पारिपार्श्वकमुखरूपाया । क-म. पार्श्वकामुखस्वरूपायाः ।

विदूषकस्त्वेकपदां[1] सूत्रधारस्मितावहाम् ।
असम्बद्धकथाप्रायां कुर्यात्कथनिकां[2] ततः ॥ १३६ ॥
[3]वितण्डां [4]गण्डसंयुक्तां तालिकाञ्च प्रयोजयेत् ।
कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकाव्यप्ररूपिणीम् ॥ १३७ ॥
पारिपार्श्विकसञ्जल्पो विदूषकविरूपितः[5] ।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं सम्प्रयुज्यते ॥ १३८ ॥

अथ त्रिगतमङ्गं दर्शयति—तयोरित्यादिना। तयोः पारिपार्श्विकयोः । नर्कुटकध्रुवा वक्ष्यते ।

"अष्टौ नर्कुटकानां तु विज्ञेया मूलजातयः ।
रथोत्तरं बुद्बुदकमुद्गतं वंशपत्रकम् ।"
इत्यादि (ना. शा. ३२-२७३-२७४)

तदन्यतमध्रुवोपलक्षितं गानं नर्कुटकम् । ॥ १३५ ॥

अभिनव—इसके बाद त्रिगत अङ्ग को दिखाते हैं—तयोरित्यादि । 'तयोः' अर्थात् दोनों पारिपार्श्वकों के (आगमन पर) । नर्कुटक ध्रुवा को आगे कहेंगे—

"नर्कुटकों की आठ मूल जातियाँ समझनी चाहिए। रथोत्तर, बुद्बुदक, उद्गत और वंशपत्र ।" (ना० शा० ३२।२७३-२७४) ।

उनमें से किसी एक ध्रुवा से उपलक्षित गान नर्कुटक है ॥ १३५ ॥

अनुवाद—इसके बाद विदूषक एक पद वाली तथा सूत्रधार को हंसाने वाली तथा प्रायः असम्बद्ध कथा वाली कहानी कहे अथवा संभाषण करे ॥१३६॥

अनुवाद—इसमें "कौन ठहरता है ?" "किसने जीता है" ? इत्यादि प्रश्न रूप काव्य का निरूपण करने वाली गण्ड (निरर्थक शब्द) से युक्त वितण्डा (असत्प्रलाप) तथा नालिका अर्थात् हास्य-परिहास युक्त प्रहेलिका (कूटपूर्ण वचनावली) का प्रयोग करे ॥ १३७ ॥

अनुवाद--इसके बाद पारिपार्श्विकों का वार्त्तालाप उसे विदूषक द्वारा विरूपित अर्थात् उक्त वार्त्तालाप को विरूपित कर हास्यमय बनाना फिर सूत्रधार द्वारा उसे स्थापित करना इस प्रकार त्रिगत का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३८ ॥

---

१. ब. विदूषकस्त्वेकपदे । क-त. विदूषकश्चैकपदाम् ।
२. ख. घ. कुर्यात्कथनिकां तथा । क-अ. कुर्यात्कथितिकाम् ततः ।
३. इतः आरभ्य श्लोकद्वयमन्यसंस्करणे नोपलभ्यते । ४. क-त. वण्डसंयुक्तम् ।
५. ग. नालीकं च. ख. नामिकां च । घ. नालिकां च । ६. ग. घ. विदूषितः ।

[1]प्ररोचना च कर्तव्या सिद्धेनोपनिमन्त्रणम् ।
[2]रङ्गसिद्धौ पुनः कार्यं काव्यवस्तुनिरूपणम् ॥ १३९ ॥
[3]सर्वमेव विधिं कृत्वा सूचीवेधकृतैरथ ।
पादैरनाविद्धगतैर्निष्क्रामेयुः समं त्रयः ॥ १४० ॥
[4]एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि ।
चतुरश्रो द्विजश्रेष्ठास्त्र्यश्रं चापि निबोधत ॥ १४१ ॥
अयमेव प्रयोगः स्यादङ्गान्येतानि चैव हि ।
[5]तालप्रमाणं सङ्क्षिप्तं केवलं तु विशेषकृत् ॥ १४२ ॥
[6]शम्या तु द्विकला कार्या तालो ह्येककलस्तथा ।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलाद्वयम् ॥ १४३ ॥

प्ररोचना

अनुवाद—इसके बाद सूत्रधार के द्वारा सामाजिकों को आमन्त्रित करते हुए प्ररोचना का प्रयोग करना चाहिए । फिर अङ्ग अर्थात् प्रयोग की सफलता के लिए नाट्यवस्तु का निरूपण करना चाहिए ॥ १३९ ॥

अनुवाद—इन सभी विधियों को करके सूची चारी के प्रयोग के साथ आविद्ध चारी के अतिरिक्त किसी भी चारी युक्त पैरों से तीनों पात्र साथ ही निकल जाँय ॥ १४० ॥

अनुवाद--हे श्रेष्ठ द्विजों ? इस प्रकार चतुरस्र पूर्वरङ्ग का विधिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए । अब त्र्यस्र पूर्वरङ्ग की विधि को सुनिये ॥ १४१ ॥

त्र्यस्र पूर्वरङ्ग

अनुवाद - इस त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में इसी प्रकार (चतुरस्र के समान) प्रयोग होता है, इतने ही अङ्ग होते हैं। केवल ताल प्रमाण का संक्षिप्त रहना चतुरस्र से इसकी विशेषता है ॥ १४२ ॥

अनुवाद—इसमें शम्या दो कला की तथा ताल एक कला की फिर शम्या एक कला की और सन्निपात दो कलाओं का होना चाहिए ॥ १४३ ॥

१. ख. घ. प्ररोचनाथ कर्त्तव्या सिद्धेनोपनिमन्त्रणा । २. क-अ. रङ्गसिद्धया ।
३. ख. घ. सर्वमेवं । ४. ख. घ. एवमेव ।
५. ग. तालप्रमाणं विक्षिप्तं । ख. तालप्रमाणसंक्षिप्तं ।
६. ख. शम्याकृद् द्विकला कार्यस्ताल एककलस्तथा ।

अनेन हि प्रमाणेन कलाताललयान्वितः[1] ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु त्र्यश्रोऽप्युत्थापनादिकः[2] ॥ १४४ ॥

आद्यं चतुर्थं दशममष्टमं नैधनं[3] गुरु ।
यस्यास्तु जागते[4] पादे सा त्र्यश्रोत्थापिनी ध्रुवा ॥ १४५ ॥

वाद्यं [5]गतिप्रचारश्च ध्रुवा तालस्तथैव च ।
[6]संक्षिप्तान्येव कार्याणि त्र्यश्रे नृत्तप्रवेदिभिः ॥ १४६ ॥

वाद्यगीतप्रमाणेन [7]कुर्यादङ्गविचेष्टितम् ।
[8]विस्तीर्णमथ सङ्क्षिप्तं द्विप्रमाणविनिर्मितम्[9] ॥ १४७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार के प्रमाण से कला, ताल और लय से अन्वित त्र्यस्र पूर्वरङ्ग का विधान करना चाहिए जिसमें उत्थापनादि अङ्ग वैसे ही रहते हैं ॥ १४४ ॥

अनुवाद—जिसके जगती छन्द के चरण में प्रथम, चतुर्थ, दशम, अष्टम और अन्तिम (द्वादश) अक्षर गुरु होते हैं, उसे त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में उत्थापनी ध्रुवा कहते हैं ॥ १४५ ॥

अनुवाद—नृत्तवेत्ताओं को त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में वाद्यों का प्रयोग, गचिप्रचार अर्थात् नृत्त की आङ्गिक चेष्टाएँ, ध्रुवा तथा ताल आदि का प्रयोग संक्षेप में ही करना चाहिए ॥ १४६ ॥

अनुवाद—वाद्य और गीत के प्रमाण के अनुसार अङ्गों की चेष्टाएं अर्थात् आङ्गिक-अभिनय करना चाहिए जो विस्तीर्ण और संक्षिप्त दो प्रमाणों से विनर्मित हो ॥ १४७ ॥

---

१. क-म. कलाताल्द्वयान्वितः ।
२. ख. ग. त्र्यस्रोऽभ्युत्थापनादिकः । क-त. म. त्र्यस्र उत्थापनादिकः ।
३. क-न. नवमम् ।
४. ख. जायते ।
५. क-न. गीतप्रकारश्च ।
६. ग. संक्षिप्तान्यत्र कार्याणित्र्य स्रनृत्तप्रवेदिभिः ।
७. ख कुर्यात् कृतिविचेष्टितम् । घ. कुर्यादगतिविचेष्टितम् ।
८. क-अ. त. न. विस्तीर्णमथवाक्षिप्तं ।
९. प्रमाणं च विनिर्मितम् ।

हस्तपादप्रचारस्तु द्विकलः परिकीर्तितः ।
चतुरश्रे [1]परिवर्त्ते पाताः[2] स्युः षोडशैव तु ॥ १४८ ॥
[3]त्र्यश्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः ।
एतत्प्रमाणं विज्ञेयमुभयोः[4] पूर्वरङ्गयोः ॥ १४९ ॥
केवलं परिवर्त्ते तु [5]गमने त्रिपदी भवेत् ।
दिग्वन्दने पञ्चपदी चतुरश्रे विधीयते ॥ १५० ॥
आचार्यबुद्ध्या कर्तव्यस्त्र्यश्रस्तालप्रमाणतः[6] ।
[7]तस्मान्न लक्षणं प्रोक्तं पुनरुक्तं भवेद्यतः ॥ १५१ ॥
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो द्विजोत्तमाः ।
[8]त्र्यश्रश्च चतुरश्रश्च शुद्धो भारत्युपाश्रयः ॥ १५२ ॥

अनुवाद—चतुरस्र पूर्वरङ्ग में हाथ और पैरों का संचालन दो कलाओं का होता है और इसके परिवर्त्त में सोलह सोलह पात होते हैं ॥ १४८ ॥

अनुवाद—त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में हाथ और पैरों के बारह पात होते हैं। इस प्रकार का प्रमाण दोनो 'पूर्वरङ्गों मैं समझना चाहिए ॥ १४९ ॥

अनुवाद—(त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में) केवल परिवर्त्त के गमन में त्रिपदी का प्रयोग होता है और चतुरस्र पूर्वरङ्ग में दिग्वन्दन में पञ्चपदी का प्रयोग किया जाता है ॥ १५० ॥

अनुवाद—नाट्याचार्य को बुद्धि से ताल के प्रमाण के अनुसार त्र्यस्र पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए। इसलिए इसका लक्षण नहीं कहा गया है, क्योंकि ऐसा करने पर पुनरुक्ति होती ॥ १५१ ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों! इसी प्रकार भारती वृत्ति के आश्रित त्र्यस्र और चतुरस्र के शुद्ध पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५२ ॥

---

१. क. परिक्रान्ते । ग. परावर्त्ते । क-त. पूर्वरङ्गे । क-प. परिभ्रान्ते ।
२. ख. पादाः ।
३. ख. घ. त्र्यस्रे तु द्वादशपदा भवन्ति करपादजाः ।
४. ख. ब. निर्दिष्टमुभयोः ।   ५. ख. गगने ।
६. ख. त्र्यस्रतालप्रमाणतः । ग. त्र्यस्रस्तज्ज्ञैः प्रमाणतः ।
७. क-च. तस्मात्तल्लक्षणं । क-अ. कस्यात्तल्लक्षणं । क-त. कस्यान्न लक्षणं ।
८. क-म. त्र्यस्रे च चतुरस्रे च । क-त. त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च ।

एवं तावदयं शुद्धः पूर्वरङ्गो मयोदितः ।
चित्रत्वमस्य वक्ष्यामि यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १५३ ॥
[1]वृत्ते ह्युत्थापने विप्राः कृते च परिवर्तने ।
[2]चतुर्थकारदत्ताभिः [3]सुमनोभिरलङ्कृते ॥ १५४ ॥
उदात्तगानैर्गन्धर्वैः परिगीते[4] प्रमाणतः ।
देवदुन्दुभयश्चैव निनदेयुर्भृशं ततः ॥ १५५ ॥
[5]सिद्धा कुसुममालाभिर्विकिरेयुः समन्ततः ।
[6]अङ्गहारैश्च देव्यस्ता उपनृत्येयुरग्रतः ॥ १५६ ॥

[[7]भारतीभेद इति । भारतीयवृत्त्यङ्गमुपसंहरत्येवमेष इति । चतुरश्रस्त्र्यश्रशुद्धश्चित्र इति चतुर्धा पूर्वरङ्गः यद्वक्ष्यति—

"त्र्यश्रं वा चतुरश्रं वा शुद्धं चित्रमथापि वा ।" इति चित्र एव विशेषान्वितो भवति] ॥ १५२ ॥

अभिनव—भारती वृत्ति के अङ्ग का उपसंहार करते है--'इस प्रकार' इत्यादि । चतुरस्र, त्र्यस्र, शुद्ध और चित्र भेद से पूर्वरङ्ग चार प्रकार का होता है। जैसा कि आगे कहेंगे--

"त्र्यस्र अथवा चतुरस्र अथवा शुद्ध अथवा चित्र पूर्वरङ्ग" इस प्रकार चित्र पूर्वरङ्ग ही विशेष अन्वित होता है ॥ १४१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैने यहाँ तक शुद्ध पूर्वरङ्ग का विधान बतलाया है अब प्रयोक्ताओं द्वारा चित्र पूर्वरङ्ग का जैसे प्रयोग करना चाहिए, उसका कथन करूँगा ॥ १५३ ॥

चित्रपूर्वरङ्गविधि

अनुवाद—हे विप्रों ! उत्थापन के सम्पन्न हो जाने पर और परिवर्त्तन के कर देने पर चतुर्थकार के द्वारा दिये गये पुष्पों से अलङ्कृत कर दिये जाने पर और गन्धर्वों के द्वारा प्रमाण के अनुसार उदात्त गीत के गाये जाने पर देवदुन्दुभियों को बार-बार बजाना चाहिए ॥ १५४-१५५ ॥

---

१. क-म नृत्ये । २. ख चतुष्प्रकारदत्ताभिः ।
३. क-प. सुमनोभिरलङ्कृताः ।
४. क-अ. प्रमाणे परिकीर्तितेः । ख. परिगीतैः प्रमाणतः घ. परिगतैः प्रमाणतः ।
५. ख. ष. घ. शुद्धाः ।
६. ख. अङ्गहारैश्च देव्यश्च व्यासापन्यासंसयुताः । क-त. अङ्गहारश्च विन्यास्ताः ।
७. क-म. भ. एतत्कोष्ठकान्तर्गतभागो न दृश्यते ।

यस्ताण्डवविधिः प्रोक्तो नृत्ते पिण्डीसमन्वितः[1] ।
रेचकैरङ्गहारैश्च न्यासोपन्याससंयुतः ॥ १५७ ॥
नान्दीपदानां मध्ये तु एकैकस्मिन्पृथक्पृथक् ।
[2]प्रयोक्तव्यो बुधैः सम्यक्चित्रभावमभीप्सुभिः ॥ १५८ ॥
एवं कृत्वा यथान्यायं [3]शुद्धं चित्रं प्रयत्नतः ।
ततः परं प्रयुञ्जीत नाटकं लक्षणान्वितम् ॥ १५९ ॥
[4]ततस्त्वन्तर्हिताः सर्वा भवेयुर्दिव्ययोषितः ।
निष्क्रान्तासु च सर्वासु नर्तकीषु ततः परम् ॥ १६० ॥
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यमङ्गजातमतः परम्[5] ।
एवं शुद्धो भवेच्चित्रः[6] पूर्वरङ्गो विधानतः[7] ॥ १६१ ॥

अनुवाद—सिद्धगण चारों ओर पुष्पमालाओं का विकरण करें अर्थात् चारों ओर पुष्पमालाएँ बिखेरें और दिव्याङ्गनाएँ सामने अङ्गहारों के साथ नृत्य करें ॥ १५६ ॥

अनुवाद—नृत्त के प्रकरण में पिण्डबन्धों से युक्त रेचक और अङ्गहारों के द्वारा न्यास एवं अपन्यास के प्रयोग के साथ जो ताण्डव नृत्त की विधि कही गयी है, उसका चित्र पूर्वरङ्ग के रूप में विधान करने के इच्छुक कुशल नाट्याचार्यों द्वारा नान्दी-पदों के प्रयोग के मध्य में एक-एक में अलग-अलग प्रयोग करना चाहिए ॥ १५७-१५८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाट्यविधि के अनुसार प्रयत्नपूर्वक शुद्ध और चित्र पूर्वरङ्ग का विधान करके उसके बाद लक्षणों से युक्त नाटक का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५९ ॥

अनुवाद—इसके बाद सभी दिव्याङ्गनाओं को अन्तर्हित हो जाना चाहिए अर्थात् सभी दिव्याङ्गनाएँ रङ्गमञ्च से निकल जाँय। उसके बाद समस्त नर्त्तकियों के निकल जाने के बाद पूर्वरङ्ग में अन्य रङ्गों का प्रयोग करना काहिए। इस प्रकार विधान के अनुसार शुद्ध पूर्वरङ्ग चित्रपूर्वरङ्ग हो जाता है ॥ १६०-१६१ ॥

---

१. घ. नृत्तं पिण्डो समन्वितः । ग. नृत्ते पिण्डो समन्ततः ।
२. ख. प्रयोक्तव्यो विधिः सम्यक् चित्रो लक्षणसंयुतः ।
३. क-प शुद्धो लक्षणसंयुतः । ४. ख. घ. इदमर्धं नास्ति ।
५. ग. प्रस्तावनां कृतः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम् ।
६. ख. चित्रं । ७. ख. घ. पूर्वरङ्गविधानतः ।

कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र नृत्तगीतविधिं[1] प्रति ।
गीते [2]वाद्ये च नृत्ते च [3]प्रवृत्तेऽतिप्रसङ्गतः ॥ १६२ ॥
खेदो भवेत्प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च ।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते[4] ॥ १६३ ॥
ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत् ।

ततोऽनन्तरम् । निष्क्रान्तासु नर्तकीषु ततः परं शुष्कावकृष्टादि यदङ्गजातं प्ररोचनान्तं तैरेव सूत्रधरादिभिस्तदपरं (ततः परं) कृत्वा ततः शुद्धादुत्कृष्टं चित्रं कृत्वाऽङ्गहारव्यामिश्रेण प्रयोक्तव्यम् ।

अन्ये च "नास्ति पुरुषस्य नृत्तम्" इत्याशयेन सर्वास्वित्यत्र नान्दी-पदवैचित्र्याय याः प्रविष्टास्तासामेव निष्क्रामणमत्र पूर्वासां चतसृणाम् । तेन तत्कृतमेव गानं तेषु चित्रत्वमिति मन्यते ॥ १६०-१६१ ॥

अभिनव—'ततः' उसके बाद अर्थात् समस्त नर्त्तकियों के निकल जाने के बाद शुष्कावकृष्टा से लेकर प्ररोचना पर्यन्त जो अङ्ग समुदाय हैं उन्हें सूत्रधारों द्वारा कराकर फिर शुद्ध से उत्कृष्ट चित्र को मानकर अङ्गहारों से मिश्रित चित्र पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए।

अन्य लोग तो "पुरुष का नृत्त नहीं होता है" इस आशय से 'सर्वासु' यहाँ पर नान्दी पद की विचित्रता के लिए जो नर्त्तकियाँ प्रविष्ट हुई थीं, उन्हीं चार नर्त्तकियों का निष्क्रमण यहाँ पर अभीष्ट है। इससे उनके द्वारा किया गया हो गान चित्र है, ऐसा माना जाता है ॥ १६०-१६१ ॥

अनुवाद—यहाँ पूर्वरङ्ग में नृत्त और गीत के प्रयोग में अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नृत्त, गीत और वाद्य के प्रयोग में अतिशय प्रवृत्ति अर्थात् असन्तुलित प्रयोग होने पर प्रयोक्ताओं को अत्यन्त खेद होता है और उसी प्रकार प्रेक्षकों (दर्शकों) को भी खिन्नता होगी और खिन्न व्यक्तियों को रस और भावों की अधिक स्पष्टता नहीं हो पाती अर्थात् रस एवं भावों का सम्यक् साक्षात्कार नहीं हो पाता और इसके बाद शेष प्रयोग रागजनक नहीं होगा ॥ १६२-१६४ (१) ॥

---

१. गीतनृत्यविधिं । ब. गीतनृत्तविधिं ।
२. ग. गीतवाद्ये ।
३. क. प्रबुद्धेऽतिप्रसङ्गतः । क-त. न. अ. विवृद्धेऽतिप्रसङ्गतः ।
४. क. नैव जायते ।

नातिप्रसङ्ग इति। तत्रैकाङ्गहारप्रयोग एव कार्य इत्यर्थः। अत एवाङ्गान्तरगणनया षोडशैवाङ्गहाराः। तथा चोत्थापनं परिवर्तनमवकृष्टागानं नान्दीपाठः शुष्कावकृष्टजर्जरश्लोकाः ध्रुवा रङ्गद्वारमड्डिता आर्यापाठो ध्रुवा रौद्रश्लोकपाठा नकुंटकं त्रिगतं प्ररोचना चेत्येते। अङ्गहारषोडशकमेव त्र्यश्रेऽपीति। नान्दीपाठान्तरेषु बहुतरं नृत्तम्।

अन्ये तु तत्रैव नृत्तमिच्छन्ति [1]नाङ्गान्तरेषु। तच्चासङ्गतम्। एवं च सति 'वृत्ते ह्युत्थापन' इत्यादि तथा 'निष्क्रान्तासु च सर्वासु' इत्यादि चानुपात्तसममेव स्यात्। न [2]चैकाङ्गाविचित्रत्वाद्विमिश्रचित्रव्यपदेशे दृष्टान्तो ह्येकस्य तन्तोर्वर्णस्य वैचित्र्यं पटेऽपि वा तथा व्यपदेशः। 'एतद्विमिश्र' इति चोक्तं प्राक् (ना शा. ४-१६)। तदलमनेन।

प्रेक्षकाणामित्यनेन सामाजिकानां पूर्वरङ्गे स्फुटैव नटवृत्तिर्भवतीति दर्शयति। तत्संस्कारसंस्कृतत्वात्तत्त्वधीः। भ्रान्त्यादिबुद्धिश्च नाट्यधीर्भवतीति सूचयति। यदि हि तेषु नाट्यबुद्धिरेवोत्पादनीया स्यात्प्रत्युत प्रयत्नेन

अभिनव—'नातिप्रसङ्ग' का अर्थ है कि नृत्त, गीत, वाद्य में अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिए। वहाँ पर एक ही अङ्गहार का प्रयोग करना चाहिए। इसलिए अन्य अङ्गों की गणना से सोलह ही अङ्गहार हैं और वे उत्थापन, परिवर्त्तन, अवकृष्टा गान, नान्दी पाठ, शुष्कावकृष्टा, जर्जरश्लोक, ध्रुवा, रङ्गद्वार, अड्डिता, आर्यापाठ, ध्रुवा, रौद्रश्लोकपाठ, नकुंटक, त्रिगत और प्ररोचना ये सोलह अङ्ग हैं। ये सब चतुरस्र पूर्वरङ्ग के अङ्ग हैं। त्र्यस्रपूर्वरङ्ग में भी ये सोलह अङ्ग माने गये हैं। नान्दीपाठ के अन्तर्गत और भी बहुत से नृत्त किये जाते हैं।

अन्य आचार्य तो पूर्वरङ्ग में ही नृत्त को चाहते हैं, अन्य अङ्गों में नहीं। वह सब असङ्गत है अर्थात् ठीक नहीं है। इस प्रकार मानने पर "उत्थापन के सम्पन्न हो जाने पर" इत्यादि और 'सभी नर्त्तकियों के निकल जाने पर' इत्यादि अनुपात्त (अप्राप्त) के समान ही होगा। एक अङ्ग में विचित्रता न होने से मिश्रित चित्र पूर्वरङ्ग के व्यपदेश (नाम) में कोई दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि एक तन्तु के वर्ण में वैचित्र्य होने पर पट में भी वैचित्र्य का व्यपदेश होता है। यह बात 'एभिर्विमिश्रितश्चायं' (ना० शा० ४।१६) इत्यादि श्लोक में पहिले कहा जा चुका है। इसलिए अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है॥ १६२॥

---

१. क. मार्गान्तरेषु।
२. क. न. चैकाङ्गहारविचित्रत्वाद्विमिश्रचित्रव्यपदेशे।

[1]लक्षणेन विना बाह्यालक्षणाद्विस्तृतं भवेत् ॥ १६४ ॥
लोकशास्त्रानुसारेण तस्मान्नाट्यं प्रवर्तते ।
त्र्यश्रं वा चतुरश्रं वा शुद्धं चित्रमथापि वा ॥ १६५ ॥
प्रयुज्य रङ्गान्निष्क्रामेत्सूत्रधारः सहानुगः ।

नटबुद्धिसम्पादकं पूर्वरङ्गप्रस्तावनादि तान्प्रति गोपनीयं स्यात् । दर्शितं चैतदस्माभिः प्रथमाध्याये । प्रयोक्तारः करणादेः प्रयोगे यत्र खिन्नाः प्रेक्षकाश्चादौ ततः शेषः प्रयोगः प्रीतिं न कुर्यात् । तत्प्रधानं चेदं नाट्यं व्युत्पत्तिप्रदमित्युक्तम् ॥ १६२-१६४ (१) ॥

शुद्धमिति । यत्र गीतकवर्धमानविधावेव नृत्तं न तु सर्वथा शुद्धमधुना प्रयोगार्हम् ॥ १६५ ॥

'प्रेक्षकाणाम्' (प्रेक्षकों के) इस कथन से सामाजिकों की पूर्वरङ्ग में स्पष्ट नट की वृत्ति होती है यह दिखाया गया है। भाव यह कि पूर्वरङ्ग में सामाजिकों को नटबुद्धि होती है अर्थात् उसके संस्कार से संस्कृत होने से तत्त्वधी अर्थात् तत्त्व ज्ञान होता है और भ्रान्त्यादि ज्ञान से ताटस्थ्यबुद्धि होती है, यह सूचित होता है। यदि उसमें नाट्यबुद्धि ही उत्पन्न करनी है तो प्रयत्न के साथ नटबुद्धि के सम्पादक पूर्वरङ्ग, प्रस्तावना आदि उन सामाजिकों से छिपाना चाहिए। यह विषय प्रथम अध्याय में हमने दिखा दिया है। नाट्यप्रयोक्ता जहाँ पुष्पपुटादि करणों के प्रयोग में खिन्न हो जाय और प्रेक्षक भी खिन्न हो जांय तो शेष प्रयोग रुचिकर नहीं होगा। मुख्य रूप से यह नाट्य उन्हीं के लिए व्युत्पत्तिप्रद है, यह कहा जा चुका है ॥ १६२-१६४ (१) ॥

अनुवाद—लक्षण से हीन अथवा लक्षण से बाह्य विषय से नाटक विस्तृत हो जाता है, इसलिए लोक और शास्त्र के अनुसार नाट्य का प्रवर्त्तन करना चाहिए ॥ १६४-१६५ (१) ॥

अनुवाद—त्र्यस्त्र हो अथवा चतुरस्त्र हो तथा शुद्ध हो अथवा चित्र को पूर्वरङ्ग का विधान करके सूत्रधार अपने अनुयायियों के साथ रङ्गमञ्च से निकल जाना चाहिए ॥ १६५-१६६ (१) ॥

अभिनव—शुद्धमिति—जहाँ पर गीतक, वर्धमानक विधि में ही नृत्त का प्रयोग होता है वहाँ सर्वथा शुद्ध पूर्वरङ्ग का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

---

१. ख ध. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।

[1]देवपार्थिवरङ्गानामाशीर्वचनसंयुताम् ॥ १६६ ॥
कवेर्नामगुणोपेतां वस्तूपक्षेपरूपिकाम् ।
लघुवर्णपदोपेतां वृत्तैश्चित्रैरलङ्कृताम् ॥ १६७ ॥
अन्तर्यवनिकासंस्थः कुर्यादाश्रावणां ततः ।
आश्रावणावसाने च नान्दीं कृत्वा स सूत्रधृत् ॥ १६८ ॥
[2]पुनः प्रविश्य रङ्गं तु कुर्यात्प्रस्तावनां ततः ।

एवं प्ररोचनान्तमङ्गजातमुक्त्वा यत्पूर्वमुक्तं—
"रङ्गसिद्धौ पुनः कार्यं काव्यवस्तुनिरूपणम् ।" इति (ना. शा. ५-१३५)
तद्वितत्य निरूपयति—प्रयुज्येति ॥ १६६-१६७ (१) ॥

अनुवाद—इसके बाद सूत्रधार देवता, राजा तथा रङ्ग के आशीर्वचनों से युक्त, कवि के नाम एवं गुणों से युक्त, नाटच के कथावस्तु की विस्ताररूपिणी, लघु वर्णों एवं पदों से युक्त, अनेकविध सुन्दर वृत्तों से अलङ्कृत आश्रावणा का यवनिका के अन्दर स्थित होकर प्रयोग करे ॥ १६६-१६७ (१) ॥

अनुवाद—इसके बाद आश्रावणा विधि के समाप्त हो जाने पर वह सूत्रधार नान्दी का पाठ करके पुनः रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके प्रस्तावना करे ॥ १६८-१६९ (१) ॥

विमर्श—'देवपार्थिवरङ्गानाम्' यहाँ से लेकर तीन श्लोक अन्य संस्करणों में नहीं पाये जाते । गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज में इन्हें कोष्ठक में रखा है और मनमोहन घोष ने इन्हें स्वीकार नहीं किया है । इन पर अभिनवगुप्त की टीका भी नहीं है । अतः विद्वानों ने इन्हें प्रक्षिप्त माना है । विषयवस्तु की दृष्टि से सूत्रधार के निष्क्रमण करने के के पश्चात् तुरन्त स्थापक का प्रवेश होना चाहिए, किन्तु इस प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार सूत्रधार ही प्रस्तावना का प्रयोग करने के लिए पुनः रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है । आगे कहे जाने वाले 'प्रयुज्य' के प्रयोग से भी यही प्रतीत होता है । कि सूत्रधार ही स्थापक के रूप में पुनः प्रवेश करता है ॥ १६८-१६९ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्ररोचना के अङ्गों को कहकर जैसाकि पहिले कहा गया हैं-
"रङ्ग की सिद्धि हेतु नाट्यवस्तु का निरूपण करना चाहिए ॥
(ना० शा० ५।१३७) ॥

उसका विस्तार से निरूपण करते हैं—प्रयुज्येति अर्थात् प्रयोग करके सूत्रधार रङ्ग से निकल जाय ।

---

१. ख. च. पुस्तकयोरितः श्लोकत्रयं नास्ति ।
२. ग. पुस्तके इदमर्धं नास्ति ।

प्रयुज्य विधिनैवं तु पूर्वरङ्गं प्रयोगतः ॥ १६९ ॥
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ।
स्थानं तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ॥ १७० ॥
प्रविश्य रङ्गं तैरेव [1]सूत्रधारपदैर्व्रजेत् ।
स्थापकस्य [2]प्रवेशे तु कर्तव्याऽर्थानुगा[3] ध्रुवा ॥ १७१ ॥
[4]त्र्यश्रा वा चतुरश्रा वा तज्ज्ञैर्मध्यलयान्विता ।

योगेण प्रयोगतः स्थापयति समस्तं रूपकवृत्तमिति स्थापकः । सूत्रधारस्य गुणः सौमनस्यविस्मययोगाद्भुतदृष्टित्वरक्षादिभिराकृतिश्च वैष्णवादिरित्येतत्स्थापकभूयिष्ठं गतस्यापि भवति । तदेव स्पष्टयति – स्थानन्त्वित्यादिना । सूत्रधार एव स्थापक इति सूत्रधारः पूर्वरङ्गं प्रयुज्य स्थापकः सन् प्रविशेदिति न भिन्नकर्तृकता ।

अनुवाद—इस प्रकार विधिपूर्वक पूर्वरङ्ग का प्रयोग करके सूत्रधार के समान गुण और आकृति वाला स्थापक वहाँ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे ॥ १६९-१७० (१) ॥

अनुवाद—वह सौष्ठवाङ्ग से पुरस्कृत वैष्णव स्थानक में स्थित होकर रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके उसी सूत्रधार के समान गति से चले। ॥ १७०-१७१ (१) ॥

अभिनव—रूपक के समस्त वृत्तों (अङ्गों) का स्थापन करता है इसलिए वह स्थापक है। सौमनस्य, विस्मय का योग, अद्भुतदृष्टि, रक्षा आदि तथा वैष्णव आदि आकृति ये सब स्थापक में अधिक पाये जाने वाले सूत्रधार के गुण हैं। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'स्थानं तु' इत्यादि अर्थात् वैष्णव स्थानक करके। सूत्रधार ही स्थापक होता है, इसलिए सूत्रधार ही पूर्वरङ्ग का प्रयोग करके वही फिर स्थापक बनकर (स्थापक के रूप में) प्रवेश करता है अतः भिन्नकर्तृता नहीं है अर्थात् स्थापक और सूत्रधार दोनों भिन्नकर्तृक नहीं है।

अनुवाद—स्थापक के प्रवेश के समय अर्थानुगामिनी (अवसर के अनुकूल) ध्रुवा का गान करना चाहिए। वह ध्रुवा त्र्यस्र अथवा चतुरस्र ताल में मध्य लय से अन्वित होनी चाहिए ॥ १७१-१७२ (१) ॥

---

१. ख. सूत्रधारपदं व्रजेत् ।
२. क-च. प्रयोगे तु ।
३. क-प. कर्त्तव्या स्थानगा ध्रुवा ।
४. ख घ. चतुरस्राथवा त्र्यस्रा तत्र मध्यलयाश्रिता ।

[1]कुर्यादनन्तरं चारीं देवब्राह्मणशंसिनीम् ॥ १७२ ॥
सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानाभावरसान्वितैः[2] ।
प्रसाद्य रङ्गं विधिवत्कवेर्नाम च कीर्तयेत्[3] ॥ १७३ ॥

अर्थानुगेति । सारसचक्राह्वाद्युपमानक्रमेण तत्र प्रावेशिकी । तदर्थमप्येवमुत्थापन्यादिवत्कार्या । मध्यलयान्विता इत्यद्यतनानामिष्टत्वात् । शोकाद्याविष्टे हि विलम्बितलया । रोषाद्याविष्टे च [4]द्रुतचक्रलया प्रावेशिकी । ततः प्रभृति हि सामाजिकानां हृदयं समुचितास्वादनयोग्यम् । यैः[5] संस्कर्तव्यमिति त्रिभिर्लयैर्न्याय्यम् । अन्यत्वे सर्वं प्रावेशिकीगानं स्यातन्त्र्याभिप्रायेण इति तदविचारितभाणप्रसिद्धिमात्रमिति मन्तव्यम् ।

अभिनव—'अर्थानुगा' से अभिप्रेत है कि स्थापना के प्रवेश के समय अर्थ के अनुसार ध्रुवा का गान करे। सारस, चक्रवाक आदि उपमान के क्रम से वहाँ प्रावेशिकी ध्रुवा का प्रयोग करे और इसी प्रकार उत्थापनी आदि ध्रुवा के समान उसके अर्थ को भी करना चाहिए। भाव यह कि उत्थापनी आदि ध्रुवा के समान अर्थ का अनुसरण करते हुए प्रावेशिकी ध्रुवा का गान करे। वह प्रावेशिकी ध्रुवा मध्य लय से अन्वित होनी चाहिए अर्थात् मध्यलय से गाना चाहिए। यह आधुनिकों को इष्ट है। शोक आदि के विषय में विलम्बित लय और रोष आदि के विषय में द्रुत लय में प्रावेशिकी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। उसी से सामाजिकों का हृदय समुचित आस्वादन के योग्य होता है। जिन्हें तीनों लयों से संस्कृत करना अर्थात् सामाजिकों के हृदय को आस्वादन के योग्य बनाना न्याय्य है, उचित है। अन्य अवस्था में सभी प्रावेशिकी ध्रुवाओं का गान स्वतन्त्र रूप से अभिप्रेत है, यह विना विचारे भाण के कथन के समान है।

अनुवाद—इसके बाद देवता एवं ब्राह्मणों की प्रशंसा से युक्त चारी का प्रयोग करे। फिर नाना प्रकार के रसों और भावों से समन्वित, सुन्दर वाक्यों वाले मधुर श्लोकों से रङ्ग अर्थात् रङ्गस्थ सामाजिकों को अच्छी तरह प्रसन्न करके कवि के नाम और गुण का कीर्त्तन करे ॥१७२-१७३ ॥

---

१. ख. घ. कुर्यादन्तरचारीं च । क-न. कुर्यादनन्तरं स्तोत्रं देवब्राह्मणसंश्रयम् ।
२. ग. नानातालालयान्वितैः ।
३. ख. घ. कवेर्नामानुकीर्तयेत् ।
४. क-भ. म. भूतचक्रलतया ।
५. क. यैस्तु कर्त्तव्यमिति ।

प्रस्तावनां ततः कुर्यात्काव्यप्रख्यापनाश्रयाम्[1] ।
उद्घात्यकादि[2] कर्तव्यं काव्योपक्षेपणाश्रयम् ॥ १७४ ॥
[3]दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा मानुषे मानुषाश्रयः ।
दिव्यमानुषसंयोगे[4] दिव्यो वा मानुषोऽपि वा ॥ १७५ ॥

कुर्यादनन्तरं चारीमिति । महाचारीगतौ श्लोकौ वक्ष्येते । तेन शृंगार-रसप्रधानं वीरादिरसप्रधानं देवद्विजस्तोत्रोद्देशश्लोकं पठेदित्यर्थः ।

अन्तरचारीमित्यन्ये पठन्ति । व्याचक्षते—स्वस्थानादन्यचारी, अनन्तर-प्रतिहारासनिकादिवत् । तत्र पुनः प्ररोचनया जयाशीर्वादादिक्रमेण रङ्गस्थ-सामाजिकवर्गप्रसादनं देवद्विजस्तोत्रोद्देशेन श्लोकं पठेत् (इति) । हृदयनिर्मली-करणं रसास्वादोचितसंस्कारात् ग्रहणयोग्यताधानार्थं कुर्यात् । ततः कविनाम कीर्तयेत् । चशब्दात्तद्गुणादिकम् । येन प्रसिद्धादरणीयत्वं भवति ॥ १७१-१७२ ॥

इसके बाद चारी का प्रयोग करे । महाचारी के सम्बन्ध में दो श्लोकों को आगे कहेंगे । इसलिए श्रृङ्गारस प्रधान अथवा वीरादि रस प्रधान देवता एवं ब्राह्मणों की स्तुति (प्रशंसा) के उद्देश से श्लोक को पढ़े ।

अन्य लोग यहाँ अन्तरचारी पाठ मानते हैं और व्याख्या करते हैं—अपने स्थान से अन्य चारी का प्रयोग करे । यहाँ पर फिर प्ररोचना के द्वारा जय एवं आशीर्वाद आदि के क्रम से रङ्ग में स्थित सामाजिकों को प्रसन्न करने वाले श्लोक को देवता और ब्राह्मणों के उद्देश्य से पाठ करे । रस के आस्वादन योग्य संस्कार से ग्रहण करने की योग्यता धारण करने के लिए हृदय को निर्मल करे । उसके बाद कवि के नाम का कीर्त्तन करे । 'च' शब्द से उसके गुण आदि का ग्रहण होता है अर्थात् कवि के नाम और गुण आदि का कीर्त्तन करे । जिससे कवियों की प्रसिद्धि एवं आदरणीयता होती है ॥ १७२-१७३ ॥

अनुवाद—इसके बाद काव्य (नाट्य) वस्तु के प्रख्यापन के आधारभूत प्रस्तावना को प्रारम्भ करे और काव्य के उपक्षेप के आश्रयभूत उद्घातक का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७४ ॥

अनुवाद—दिव्य अर्थात् देव चरित से सम्बन्धित रूपक में देवताओं का का आश्रय और मानव-चरित सम्बन्धी रूपक में मनुष्य का आश्रय तथा दिव्य-मानव सम्बन्धी रूपक में देवता और मनुष्य दोनों का आश्रय ग्रहण करना चाहिये ॥ १७५ ॥

---

१. क-त. ब. काव्यप्रस्तावनाश्रयाम् । २. ग. उद्घातकादि ।
३. ख. घ. दिव्यो दिव्याश्रयैर्भूत्वा मानुषी मानुषाश्रयैः । क-त. दिव्यैर्दिव्याश्रयोपेतम् ।
४. ख. घ दिव्यमानुषसंयोगः ।

मुखबीजानुसदृशं[1] नानामार्गसमाश्रयम्[2] ।
नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ॥ १७६ ॥
प्रस्ताव्यैवं तु निष्क्रामेत्काव्यप्रस्तावकस्ततः[3] ।
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि ॥ १७७ ॥

ततो रूपकविशेषप्रख्यापनमाश्रित्येति । तत्प्रख्यापनव्याजेन भाविरूपकार्थस्य प्रस्तावनामुपक्रमोपक्षेपपर्यायां कुर्यात्, येन प्रथमत एतत्प्रभृति सामाजिकाः संक्षेपेण संस्कारवन्तो भवन्ति । साधारणलोकवृत्ताभिमानसंस्कारवन्तश्च । तथा हि दिव्ये काव्यार्थे डिमादौ तत्सदृशवस्तूपक्षेपः । दिव्यमानुषो रामादिः । वाग्रहणं समुच्चये ।

ननूपक्षेपात्मा प्रस्तावना मुखसन्ध्यङ्गादुपक्षेपाद्बीजलक्षणाया अर्थप्रकृतेश्च कथं भिद्यत इत्याशङ्क्याह—मुखबीजानुसदृशमिति ।

अभिनव—इसके बाद रूपक विशेष के प्रख्यापन का आश्रय लेकर उसके प्रख्यापन के व्याज से भावी अर्थात् भविष्य में खेले जाने वाले रूपक के अर्थ के उपक्रम और उपक्षेप के पर्याय रूप प्रस्तावना को प्रस्तुत करे । जिससे पहिले से ही सामाजिक संक्षेप से संस्कारयुक्त हो जाते हैं और साधारण लोकवृत्त के अभिमान से संस्कार युक्त हो जाते है और जैसे दिव्य डिम आदि रूपक में उसके समान ही वस्तु (कथा-वस्तु) का उपक्षेप (उपक्रम) होता है राजा आदि दिव्य और मानुष दोनो रूप वाले हैं । यहाँ पर 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ में है ॥ १७४-१७५ ॥

अभिनव—अब प्रश्न उठता है कि उपक्षेप रूप प्रस्तावना मुखसन्धि के अङ्ग उपक्षेप से और बीजलक्षणा अर्थप्रकृति से भिन्न कैसे हो सकता है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—मुख तथा बीज के सदृश, अनेक मार्गों का आश्रय लेने वाले अनेक प्रकार के उपक्षेपों (सन्दर्भों) द्वारा काव्य का उपक्षेपण करे अर्थात् काव्यवस्तु सङ्केत करना चाहिए ॥१७६॥

अनुवाद—इस प्रकार प्रस्तावना करके काव्य का प्रस्तावक (स्थापक) रङ्गमञ्च से निकल जाय । इस प्रकार विधिपूर्वक पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ॥१७७॥

१. ख. मुखं बीजानुसदृशं ।
२. क-त. नानामार्गरसाश्रयाम् ।
३. ख. काव्यप्रस्थापको द्विजाः । क-त, काव्यं प्रस्तावेत्ततः ।

मुखाङ्गे ह्युपक्षेपे तदेवोपक्षिप्यते । बीजे च तदेव स्वल्पमात्रम् । इह तु तत्समम् । तथा हि नटीविदूषकपारिपार्श्विकैः [1]समन्तादिति विचित्रभेदेन स्वकार्यनिरूपणव्याजेन ये नानाविधा उपक्षेपाः उपांशु छन्नत्वेन रूपकार्थ-बीजस्य सामाजिकहृदयभूमौ क्षेपास्तैः काव्यं प्रस्ताव्य प्रस्तावकस्थापकौ निष्क्रामेताम् ।

नन्विह पूर्वरङ्गशेषभूता चेत्प्रस्तावना तर्हि भारत्यङ्गभूतत्वेन पुनः किमित्यामुखं प्ररोचना चाभिधास्यते (ना. शा २०-२७)। उच्यते । द्विविधा प्रस्तावना भवति—पूर्वरङ्गस्याङ्गभूताऽन्यस्य वा । तत्र [2]पूर्वरङ्गाङ्गेऽस्याः कविरुदासीनः । स्थापक एव स्वतन्त्रो निर्माता त्वन्यो वा कविर्ध्रुवागानादावपि ।

यदाह श्रीहर्षः–अत एव भासनामा कविः कस्मिंश्चन्नाटके "दिवं यातश्चित्त-ज्वरेणोत्कलित एवाभिवर्तते । अशक्यमस्य पुरतोऽवस्थातुम्" इत्यादि । सा द्वितीया या वृत्तिभेदमध्ये पठिता । एवं प्ररोचनादावपि मन्तव्यम् । यदाह—"तत्र काचित्काव्याभिमुखं नीयते पूर्वरङ्गविधिः तदभिमुखं वा काव्यारम्भस्तद्भवति सा द्विविधा" इत्यादि । एतच्च वृत्त्यध्याये व्याख्यास्यते "नटी विदूषको वापि" (ना. शा २०-३०) इत्यादौ । शास्त्रत्यागे मनागपि न वर्तितव्यमिति दर्शयितु-मेवमेष इति ।। १७६-१७७ ।।

अभिनव—मुखसन्धि के अङ्ग उपक्षेप में उसी का उपक्षेप किया जाता है । बीज में वही स्वल्प मात्रा में रहता है, यहाँ पर अर्थात् प्रस्तावना में तो वह समान रहता है । जैसा कि-नटी, विदूषक और पारिपार्श्विक चारों ओर विचित्र प्रकार से अपने कार्य निरूपण के व्याज से जो जो नाना प्रकार के उपक्षेप हैं अर्थात् प्रच्छन्न रूप के अर्थभूत बीज का सामाजिक के हृदय रूप भूमि में क्षेपण है, उन्हीं से काव्य की प्रस्तावना करके प्रस्तावक और स्थापक निकल जाँय । भाव यह कि स्थापक (प्रस्तावक) सामाजिकों के हृदय में रूपक के कथावस्तु के बीज को आरोपित कर रङ्गमञ्च से चला जाता है ।,

अब प्रश्न यह है कि यदि यहाँ प्रस्तावना पूर्वरङ्ग के अङ्गरूप है तो भारती वृत्ति के अङ्गरूप में आमुख और प्ररोचना को फिर क्यों कहते हैं ? इस पर कहते हैं कि प्रस्तावना दो प्रकार की होती है—एक पूर्वरङ्ग की अङ्गभूता प्रस्तावना और दूसरी अन्य की अङ्गभूता प्रस्तावना । उनमें पूर्वरङ्ग की अङ्गभूत प्रस्तावना का कवि उदासीन है । ध्रुवागान आदि के विषय में स्थापक ही स्वतन्त्र निर्माता है । अथवा अन्य कोई कवि ?

---

१. क-भ. म. समस्तादिविचित्रभेदेन । २. क-भ. म. पूर्वरङ्गेऽस्याः ।

य इमं पूर्वरङ्गं तु विधिनैव प्रयोजयेत्[1] ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १७८ ॥
यश्चापि[2] विधिमुत्सृज्य यथेष्टं संप्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ १७९ ॥
न तथाऽग्निः प्रदहति प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १८० ॥

यथाविधि प्रयोगेऽभ्युदयः स्यादित्याह--य इममिति । अन्यथापि प्रयोगे प्रत्यवायमाह--यश्चापीति । नाशुभमित्यादिना । शुभमिति दृष्टेऽभ्युदयः । स्वर्गमिति अदृष्टे । अपचयमिति । दृष्टे प्रत्यवाय इति । तिर्यग्योनिं चेत्यदृष्टे । दृष्टप्रत्यवायभीरुर्बाहुल्येन लोक इति । तमेवाधिकमवश्यभावित्वेन दर्शयति--न तथाग्निरिति ॥ १७८-१८० ॥

जैसाकि श्रीहर्ष कहते हैं—इसलिए भास नामक कवि ने अपने किसी नाटक में "चित्र ज्वर से उत्पीड़ित स्वर्ग में गया हुआ भी इधर ही आ रहा है। इसके सामने खड़ा होना कठिन है।" इत्यादि। वह दूसरी प्रस्तावना है जो वृत्तियों के भेद के मध्य में पढ़ी गई है। इसी प्रकार प्ररोचना आदि में समझना चाहिए। जैसाकि कहा गया है—"वहाँ कोई एक प्रस्तावना होती है जहाँ पूर्वरङ्ग विधि को काव्य के अभिमुख ले जाया जाता है और जहाँ पूर्वरङ्ग की विधि के अभिमुख काव्य का आरम्भ होता है वहाँ दूसरी प्रस्तावना होती है। इस प्रकार प्रस्तावना दो प्रकार की होती है" इत्यादि। वृत्त्यध्याय में 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा" इत्यादि स्थल पर इसकी व्याख्या करेंगे। शास्त्र को त्याग करने में थोड़ा भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, यह दिखाने के लिए कहते हैं—'एवमेष प्रयोक्तव्यः' इत्यादि ॥ १७६-१७७ ॥

अनुवाद—जो इस पूर्वरङ्ग का विधिपूर्वक प्रयोग करेगा वह कुछ भी अशुभ प्राप्त नहीं करेगा और स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा ॥ १७८ ॥

अनुवाद—और जो शास्त्र विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से पूर्वरङ्ग का प्रयोग करेगा, वह अतिशय हानि को प्राप्त करेगा और पशु-पक्षियों की योनि को प्राप्त होगा ॥ १७९ ॥

अनुवाद—वायु के द्वारा प्रेरित अग्नि उस प्रकार उतना नही जलाती जिस प्रकार जितना त्रुटिपूर्ण (विधि के विपरीत) किया गया नाटच प्रयोग क्षणभर में जला देता है ॥ १८० ॥

---

१. ख. प्रपूजयेत् । २. ख. ष. यश्चेमम् ।

इत्येवावन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्यौढ्रमागधैः[1] ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु द्विप्रमाणविनिर्मितः ॥ १८१ ॥
एष वः कथितो विप्राः [2]पूर्वरङ्गाश्रितो विधिः ।
भूयः किं कथ्यतां सम्यङ्नाट्यवेदविधिं प्रति ॥ १८२ ॥
इति भारतीये नाट्यशास्त्रे पूर्वरङ्गप्रयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

ननु पाठ्यादियोजना च वेषाचारयोजना चात्र पूर्वरङ्गे नोक्तेत्याशङ्क्य तामनुवादद्वारेणाभिधातुं शुद्धश्चान्यत्वेन योज्य इत्याख्यातुं समुचितमुपसंहारं करोति--इत्येवावन्तिपाञ्चालेत्यादि ।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि शास्त्रविधि के अनुसार किया गया नाट्य प्रयोग अभ्युदय करता है और शास्त्रविधि के अनुसार नाट्यप्रयोग न करने पर प्रत्यताय (विघ्न) होता है । यहाँ पर शुभ का अर्थ है दृष्ट (प्रत्यक्ष) में अभ्युदय । स्वर्गप्राप्ति से तात्पर्य है अदृष्ट फल । अपचय का अर्थ है दृष्ट फल में प्रत्यवाय (विघ्न पड़ना) ।' तिर्यग्योनि' से तात्पर्य है अदृष्ट प्रत्यवाय । लोक में प्रत्यक्ष प्रत्यवाय से डरने वाले लोग अधिक पाये जाते हैं । इसलिए उसी को अवश्य भावी के रूप में दिखाते हैं—'न तथाग्निः' अर्थात् अग्नि उतना नहीं जलाती ॥ १७८-१८० ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि पाठ्य आदि की योजना और वेष-भूषा तथा आचार की योजना का यहाँ पूर्वरङ्ग में कथन नही किया गया है, इस प्रकार आशङ्का करके उसे अनुवाद के द्वारा कहने के लिए और शुद्ध पूर्वरङ्ग की योजना अन्य प्रकार से करनी चाहिए, यह कहने के लिए समुचित उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार अवन्ती, पाञ्चाल, दाक्षिणात्य, औड्र तथा मगध के लोगों के द्वारा दो प्रमाण से विस्तार वाले (त्र्यस्र और चतुरस्र दो प्रमाणों से विनिर्मित) पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १८१ ॥

अनुवाद - हे विप्रों ! मैंने आप लोगों से पूर्वरङ्ग सम्बन्धी विधियाँ बतलाई है । अब नाट्यवेद की विधि के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से फिर क्या कहा जायगा ? ॥ १८२ ॥

इस प्रकार भरत नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग प्रयोग नामक
पांचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

---

१. ग. इत्येषोऽवन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्यान्ध्रमागधैः ।
ख. इत्येवावन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्योड्रमागधैः ।

२. क-अ. पूर्वरङ्गोचितो विधिः । क-त. न. पूर्वरङ्गकृतो विधिः । क-म. पूर्वरङ्गविधौ कृतिः ।

यावृक्प्रवृत्तिविशेषे नियतो रूपकनायको भविष्यति तादृक्प्रवृत्तिसमुचित-वेषभाषाचाराभिनयादिकमनुवर्तमानैः सूत्रधारादिभिः स्थापकान्तैः। पूर्वरङ्गो द्विविधस्त्र्यश्रश्चतुरश्रश्च। एष इत्यनन्तरोक्तस्वभाव एव कर्तव्यो न शुद्धः। अन्ये मन्यन्ते आवन्तीसात्त्विकीकैशिकीमिश्रेति। सा सूत्रधारस्य पाञ्चालदक्षिणयो-र्मध्यमा भूमिः ॥ १८१-१८२ ॥

इति महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायां नाट्यवेदविवृतौ
पूर्वरङ्गविधानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

अभिनव—जिस प्रकार के प्रवृत्तिविशेष में नियत रूपक का नायक होगा, सूत्रधारसे लेकर स्थापक पर्यन्त पात्रों को उसी प्रकार की प्रवृत्ति के अनुकूल (योग्य) वेष, भाषा, आचार, अभिनय आदि का अनुवर्त्तन करना चाहिए। पूर्वरङ्ग दो प्रकार का होता है—त्र्यस्र और चतुरस्र।

'एषः' पद का अभिप्राय है कि अभी-अभी समनन्तर में कहे हुए स्वभाव वाले पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए, शुद्ध पूर्वरङ्ग का नहीं। अन्य लोग तो कहते हैं कि आवन्ती को सात्त्विकी और कौशिकी से मिश्रित करनी चाहिए। वह आवन्ती सूत्रधार की पाञ्चाल और दक्षिण के मध्य की भूमि है ॥ १८१-१८२ ॥

इस प्रकार महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित नाट्यवेदविवृत्ति में पूर्वरङ्गविधान नामक पांचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

इति डा॰ पारसनाथद्विवेदिरचितायां मनोरमाख्यायामभिनवभारत्यां
हिन्दी व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार डा॰ पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती
की हिन्दी व्याख्या में पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

❀ ❀ ❀

पञ्चम अध्याय

[प्रक्षिप्त भाग]

*पुनश्चित्रें तथा मिश्रे शुद्धे चैथ ब्रवीम्यहम् ।
यथा योज्या ध्रुवाः पञ्च तथा वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

पारिभाषिकपद टीका

([1]पुनश्चित्र इति । चतुरश्रत्र्यश्रभेदाच्चित्रशुद्धभेदाच्च पूर्वरङ्गश्चतुर्धोक्तः । मतान्तरेण शुद्धचित्रमिश्रात्मकस्य त्रयस्यापि भेदस्य उत्थापन्यादिषु ध्रुवाविधानं पातभागकलातालवाद्यनियमं चाह—पुनरित्यादिना ।

अनुवाद—अब मैं चित्र, मिश्र और शुद्ध पूर्वरङ्ग में पांच ध्रुवाओं की जिस प्रकार योजना करनी चाहिए, उसका तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करूँगा॥ १ ॥

हिन्दी टीका—प्रथम सम्पादक का कहना है कि त्र्यस्र और चतुरस्र पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत चित्र और शुद्ध भेद से पूर्वरङ्ग चार प्रकार का होता है। एक अन्य मत के अनुसार पूर्वरङ्ग के चित्र, मिश्र और शुद्ध ये भेद होते हैं। चित्र और शुद्ध के सम्मिलित प्रयोग से मिश्र पूर्वरङ्ग होता है। इन तीनों भेदों के उत्थापनी आदि में ध्रुवा का विधान, पात का विभाग, कला तथा वाद्य के नियम को कहते हैं—पुनः चित्र, मिश्र तथा शुद्ध पूर्वरङ्ग में ध्रुवाओं के प्रयोग की विधि का विवेचन करूँगा ॥ १ ॥

---

* "पुनश्चित्र इत्यादि चत्वारिंशत्श्लोकपरिमितस्तु कोहलमतानुयायिभिः कैश्चित् प्रक्षिप्त एव भवेत् ।" क, ग, घ, च, ज, चिह्नितादर्शेष्वनुपलम्भात् टीकायास्त्रुटितभागस्याल्पत्वात् व्याख्यातृभिरपि प्रक्षिप्त इति न व्याख्यात इति मन्यामहे । तथाप्यस्य पारिभाषिकपदटीका काचिद्बालसौकर्याय विरच्यते । प्रथमसम्पादकस्यायं लेखः ।

१. 'पुनश्चित्र' इत्यादि से लेकर अध्याय के अन्त तक का लगभग ४० श्लोक भरतमुनिप्रणीत नहीं है। कोहल के मतानुयायी किसी आचार्य ने यहाँ प्रक्षिप्त किया है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने इस पर व्याख्या नहीं लिखी है। किन्तु प्रथम सम्पादक ने इस अंश की परिभाषिक पदटीका लिखी है।

[1]आदावुत्थापनी कार्या परिवर्तस्तथा भवेत् ।
[2]अवकृष्टाड्डिता चैव विक्षिप्ता चैव पञ्चमी ॥ २ ॥
एवं पञ्च ध्रुवा ज्ञेया उपोहनसमन्विताः ।
कर्तव्यास्तु प्रयत्नेन पूर्वरङ्गे प्रयोक्तृभिः ॥ ३ ॥
[3]अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युपोहनविधिक्रियाम् ।
उत्थापनस्याष्टकलं परिवर्त्तस्य षट्कलम् ॥ ४ ॥
[4]अवकृष्टं पुनः कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम् ।
ध्रुवायामड्डितायां च चतुष्कलमथापि च ॥ ५ ॥
क्षिप्तायां चैव विज्ञेयं कलात्रयसमन्वितम् ।
एवं ह्युपोहनानां तु प्रमाणं समुदाहृतम् ॥ ६ ॥

उपोहनेति। उपोहनं वस्तुगीतप्रयोगात्पूर्वं क्वचिच्च वस्तुकलिकयोर्मध्ये स्वरकलानियमार्थं शुष्काक्षरप्रयोगः। उक्तं च तालाध्याये मुनिना—

उपोह्यन्ते स्वरा येन यस्माद्गीतं प्रवर्तते ।
तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम् ॥ (ना शा ३१-१२५) इति ॥

अनुवाद—सर्वप्रथम उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए, फिर परिवर्त का प्रयोग करे, फिर अवकृष्टा ध्रुवा, अड्डिता ध्रुवा और अन्त में पांचवीं विक्षिप्ता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २ ॥

अनुवाद—इस प्रकार ये पांच ध्रुवाएँ है। नाट्यप्रयोक्ताओं को पूर्वरङ्ग में उपोहन से समन्वित इन पांच ध्रुवाओं का प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करना चाहिए ॥ ३ ॥

व्याख्या—उपोपहन वस्तु और गीत के प्रयोग के पहिले और कहीं वस्तु और कलिका के बीच स्वर और कला के नियमन के लिए शुष्काक्षरों का गान होता है। जैसा कि भरतमुनि ने तालाध्याय में कहा है—

"जिससे स्वरों का उपवहन किया जाता है, जिससे गीत का प्रवर्त्तन होता हैं, शुष्काक्षर से समन्वित उसे उपोहन समझना चाहिए।" (ना० शा० ३१-१३८) ॥ ३ ॥

अनुवाद—इसके बाद उपोहन की क्रिया का कथन करूँगा। उत्थापनी ध्रुवा में आठ कलाएँ, परिवर्त्तनी ध्रुवा में छः कलाएँ होनी चाहिए अवकृष्टा

---

१. क ङ. उत्थापनी यथा कार्या। २. क-म. अपकृष्टासितञ्चैव।
३. क-म. अतः परं प्रवक्ष्यामि उत्थापनविधिं प्रति ।
४. क-द. अपकृष्टा पुनः कार्या।

गुरुलाघवसंयुक्तं कलातालसमन्वितम् ।
पूर्वरङ्ग सदा ज्ञेयं चित्रमार्गे ह्युपोहनम् ॥ ७ ॥
चित्रे चैत्राः कला ज्ञेया मिश्रे वार्तिकमाश्रिताः ।
शुद्धे दक्षिणमार्गेण प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ॥ ८ ॥

पञ्चसु ध्रुवासूपोहने कलाक्रममाह—उत्थापनस्येत्यादिना ।

वक्ष्यमाणध्रुवालक्षणं केवलं चित्रभेदस्येति नियमयति—गुर्वित्यादिना । ननु शुद्धमिश्रभेदयोश्चापि तथैवेत्याशङ्क्याह—चित्र इति । चित्राख्ये पूर्वरङ्गभेदे चैत्राः चित्रमार्गाश्रिताः कलाः । मिश्रे तु वार्तिकमार्गाश्रिताः । शुद्धे तु दक्षिणमानतीता एव प्रयोक्तव्याः । चित्रादिमार्गलक्षणं तूक्तं मुनिना—

चित्रे द्विमात्रा कर्तव्या वृत्तौ सा द्विगुणा स्मृता ।
चतुर्गुणा दक्षिणे स्यादित्येवं त्रिविधा कला ॥ (ना. शा. ३१-५)

ध्रुवा पांच कलाओं से युक्त होनी चाहिए, अड्डिता ध्रुवा में चार कलाएँ होनी चाहिए औरविक्षिप्ता ध्रुवा तीन कलाओं से समन्वित जानना चाहिए । इस प्रकार उपोहन का प्रमाण कहा गया है ॥ ४-६ ॥

व्याख्या—पांच ध्रुवाओं में उपोहन के कला प्रमाण को कहते हैं—उत्थापन में आठ कलाएँ होती हैं ॥ ४ ॥

अनुवाद—गुरु तथा लघु से युक्त, कला एवं ताल से समन्वित चित्र पूर्वरङ्ग मे उपोहन समझना चाहिए ॥ ७ ॥

अनुवाद-चित्र पूर्वरङ्ग में चित्रमार्ग के अनुसार, मिश्र पूर्वरङ्ग में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित और शुद्ध पूर्वरङ्ग में दक्षिण मार्ग के अनुसार नाट्य प्रयोक्ताओं को कलाओं का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८ ॥

व्याख्या—आगे कहे जाने वाले केवल चित्रमार्ग ध्रुवा का लक्षण करते हैं—गुरु और लघु से युक्त आदि । शुद्ध और मिश्र भेदों में भी उसी प्रकार शङ्का करके कहते हैं कि चित्र नामक पूर्वरङ्ग के भेद में चित्र मार्ग से आश्रित कला का प्रयोग करना चाहिए और मिश्र में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित और शुद्ध पूर्वरङ्ग में दक्षिणमार्ग पर आश्रित कला का प्रयोग करना चाहिए । चित्र आदि मार्गों का लक्षण भरतमुनि ने कहा है—

"चित्र मार्ग में कला को दो मात्राएँ होती है, वार्त्तिक मार्ग में उससे दुगुना अर्थात् चार मात्राएँ होती हैं और दक्षिण मार्ग में चौगुना अर्थात् आठ मात्राएँ होती हैं । इस प्रकार कला तीन प्रकार की होती है । एककल दो मात्राएँ, द्विकल चार मात्राएँ और चतुष्कल आठ मात्राएँ ॥ (ना० शा० ३१।३-४) ॥

चतस्त्रो गीतयः कार्या मागधी ह्यर्धमागधी ।
संभाविता तथा चैव पृथुला च प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥
मागधी त्वथ कर्तव्या त्वथवा त्वर्धमागधो ।
पूर्वरङ्गे भवेच्चित्रे चित्रमार्गसमाश्रिता[1] ॥ १० ॥

वस्तुविधानमाह--चतस्र इति । गीतयो वर्णालंकाराश्छन्दोक्षरसमन्विता मागध्यादयो गेयाधिकारे (ना. शा. २९) सलक्षणं निरूपयिष्यन्ते ।

"संभाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता ।
लघ्वक्षरकृता नित्यं पृथुला सा प्रकीर्तिता ॥
त्रिर्निवृत्तप्रगीता या सा ज्ञेया मागधी बुधैः ।
अर्धतः संनिवृत्ता च विज्ञेया ह्यर्धमागधी ॥"

इति (ना. शा. २९-४९-५०)

गीतयो रागाङ्गतयोक्ताः कैश्चित् । ता वर्णालङ्कारा एव । उक्तं नान्यदेवेन स्वभरतभाष्ये---

---

अब वस्तु विधान को कहते हैं—

अनुवाद—पूर्वरङ्ग में मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला इन चार प्रकार की गतियों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९ ॥

अनुवाद—इनमें चित्र पूर्वरङ्ग में चित्रमार्ग पर आश्रित मागधी अथवा अर्धमागधी गीत का प्रयोग करना चाहिए ॥ १० ॥

व्याख्या—गेयाधिकार में वर्ण, अलङ्कार, छन्द, अक्षर से समन्वित मागधी आदि गीतियों का लक्षण सहित निरूपण करेंगे।

"गुरु अक्षरों की बहुलता से युक्त संभाविता गीति जाननी चाहिए और जो लघु अक्षरों से युक्त होती है उसे पृथुला कहते हैं। तीन विभिन्न लय खण्डों में गाये जाने वाली गीति मागधी कहलाती है अर्थात् प्रथम खण्ड (प्रथम कला) का ज्ञान विलम्बित लय में, द्वितीय का मध्य लय में और तृतीय का द्रुत लय में किया जाता है। मागधी की अपेक्षा अर्धमात्रा काल में लाये जाने वाली गोति अर्धमागधी कहलाती है।" (ना० शा० २९।४७-४८)

कुछ आचार्यों ने गीति को राग का अङ्ग कहा है। वे गीतियाँ वर्ण और अलङ्कार रूप हैं। जैसाकि नान्यदेव ने भरतभाष्य में कहा है—

---

१. क-न. म. चित्रमार्गे च मागधी ।

"अत्र वर्णशब्देन गीतिरभिधीयते। नाक्षरविशेषः। नापि षड्जादिसप्तस्वराः। पदग्रामे त्वनियमादेव स्वेच्छया प्रयुज्यन्ते। षड्जादिस्वरान्तानामप्यविशेषेण वाऽवरोहादिधर्माणं प्रत्येव समुपलभ्यते। अतो वर्ण एव गीतिरित्यवस्थितम्। सोऽपि चतुर्विधो मागध्यादिः" इति।

मगधदेशोद्भवत्वान्मागधी। विदर्भादिषु दृष्टत्वात्सा समाख्येत्यन्ये। अर्धनिवर्तनादर्धमागधी। द्वे अपि निवृत्तिप्रधाने। संभाविता पृथुला च मात्राप्रधाना। तदुक्तं मतङ्गेन--

द्विगुरु द्विनिवृता च चित्रे गीतिस्तु मागधी।
लघुप्लुतकृता चैव तदर्धे चार्धमागधी।
संभाविता गुरुर्वृत्तौ पृथुला दक्षिणे लघुः॥ इति

तदसमञ्जसमित्यभिनवगुप्ताचार्यः। आसामेव चतसृणामालप्तादिभेदाः पुष्कराध्यायवक्ष्यमाणाः परिकल्पिताः।

"यहाँ पर वर्ण शब्द से गीति का ग्रहण होता है। वर्ण से अक्षर विशेष का ग्रहण नहीं होता और न वर्ण शब्द से षड्ज आदि सात स्वरों का ग्रहण होता है। पदग्राम में नियम न होने से ये स्वेच्छा से प्रयोग किये जाते हैं। षड्ज आदि भी अविशेष रूप से अवरोहादि धर्म के आश्रित पाये जाते हैं। अतः वर्ण ही गीति है, यह व्यवस्थित हुआ। वह गीति भी चार प्रकार की होती है--मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला।"

मगध देश में उत्पन्न होने से मागधी गीति कही जाती है। विदर्भ आदि देश में देखे जाने से उसके समान नाम से कही जाती है, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। अर्धकाल में सम्पन्न होने से मागधी अर्धमागधी कही जाती है अर्थात् यदि मागधी गीति अर्धकाल (द्रुतलय) में गायी जाती है तो अर्धमागधी गीति कही जाती है। ये दोनों ही गीतियाँ निवृत्तिप्रधान होती हैं और संभाविता एवं पृथुला मात्राप्रधान होती हैं। जैसा कि मतङ्ग ने कहा है—

"चित्रमार्ग में दो गुरु अक्षरों से युक्त द्विरावृत्त (द्विकल) गीति मागधी होती है। वही मागधी लघु और प्लुत अक्षरों से समन्वित अर्धकाल निवृत्त (प्रथम कल) होने पर अर्धमागधी होती है। यदि वार्त्तिक मार्ग में गुरु अक्षर हों तो संभाविता और दक्षिणामार्ग में लघु अक्षर होने पर पृथुला गीति होती है।"

किन्तु इस मत से अभिनवगुप्त सहमत नहीं है। इन्हीं चारों गीतियों के आलिप्तादि भेद आगे पुष्कराध्याय में कहे जायँगे।

आसां कलातालमानेन लक्षणमुक्तं रघुनाथेन—

"प्रस्तावने जातिनिरूपणस्य या गीतयः पूर्वमिहोपदिष्टाः ।
तासामिदानीं किल लक्षणानि वक्ष्यामहे गायकबोधहेतोः ॥
त्रिषष्ट्यलङ्कारयुता चतुर्भिः स्थाय्यादिभिः संमिलिता च वर्णैः ।
विलम्बितेनापि च मध्यमेन द्रुतेन शोभां दधती लयेन ॥
गानक्रियागीतिरिहोपदिष्टा चतुर्विधा सा गदिता मुनीन्द्रैः ।
स्यान्मागधीनामवती किलाद्या तथार्धमागध्यभिधा द्वितीया ॥
संभाविताख्यानवती तृतीया भवेच्चतुर्थी पृथुलाभिधाना ।
क्रमेण लक्ष्माणि पदानि तासां सा मागधीलक्षणमुच्यतेऽत्र ॥
विलम्बितेनैव पदेन युक्तं गायेत्कलायां पदमादिमायाम् ।
पदान्तरेणापि युतं तदेव गायेत्पदं मध्यलयेन युक्तम् ॥
कलां द्वितीयामधिकृत्य सम्यक्कलां तृतीयामधिकृत्य पश्चात् ।
ते द्वे कृती स्वेन पदेन युक्ते गायेद्द्रुतेनैव लयेन सार्धम् ॥
इति त्रिरावृत्तपदां वदन्ति तां मागधीं मागधराजहृद्याम् ।

गामाधा	{ धनिधनिसनिसा }	रिगरिगमागारिसा
देवं	{ देवं० रुद्रं०० रुद्रं०० }	देवं००० रुद्रं००० वन्दे०००

इति मागधी

रघुनाथ ने कला और ताल के मान से उनका तक्षण इस प्रकार कहा है—

"पहिले प्रस्तावना में जातिनिरूपण की जो गीतियाँ कही गई हैं। गायकों के ज्ञान के लिए अब उनका लक्षण कहेंगे।"

तिरसठ अलङ्कारों से युक्त, स्थायी आदि चार वर्णो से समन्वित, विलम्बित मध्य और द्रुत लय से सुशोभित गानक्रिया ही गीति है। भरतमुनि ने वह गीति चार प्रकार की बताई है—प्रथम मागधी, दूसरी अर्धमागधी, तीसरी संभाविता और चौथी पृथुला। क्रम से उनका लक्षण कहेंगे। पहिले मागधी का लक्षण कहते हैं।

१—मागधी

प्रथम कला में विलम्बित लय से युक्त पद का गान करे, फिर द्वितीय कला में उसी पद को पदान्तर (दूसरे पद) से युक्त करके मध्य लय से गान करे। फिर तृतीय कला में उन दोनों पदों को तृतीय पद के साथ द्रुतलय से गान करे। इस प्रकार त्रिरावृत्तपदा अर्थात् तीन बार आवृत्त पदों वाली (त्रिकला) गीति को विद्वान् लोग मागधी गीति कहते हैं।

अथार्धमागध्यपि लक्ष्यतेऽत्र विलम्बितेनैव पदेन युक्तम् ॥
गायेत्कलायां पदमादिमायां पदान्तरेणाथ युतं तदर्धम् ।
गायेत्पुनर्मध्यलयेन युक्तं कलां द्वितीयामधिकृत्य सम्यक् ॥
कलां तृतीयामधिकृत्य पश्चादधं द्वितीयस्य पदस्य गायेत् ।
पदान्तरं च द्रुतमानयुक्तं सैवार्धमागध्यभिधावती स्यात् ॥

मारीगासा देवं०००१	{ सासाधानी वं रुद्रं—२ }	पाधामामा द्रं वन्दे—३

इत्यर्धमागधी

मागधी गीति का उदाहरण, जैसे—

प्रथम कला—	मा	गा	मा	धा					} —विलम्बित लय
	दे		वं						
द्वितीय कला—	ध	नि	ध	नि	स	नि	धा		} —मध्यलय
	दे		वं		रु		द्रं		
तृतीय कला—	रि	ग	रि	ग	म	ग	रि	स	} —द्रुतयल
	दे	वं	रु	द्रं	वं		दे		,,

इस उदाहरण में प्रथम कला में देव पद को विलम्बित लय से गाकर फिर द्वितीय कला में उसी देव पद को रुद्र पद के साथ 'देवं रुद्रं' इस प्रकार मध्य लय से गाया जाता है। फिर तृतीय कला में 'देवं' 'रुद्रं' इन दोनों पदों को 'वन्दे' इस तृतीय पद के साथ द्रुतलय में गाया जाता है, अतः यह त्रिरावृत्त होने से मागधी का उदाहरण है।

अर्धमागधी

अब अर्धमागधी का लक्षण करते हैं। आर्धमागधी गीति में प्रथमकला में विलम्बित लय से युक्त पद का गान किया जाता है। द्वितीय कला में प्रथम पद के अन्तिम अक्षर का द्वितीय पद के साथ मध्यलय से गायन होता है। तृतीय कला में द्वितीय पद के अर्धभाग (अन्तिम अक्षर) अन्य पद (तृतीयपद) के साथ द्रुत लय में गाया जाता है। भाव यह है कि अर्धमागधी गीति में प्रथम कला में मागधी के समान विलम्बित लय में गाया जाता है। द्वितीय कला में द्वितीय पद के साथ प्रथम पद का अर्ध गायन होता है और तृतीय कला में तृतीय पक के साथ द्वितीय पद का अर्ध गान होता है। जैसे—

संभावितालक्षणमत्र वक्ष्ये संक्षेपितैश्चात्र पदैश्चतुर्भिः ।
गुर्वक्षरैर्भूरिभिरन्विता च कलादिमा स्यात्सविलम्बिता च ॥
तथैव मध्यस्थपदद्वयस्य प्रत्येकमुच्चारणतो द्विवारम् ।
आद्यान्तिमे चापि पदे विहाय परा कला मध्यलयान्विता स्यात ॥
पदैश्चतुर्भिः सहिता द्रुतेन लयेन युक्ता तु कला तृतीया ।
एतत् त्रयं यत्र चकास्ति चैषा संभाविता गायकसम्मता स्यात् ॥

प्रस्तारः

१. धामामारिग	३. नी धा सा नी
भ ० क्त्या ० ०	रु ० द्रं ०
२. री गा सा सा	४. धा नी मा सा
दे ० वं ०	व ० न्दे ०

इति संभाविता

प्रथम कला—	मा	री	गा	सा	—विलम्बितलय
	दे		वं		,,
द्वितीय कला—	सा	सा	धा	नी	—मध्यलय
	वं	रु	द्रं		,,
तृतीय कला—	पा	धा	पा	मा	—द्रुतलय
	द्रं	व	वन्दे		,,

यहाँ पर प्रथम कला में 'देवं' पद का गान करके द्वितीय कला में प्रथम पद 'देवं' का अन्तिम अर्ध 'वं' का द्वितीय पद 'रुद्रं' के साथ 'वं रुद्रं' गान किया गया है। तृतीय कला में द्वितीय पद के अन्तिम अर्ध 'द्रं' के साथ तृतीय पद 'वन्दे' का 'द्रं वन्दे' इस प्रकार गान किया गया है। इस प्रकार पूर्व दोनो पद तथा अन्तिम के अर्ध का द्विरावृत्ति है। अतः यहाँ अर्धमागधी गीति है।

संभाविता

अब संभाविता गीति का लक्षण बताते हैं। जहाँ पर संक्षेपित चार पदों के साथ गुरु अक्षरों की अधिकता से अन्वित प्रथम कला विलम्बित लय से युक्त होती है और द्वितीय कला में मध्य में स्थित दो पदों को प्रत्येक का दो बार गान (उच्चारण) करके आदि और अन्तिम पद को छोड़कर मध्य लय से युक्त हो और तृतीय कला में चार पदों के साथ द्रुत लय में गाये जाने वाली गीति संभाविता गीति कहलाती है। जैसे—

लक्ष्मोच्यतेऽधः पृथुलाख्यगीते संभावितावत्सकलं च वेद्यम् ।
लघ्वक्षराणां बहुलः प्रयोगोऽपरं भवेदेष तयोर्विशेषः ॥

प्रस्तारः

१	२	३	४
मागारिगा सुरनत	माधनिधाधा हरपद	सासाधानी युगलं	पानिधपमामा प्रणमत

इति पृथुला

प्रथमपाद—	धा	मा	मा	रिग
	भ		क्त्या	
द्वितीयपाद—	री	गा	सा	सा
	दे		वं	
तृतीयपाद—	नी	धा	सा	नी
	रु		द्रं	
चतुर्थपाद—	धा	नी	मा	मा
	व		न्दे	

यहाँ पर प्रथमकला में चार पद गाकर 'भक्त्या देवं रुद्रं वन्दे' इन चार पदों को गाकर द्वितीय कला में मध्य में स्थित दोनों पदों को दो बार गाया गया है—देवं रुद्रं रुद्रं। तृतीय कला में प्रथम कला के समान "भक्त्या देवं रुद्रं वन्दे" इन चार पदों का गायन हुआ है, अतः यह संभाविता गीति का उदाहरण है।

४–पृथुला

अब पृथुला गीति का लक्षण कहता हूँ। पृथुला गीति में समस्त क्रिया संभाविता गीति के समान होती है। किन्तु इसमें लघु अक्षर अधिक होते हैं जब कि संभाविता में गुरु अक्षर अधिक होते हैं। यही दोनो में विशेषता है। उदाहरण जैसे—

१—	मा	गा	रि	गा
	सु	र	न	त
२—	सा	धनि	धा	धा
	ह	र	प	द
३—	धा	सा	धा	नी
	यु	ग	लं	०
४—	पा	निधप	मा	मा
	प्र	ण	म	त

पदाश्रयं लक्षणमुक्तमासां तालाश्रयं लक्षणमामनामः ।
ताले गुरुद्वन्द्वलघुप्लुताढ्ये चञ्चत्पुटे त्वाद्यगुरुद्वयं तु ॥
तद्वाक्यरीत्या च गुणेन युक्तं चित्रार्हमेकैकमनु प्रयुज्य ।
तद्दक्षिणाख्ये ध्रुवकादिभिस्तु मात्राभिरष्टाभिरथ प्रयुञ्जयात् ॥
सा मागधीगीतिरुदाहृतैवं तालाश्रयेणापि तथा मुनीन्द्रैः ।
चञ्चत्पुटस्यात्र लघुं तृतीयं प्रयुज्य पूर्वं छगणार्धयुक्तम् ॥
आद्येन मात्राद्वितयेन युक्तं मात्राद्वयेनापि युतं प्रयुञ्जयात् ।
प्लुतं तु सार्धं च गणेन युक्तं मात्राभिरष्टाभिरथ प्रयुञ्जयात् ॥
द्विरीरितान्त्यद्वितयान्विताभिस्तदार्धमागध्युदिता मुनीन्द्रैः ।
तालान्तरे गीतिरितीयमूह्या संभाविताललक्षणमुच्यतेऽत्र ॥

इस प्रकार चार प्रकार की पदाश्रित गीति का लक्षण कहकर अब तालाश्रित गीति का लक्षण कहते हैं—

गुरु द्वय, लघु और प्लुत रूप यथाक्षर (एककल) चञ्चत्पुट ताल में प्रथम दो गुरुओं में एक एक गुरु को चित्रमार्ग में प्रयोग के योग्य बनाकर[1] चगण से अन्वित ध्रुवका[2] आदि आठ मात्राओं से युक्त चञ्चत्पुट ताल के प्रथम दो गुरुओं को जब दक्षिण मार्ग में प्रयोग किया जाता है तो मागधी गीति होती है।

उस यथाक्षर (एककल) चञ्चत्पुट ताल के तृतीय लघु अक्षर को छगण के अर्ध अर्थात् तीन मात्राओं से युक्त कर आद्य ध्रुवका और सर्पिणी तथा अन्तिम पताका और पतिता के साथ जब प्रयोग किया जाय और उसके बाद चञ्चत्पुट के अन्तिम प्लुत अक्षर को छगण के आधे अर्थात् तीन मात्राओं से युक्त करके ध्रुवका आदि आठ मात्राओं के साथ प्रयोग करके अन्तिम पताका और पतिता मात्राओं को द्विरावृत्त करके जब प्रयोग किया जाय तो अर्धमागधी गीति होती है। मुनि ने इस प्रकार चञ्चत्पुट ताल के आश्रित मागधी और अर्धमागधी का लक्षण किया है। इसी प्रकार अन्य चाचपुट आदि तालों में भी इसे समझना चाहिए।

---

१. संगीतरत्नाकर में पाँच गण बताये गये है—छगण, पगण, चगण, तगण, दगण (**तद्गणास्छचपास्तदौ**)। इनमें छगण षण्मात्रिक (SSS), पगण पञ्चमात्रिक (SSI) चगण चतुर्मात्रिक (SS), तगण त्रिमात्रिक (SI) तथा दगण द्विमात्रिक (S) होता है।

२. ध्रुवका सर्पिणी कृष्या पद्मिनी च विसर्जिता ।
विक्षिप्ताख्या पताका च मात्रा स्यात्पतिताष्टमी । (सुधाकरः)
ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्या, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता ये आठ मात्राएँ हैं।

यथा मिश्रस्तु योक्तव्यः पूर्वरङ्गे भवेदिह ॥ ११ ॥
मिश्रे सम्भाविता कार्या तदा वार्तिकमाश्रिता ।
शुद्धे च पृथुला कार्या दक्षिणं मार्गमाश्रिता ॥ १२ ॥

चञ्चत्पुटे तु द्विकले तु वृत्तिमार्गे मता भूरिगुरुः किलैषा ।
चञ्चत्पुटे तत्र चतुष्कले तु स्याद्दक्षिणे भूरिलघुस्तथान्या ॥" इति ।

मिश्रस्त्विवति । यदा चित्रमार्गे वार्तिकमार्गाश्रिता संभाविता भवेत्तदा सा मागधीत्युच्यते लयस्य भिन्नत्वात् । तथा वार्तिकमार्गे दक्षिणमार्गाश्रिता पृथुला चेत्तदा सा संभावितेत्युच्यते । चतस्रोऽपि गीतयः न केवलं पूर्वरङ्गे प्रयोज्याः । अपि तु नाट्येऽपि । तदुक्तं मुनिना—

गानयोगे चतस्रस्तु योज्याः सर्वत्र गायनैः । इति (ना. शा. ३१)

अब संभाविता गीति का लक्षण करते हैं। द्विकल चञ्चत्पुट ताल के वार्त्तिक मार्ग में गुरु अक्षरों के आधिक्य से युक्त संभाविता गीति होती है। इसी प्रकार जब चतुष्कल चञ्चत्पुट ताल के दक्षिण मार्ग में लघु अक्षरों का अधिक प्रयोग होता है तो पृथुला गीति होती है ॥ १० ॥

अनुवाद—मिश्र पूर्वरङ्ग में जिस प्रकार का प्रयोग होना चाहिए, उसे कहते हैं । मिश्र पूर्वरङ्ग में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित संभाविता गीति का प्रयोग करना चाहिए और शुद्ध पूर्वरङ्ग में दक्षिण मार्ग पर आश्रित पृथुला गीति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

व्याख्या—जब चित्रमार्ग में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित संभाविता गीति का प्रयोग होता है तो वह मागधी गीति कही जाती है, लय के भिन्न होने से । भाव यह है कि जब वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित संभाविता गीति का प्रयोग चित्र मार्ग में होता है तो लय के भिन्न होने से मागधी गीति कही जाती है । उसी प्रकार वार्त्तिक मार्ग में दक्षिण मार्ग पर आश्रित पृथुला गीति का जब प्रयोग होता है तब उसे संभाविता गीति कहते हैं । इन चारों गीतियों का केवल पूर्वरङ्ग में ही प्रयोग नहीं करना चाहिए, अपितु नाट्य में भी इनका प्रयोग करना चाहिए । जैसा कि भरतमुनि ने कहा है—

"गान के योग में सभी जगह गायकों को चारों गीतियों का प्रयोग करना चाहिए।" (ना. शा. ३२।४२४)

अतः परं प्रवक्ष्यामि गुरुलाघवतः क्रियाम् ।
उपोहनक्रियायां तु यथायोज्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १३ ॥
दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं सदा बुधैः ।
मध्ये लघ्वक्षराणि स्युः षोडशैव तु नित्यशः ॥ १४ ॥
एवं ह्यु पोहनं कृत्वा तथा वस्तु समाचरेत् ।
उत्थापन्यां प्रयोगेऽस्मिन्कलाकालसमन्वितम् ॥ १५ ॥
अक्षराणां कलायास्तु गुरुलाघवमेव च ।
[1]पूर्वं तु कथितं यस्मात्तस्मान्नाभिहितं भवेत् ॥ १६ ॥

दिग्ले इति शुष्काक्षराणि तान्येवोपोहनोदितानि कलानां पूरकाणि स्तोभाक्षराणि । झण्टुं जगतिपवलितककुचझलगितिकलपशुपति दिगिनिगि दिग्लेतेते इति दशपदात्मकस्तोभा उपोहने स्वरकलाद्योतकाः । वस्त्विति मागध्यादिगीतिः । नाटकादन्यत्रापरान्तकादिसप्तविधा गीतिः । पूर्वमिति (ना. शा. ५-५९) श्लोके । तस्योदाहरणं देवमित्यादि ।

अनुवाद—इसके बाद उपोहन क्रिया में प्रयोक्ताओं को गुरु और लघु मात्राओं का प्रयोग जिस प्रकार करना चाहिए, उसका वर्णन करूँगा ॥ १२-१३ ॥

अनुवाद—विद्वानों को पहिले (प्रारम्भ में) दिग्ले दिग्ले (दो गुरु) का और फिर अन्त में झण्टुं का प्रयोग करना चाहिए और मध्य में सोलह लघु अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार उपोहन क्रिया करके वस्तु (सार्थक गीत) का आरम्भ करना चाहिए ॥ १३-१४ ॥

व्याख्या—'दिग्ले' आदि शुष्काक्षर हैं, वे ही उपोहन क्रिया में कहे गये कलाओं को पूर्ण करने वाले स्तोभाक्षर हैं । शुष्काक्षर अथवा स्तोभाक्षर दस हैं—'झण्टुं, जगतिप, वलितक, कुचझल, गीतिकल, पशुपति, दिगिनिगि, दिग्ले, गणपति तिचा, ये पदात्मक दस स्तोभाक्षर उपोहन क्रिया में स्वर एवं कला के द्योतक हैं । 'वस्तु' से मागधी आदि गीतियाँ अभिप्रेत हैं । नाटक से भिन्न अपरान्तक आदि सात प्रकार की गीतियाँ हैं ।

उत्त्थापनी ध्रुवा

अनुवाद—उत्त्थापनी ध्रुवा के इस प्रयोग में कला और काल से समन्वित कला और अक्षरों का गुरुत्व और लाघव का कथन पहिले किया जा चुका है, इसलिए फिर उसका कथन नहीं किया गया है ॥१५-१६॥

१. क (टि) पूर्वं सङ्कलितं यस्मात् ।

यथा—

देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं कैलासपर्वतगुहाभिरतम् ।
शैलेन्द्रराजतनयादयितं मूर्ध्ना नतोऽस्मि पुरनाशकरम्[1] ॥ १७ ॥
एवमुत्थापनी कार्या पूर्वरङ्गप्रयोक्तृभिः ।
अतोऽन्यत्परिवर्ताया लक्षणं संविधीयते ॥ १८ ॥
अस्यास्तूपोहनं कार्यं षट्कलं परिसङ्ख्यया ।
[2]आदौ दिग्ले द्विरुक्तस्तु अन्ते झण्टुं सदा भवेत् ॥ १९ ॥
मध्ये लघ्वक्षराण्येव द्वादशैव प्रयोजयेत् ।
वस्तुनोऽत्र प्रवक्ष्यामि गुरुलघ्वक्षरक्रमम् ॥ २० ॥

त्रिलयेति। कलाभेदेन द्रुतमध्यविलम्बितादिभेदः स्यात्। त्रियतिरिति स्रोतोवहादि भाण्डवाद्यसूचिका। परिवर्ताश्चतुर्दिक्षु चत्वारः। पाणयः समपाणि-रुपरिपाणिरधःपाणिश्च। एतैर्वाद्यविधिरुक्ता।

अनुवाद—तीन लोक के स्वामी, कैलाश पर्वत की कन्दरा में रहने वाले, पर्वतराज की पुत्री पार्वती के प्रिय, त्रिपुर के नाशक भगवान् शिव को शिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥

विमर्श—उत्थापनी ध्रुवा के चरण में प्रथम, द्वितीय चतुर्थ, अष्टम; एकादश अक्षर गुरु होते है। यह चतुष्पदा चतुरस्रा, चार सन्निपात, तीन लय, तीन यति, चार परिवर्त्त वाला ध्रुवा गीत है। इसमें विश्लोका छन्द का प्रयोग होता है। इसका विवेचन पहले पञ्चम अध्याय में किया जा चुका है ॥ १७ ॥

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक ध्रुवागीत का उदाहरण है। इसमें गुरु और लघु अक्षरों का क्रम इस प्रकार है—

S	S	I	S	I	I	I	S	I	I	S
दे	वं	वि	भुं	त्रि	भु	व	ना	धि	प	तिं

अनुवाद—पूर्वरङ्ग प्रयोक्ताओं को इस प्रकार उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। अब इसके बाद परिवर्त्तिनी ध्रुवा का लक्षण कहेंगे ॥१८॥

परिवर्त्तिनी ध्रुवा

अनुवाद—परिवर्त्तिनी ध्रुवा में उपोहन का प्रयोग परिसंख्या के अनुसार छः कलाओं में करना चाहिए। पहिले दो बार दिग्ले दिग्ले और अन्त से झण्टुं का प्रयोग करना चाहिए होता है और मध्य में बारह लघु अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए। अब इसमें वस्तु (गीतक) के गुरु और लघु अक्षरों के क्रम का विवेचन करूँगा ॥ १९-२० ॥

---

१. क-म. त्रिपुरान्तकम् । २. क-म. आयौ दिल्ले भिरुक्तस्तु ।

द्वे चादौ च चतुर्थं च अष्टमं दशमं तथा ।
चतुर्दशं पञ्चदशं पादे गुर्वक्षराणि तु ॥ २१ ॥
सा ध्रुवा परिवर्ताख्या त्रिलया त्रियतिस्तथा ।
परिवर्तास्तु चत्वारः पाणयस्त्रय एव च ॥ २२ ॥
चतुर्भिस्सन्निपातैस्तु द्वात्रिंशत्कलिकान्विता[1] ।
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यः परिवर्तः प्रयोक्तृभिः ॥ २३ ॥

यथा—

[2]चन्द्रार्धभूषणजटं वरं [3]वृषभकेतुं
कैलासपर्वतनिवासिनं सुरवरिष्ठम् ।
शैलाधिराजतनयाप्रियं प्रमथनाथं
मूर्ध्ना नतोऽस्मि त्रिपुरान्तकं परमयोगिनम् ॥ २४ ॥

अनुवाद—जिसके पाद का आदि के दो अक्षर (प्रथम और द्वितीय) फिर चतुर्थ, अष्टम, दशम, चतुर्दश (चौदहवाँ) अक्षर गुरु होता है, और शेष अक्षर लघु होते हैं उसे परिवर्त्त ध्रुवा कहते हैं ॥ २१ ॥

अनुवाद—जिसमें तीन लय, तीन यति, चार परिवर्त्त और तीन पाणियाँ हों वह 'परिवर्त्ता' नाम की ध्रुवा होती है ॥ २२ ॥

व्याख्या—इसमें त्रिलय अर्थात् द्रुत, मध्य और विलम्बित तीन लय होते हैं । त्रियति अर्थात् भाण्डवाद्य की सूचिका स्रोतोवहा, समा और गोपुच्छा नाम की तीन यातियाँ होती हैं । परिवर्त्त' का अर्थ है चारो दिशाओं में चार बार परिवर्त्तन (आवृत्ति) करना । 'त्रिपाणि' से समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि का बोध होता है । वाद्यों के विधान में इनका निरूपण किया जा चुका है ॥ २१-२२ ॥

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को पूर्वरङ्ग में चार प्रकार के सन्निपातों के साथ बत्तीस कलाओं से समन्वित परिवर्त्ता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २३ ॥

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—अर्धचन्द्र से विभूषित जटाओं वाले, वृषभ से अङ्कित ध्वज वाले, कैलाश पर्वत पर निवास करने वाले, देवताओं में श्रेष्ठ पर्वतराज की पुत्री पार्वती के प्रिय (पार्वतीवल्लभ), प्रमथनाथ, त्रिपुर का विनाश करने वाले परम योगी शिव को शिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥ २४ ॥

---

१ क-ज. द्वे पादे च । क (टि.) द्वात्रिंशत्त्रिकलान्विता ।
२. क-म. चन्द्रभूषणजटाधरं । ३. क (टि.) वृषभकेतनम् ।

अवकृष्टामिदानीं तु कथ्यमानां निबोधत ।
अस्यास्तूपोहनं कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम् ॥ २५ ॥
[1]दिग्ले दिग्ले पुनश्चान्ते झण्टुमस्य प्रयोजयेत् ।
अष्टावेव तु कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु ॥ २६ ॥
तृतीयं चैव षष्ठं तु नवमैकादशे तथा ।
पादे पञ्चदशं चैव षोडशं च भवेद्गुरुः ॥ २७ ॥
[2]अष्टषष्टिगणैः पादैरवकृष्टविधिर्बुधाः ।
चतुर्भिः सन्निपातैश्च पाणिभिस्त्रिभिरेव च ॥ २८ ॥

यथा--

वरदं सगणं त्रिपुरान्तकं वृषभकेतुम्[3]
गजचर्मपटं विषमेक्षणं भुवननाथम्[4] ।
भुजगाभरणं जगतां हितं भुवनयोनिम्[5]
प्रणतोऽस्मि भवन्तमुमापतिं त्वसितकण्ठम् ॥ २९ ॥

अष्टषष्टिगणैरिति पतभागाः । त्रिभिरिति समपाण्यादिभिः ।

यह श्लोक परिवर्त्तिनी ध्रुवा का उदाहरण है । इसमें मात्राओं की गणना इस प्रकार की गई है—

S	S	I	S	I	I	I	S	I	S	I	I	I	S	S
च	न्द्रा	र्ध	भू	ष	ण	ज	टं	व	रं	वृ	ष	भ	के	तुम् ।

अवकृष्टा ध्रुवा

अनुवाद--अब मेरे द्वारा कहे जाते हुए अवकृष्टा ध्रुवा को समझिये । इसका उपोहन पाँच कलाओं से युक्त करना चाहिए ॥२५॥

अनुवाद–इसमें प्रारम्भ में दो बार दिग्ले दिग्ले और अन्त में झण्टुं का प्रयोग करना चाहिए और मध्य में आठ लघु अक्षरों का प्रयोग होना चाहिए ॥ २६ ॥

अनुवाद—इसके प्रत्येक पाद में तीसरा, छठाँ, नवाँ, ग्यारहवाँ, पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ अक्षर गुरु होते हैं और शेष अक्षर लघु होते हैं ॥ २७ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ता अवकृष्टा ध्रुवा का विधान अड़सठ पाद (पातों) को चार सन्निपातों और तीन पाणियों के द्वारा कहते हैं ॥ २८ ॥

---

१. क-न. दिल्ले दिल्ले पुनश्चायं । २. क-न. अर्धषष्ठगणैः पादैरवकृष्टां विदुर्बुधाः ।
३. क (टि.) त्रिपुरान्तकरं वृषभेक्षणं ।
४. क-न. त्रिभुवननाथम् । ५. क (टि.) भुवनयोनिम् ।

तृतीयं चैव षष्ठं च गुरुपादे त्रयोदशम् ।
[1]चतुर्गुणसमायुक्ता सा कार्या त्वड्डिता ध्रुवा ॥ ३० ॥
तत्राप्युपोहनं कार्यं चतुष्कलसमन्वितम् ।
अड्डितायाः प्रयोगज्ञैरन्ते झण्टुविभूषितम् ॥ ३१ ॥
दिग्ले दिग्ले [2]ततश्चैव कार्यमन्ते सदा बुधैः ।
चत्वार्येव तु कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु ॥ ३२ ॥

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—वर देने वाले, गणों से युक्त, त्रिपुर के संहारक, वृषभकेतु, गज चर्म को धारण करने वाले, त्रिभुवन के स्वामी, सर्पों का आभूषण धारण करने वाले, जगत् के हितकारी, समस्त लोकों के कारण, नीलकण्ठ उमापति भगवान् शिव को प्रणाम करता हूँ ॥ २९ ॥

यह अवकृष्टा ध्रुवा का उदाहरण है। इसमें मात्राओं की गणना का क्रम इस प्रकार है—

I	I	S	I	I	S	I	I	S	I	S	I	I	I	S	S
व	र	दं	स	ग	णं	त्रि	पु	रा	न्त	कं	वृ	ष	भ	के	तुम्

अड्डिता ध्रुवा

अनुवाद—जिसके प्रत्येक पाद में तीसरा, छठाँ तेरहवाँ अक्षर गुरु होता है और जो चार गुणों से युक्त होता है उसे अड्डिता ध्रुवा कहते हैं ॥३०॥

अनुवाद—इस ध्रुवा में चार कलाओं से समन्वित उपोहन किया जाता है और प्रयोक्ताओं द्वारा अड्डिता के अन्त में 'झण्टुं' से अलङ्कृत प्रयोग करना चाहिए। विद्वानों को इसमें पहिले प्रारम्भ में दो बार 'दिग्ले दिग्ले' का और अन्त में 'झण्टु' का प्रयोग करना चाहिए तथा मध्य में चार लघु अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३१-३२ ॥

विमर्श—अड्डिता ध्रुवा में चार गुण माने गये हैं। इनमें प्रथम गुण चार कलाओं का उपोहन विधान है, दूसरा गुण अन्त में झण्टु का अलङ्कृत प्रयोग है, तीसरा प्रारम्भ में दिग्ले दिग्ले चार गुरुओं का प्रयोग है और चौथा गुण मध्य में चार लघु अक्षरों का प्रयोग माना गया है। इसी पाँचवें अध्याय में जर्जर के नमस्कार के बाद अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग बताया गया है। वहाँ पर सूत्रधार इसका प्रयोग मध्यलय से करता है। वहाँ इसे चतुरस्र कहा गया है और इसमें चार सन्निपात माना गया है। इसके प्रत्येक चरण में प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम तथा अन्तिम अक्षर को गुरु और शेष को लघु स्वीकार किया गया है किन्तु यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में अड्डिता ध्रुवा के प्रत्येक चरण में तीसरा, छठवाँ, तेरहवाँ अक्षर गुरु माना गया है ॥ ३१-३२ ॥

---

१. क (टि०) चतुर्गणसमायुक्ता। २. क-न. ततो झण्टुम्।

यथा—

[1]प्रवरं वरदं [2]प्रणमत सततम्
गजचर्मपटं मुनिजनसहितम्[3] ।
उमया सहितं भुजगवलयिनम्
प्रणतोऽस्मि शिवं त्रिभुवनसहितम्[4] ॥ ३३ ॥
प्रयोज्या त्वड्डिता ह्येवं पूर्वरङ्गे यथार्थतः ।
अतःपरं प्रवक्ष्यामि विक्षिप्तायास्तु लक्षणम् ॥ ३४ ॥
तृतीयं चैव षष्ठं च नवमं दशमं तथा ।
गुर्वक्षराणि पादे तु यस्यां विक्षिप्तका तु सा ॥ ३५ ॥
[5]दिग्ले त्रिभिर्गुणैर्युक्ताः पातास्तस्य भवन्ति हि ।
त्रिकलं चापि निर्दिष्टमुपोहनमतः परम् ॥ ३६ ॥

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—सर्वश्रेष्ठ, वर देने वाले, गजचर्म ओढ़ने वाले, मुनियों से युक्त, उमा (पार्वती) के साथ, सर्पों का कंगन धारण करने वाले, तीनों लोक से वन्दित भगवान् शिव को आप लोग प्रणाम करें। मैं भी प्रणाम करता हूँ ॥ ३३ ॥

यह अड्डिता ध्रुवा का उदाहरण है। इसमें मात्राओं की गणना का क्रम इस प्रकार हैं--

।	।	ऽ	।	।	ऽ	।	।	।	।	:	।	ऽ
प्र	व	रं	व	र	दं	प्र	ण	म	त	स	त	तम्

अनुवाद—इस प्रकार पूर्वरङ्ग में यथार्थ रीति से अड्डिता चारी का प्रयोग करना चाहिए। अब इसके बाद विक्षिप्ता ध्रुवा लक्षण कहूँगा ॥३४॥

विक्षिप्ता ध्रुवा

अनुवाद—जिसके प्रत्येक चरण में तृतीय, षष्ठ, नवम और दशम अक्षर गुरु होते हैं, उसे विक्षिप्ता ध्रुवा कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनुवाद—इसमें दिग्ले प्रयोग के तीन गुणों से युक्त पात होते हैं और इसमें तीन कलाओं का निर्देश है। इसके बाद उपोहन क्रिया का निर्देश है ॥ ३६ ॥

---

१. क-न. वरदं वरदं ।
२. क (टि.) प्रथम गणपतिम् ।
३. क (टि.) मुनिगणसहितम् ।
४. क-द. त्रिभुवननमितम् ।
५. क-न. भ. दिग्लैस्त्रिभिर्गुणैर्युक्ता । क (टि.) सर्वैस्त्रिभिर्गुणैर्युक्ता ।

दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं प्रयोक्तृभिः ।
लघ्वक्षरैर्विहीनं तु विक्षिप्तोपोहनं भवेत् ॥ ३७ ॥

यथा--

त्रिपुरान्तकरं बहुलीलममुया [1]सहितं बहुरूपम् ।
भुजगाभरणं त्रिपुरान्तकं प्रणमामि सदा परमीशम् ॥ ३८ ॥
एवं सर्वा ध्रुवा कार्या युग्मौजकृतगीतकाः ।
आचार्यबुद्ध्या कर्तव्याः पूर्वरङ्गे यथाविधि ॥ ३९ ॥

युग्मोजकृतेति । युग्मं चतुरश्रतालात्मकम् ओजं त्र्यश्रतालेन संमितं मागध्यादिवस्तु ।

अनुवाद—विक्षिप्ता ध्रुवा में प्रयोक्ताओं को प्रारम्भ में 'दिग्ले दिग्ले' का प्रयोग करना चाहिए फिर अन्त में 'झण्टुं' का प्रयोग करना चाहिए । विक्षिप्ता ध्रुवा का उपोहन लघु अक्षरों से विहीन होता है ॥ ३७ ॥

विमर्श—विक्षिप्ता ध्रुवा में तीन गुण होते हैं—प्रथम दिग्ले का तीन बार पात, दूसरा तीन कलाओं के बाद उपोहन का प्रयोग और तीसरा दिग्ले दिग्ले का प्रारम्भ में और झण्टुं का अन्त में प्रयोग तथा लघु अक्षरों के प्रयोग का वर्जन ॥ ३७ ॥

उदाहरण जैसे--

अनुवाद—त्रिपुरान्तक, उमा के साथ अनेक प्रकार की लीला करने वाले; अनेक रूप वाले, भुजङ्ग भूषण, त्रिपुरान्तक परमेश्वर को सदा प्रणाम करता हूँ ॥ ३८ ॥

यह विक्षिप्ता ध्रुवा का उदाहरण है । इसमें मात्राओं की गणना का क्रम इस प्रकार है--

।	।	S	।	।	S	।	।	S	S
त्रि	पु	रा	न्त	क	रं	ब	हु	ली	लं

अनुवाद—इस प्रकार चतुरस्र और त्र्यस्र ताल से युक्त गीतों वाली इन सारी ध्रुवाओं का प्रयोग करना चाहिए । आचार्य को अपनी बुद्धि से पूर्वरङ्ग में यथाविधि (विधिपूर्वक) इनका प्रयोग करना चाहिए ॥३९॥

व्याख्या—'युग्मौजकृतगीतकः' का अर्थ है युग्म और ओज गीतों वाली ध्रुवाएँ । युग्म से तात्पर्य है चतुरस्र ताल और ओज का अभिप्राय है त्र्यस्र ताल । चतुरस्र और त्र्यस्र से युक्त मागधी आदि गीतियाँ ॥३९॥

---

१. क-न. म. उमासहितम् ।

एवं वः कथितं सम्यक्पूर्वरङ्गं त्रिधा मया ।
किमन्यत्सम्प्रवक्ष्यामि भूयोऽभीष्टं द्विजोत्तमाः ॥ ४० ॥

॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे पूर्वरङ्गविधानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

त्रिधेति शुद्धचित्रमिश्रभेदात् पूर्वरङ्गलक्षणपरिसमाप्तौ नाट्यलक्षणान्तरोपदेशे आभिमुख्यं दर्शयति—किमित्यादिना ।

॥ इति पञ्चमाध्यायप्रक्षिप्तभागस्य पूरणी व्याख्या ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों ? इस प्रकार मैंने आप लोगों के लिए तीन प्रकार का पूर्वरङ्ग का विधान बताया है । अब अन्य कौन सा अभीष्ट विषय है जिसका वर्णन करूँ ॥ ४० ॥

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग विधान नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

व्याख्या--त्रिधा से तात्पर्य है शुद्ध, चित्र, मिश्र भेद से तीन प्रकार का पूर्वरङ्ग । अब पूर्वरङ्ग का लक्षण प्रतिपादित करने के बाद अन्य नाट्यलक्षण उपदेश की ओर अभिमुखता दिखाते हैं कि अब आपसे कौन सा विषय कहूँ ? ॥ ४० ॥

इस प्रकार प्रथम सम्पादक के द्वारा कृत पञ्चम अध्याय के प्रक्षिप्त भाग की पूरणी नामक व्याख्या समाप्त हुई ।

इति डा० पारसनाथ द्विवेदिकृता पञ्चमाध्यायप्रक्षिप्तभागस्य हिन्दीव्याख्या समाप्ता ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत पञ्चम अध्याय के प्रक्षिप्त भाग की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ५ ॥

परिशिष्ट—१

चित्र-सूची

नृत्तकरणों की १०८ मुद्राएँ



१. तलपुष्पपुटम् ।



२. वर्तितम् ।



३. वलितोरुकम् ।



४. अपविद्धम् ।



५. समनखम् ।



६. लीनम् ।



७. स्वस्तिकरेचितम् ।



८. मण्डलस्वस्तिकम् ।



९. निकुट्टकम् ।



१०. अर्धनिकुट्टकम्



११. कटिच्छिन्नम् ।



१२. अर्धरेचितकम् ।



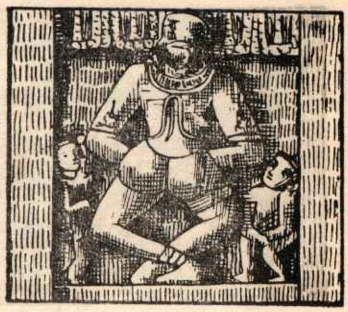
१३. वक्षःस्वस्तिकम् ।



१४. उन्मत्तकम् ।



१५. स्वस्तिकम् ।



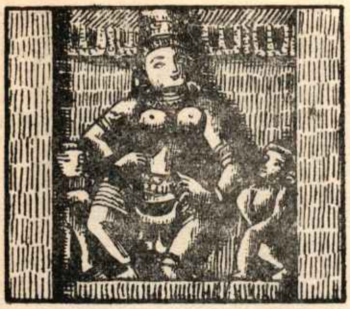
१६. पृष्ठस्वस्तिकम् ।



१७. दिक्स्वस्तिकम् ।



१८. अलातकम् ।



१९. कटीसमम् ।



२०. आक्षिप्तरेचितम् ।



२१. विक्षिप्ताक्षिप्तकम् ।



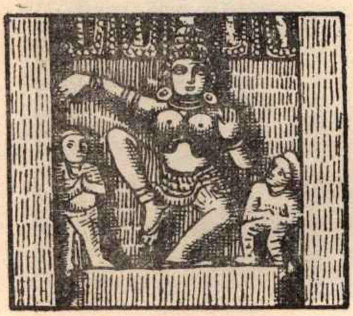
२२. अर्धस्वस्तिकम् ।



२३. अञ्चितम् ।



२४. भुजङ्गत्रासितम् ।



२५. ऊर्ध्वजानु ।



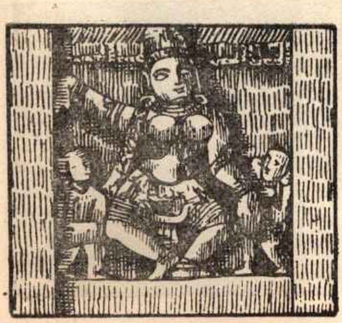
२६. निकुञ्चितम् ।



२७. मत्तलि ।



२८. अर्धमत्तलि ।



२९. रेचितनिकुट्टितम् ।



३०. पादापविद्धकम् ।



३१. वलितम् ।



३२. घूर्णितम् ।



३३. ललितम् ।



३४. दण्डपक्षम् ।



३५. भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।



३६. नूपुरम् ।



३७. वैशाखरेचितम् ।



३८. भ्रमरकम् ।



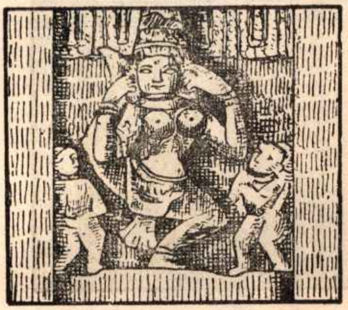
३९. चतुरम् ।



४० भुजङ्गाञ्चितकम् ।



४१. दण्डकरेचितम् ।



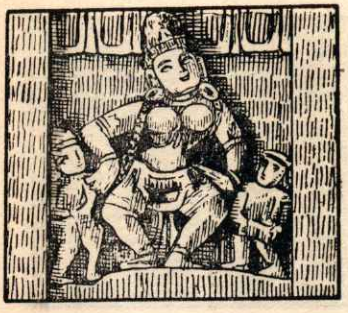
४२. वृश्चिककुट्टितम् ।



४३. कटिभ्रान्तम् ।



४४. लतावृश्चिकम् ।



४५. छिन्नम् ।



४६. वृश्चिकरेचितम् ।



४७. वृश्चिकम् ।



४८. व्यंसितम् ।



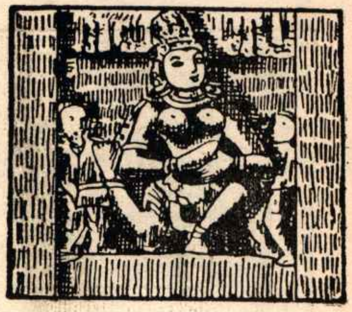
४९. पार्श्वनिकुट्टकम् ।



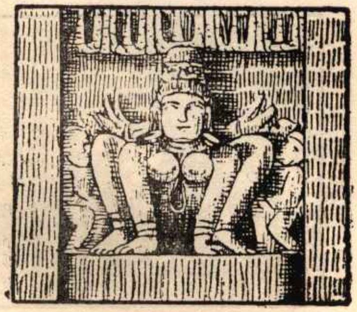
५०. ललाटतिलकम् ।



५१. क्रान्तकम् ।



५२. कुञ्चितम् ।



५३. चक्रमण्डलम् ।



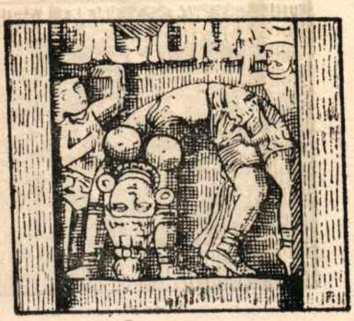
५४. उरोमण्डलम् ।



५५ आक्षिप्तम् ।



५६ तलविलासितम् ।



५७ अर्गलम् ।



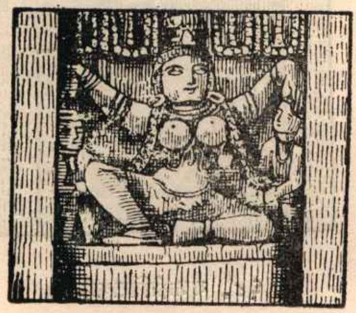
५८ विक्षिप्तम्



५९ आवर्तम् ।



६० डोलापादम् ।



६१. विवृत्तम् ।



६२. विनिवृत्तम् ।



६३. पार्श्वक्रान्तम् ।



६४. निस्तम्भितम् ।



६५. विद्युद्भ्रान्तम् ।



६६. अतिक्रान्तम् ।



६७. विवर्तितकम् ।



६८. गजक्रीडितकम् ।



६९. तलसंस्फोटितम् ।



७०. गरुडप्लुतकम् ।



७१. गण्डसूची ।



७२. परिवृत्तम् ।



७३. पार्श्वजानु ।



७४. गृध्रावलीनकम् ।



७५. सन्नतम् ।



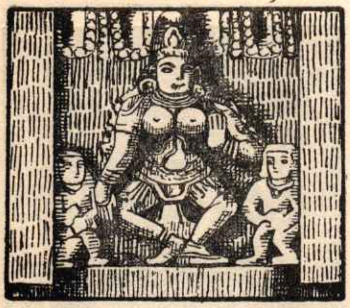
७६. सूची ।



७७. अर्धसूचि



७८. सूचीविद्धम् ।



७९. अपक्रान्तम् ।



८०. मयुरललितम् ।



८१. सर्पितम् ।



८२. दण्डपादम् ।



८३. हरिणप्लुतम् ।



८४. प्रेङ्खोलितकम् ।



८५. नितम्बम् ।



८६. स्खलितम् ।



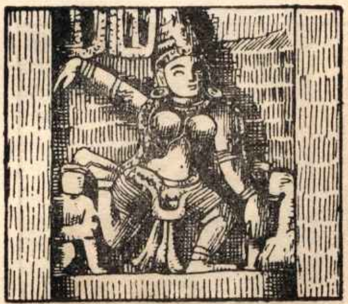
८७ करिहस्तम् ।



८८. प्रसर्पितकम् ।



८९. सिंहविक्रीडितकम् ।



९०. सिंहाकर्षितम् ।



९१ उद्वृत्तम् ।



९२. उपसृतकम् ।



९३. तलसङ्घट्टितम् ।



९४. जनितम् ।



९५. अवहित्थकम् ।



९६. निवेशम् ।



९७. एलकाक्रीडितम् ।



९८. ऊरूद्वृत्तम् ।



९९. मदस्खलितकम् ।



१००. विष्णुकान्तम् ।



१०१. सम्भ्रान्तम् ।



१०२. विष्कम्भम् ।



१०३. उद्वृत्तम् ।



१०४. वृषभक्रीडितम् ।



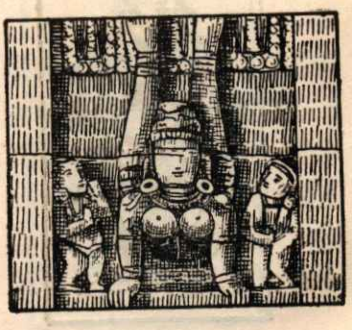
१०५. लोलितम् ।



१०६. नागापसर्पितम् ।



१०७. शकटास्यम् ।



१०८. गङ्गावतरणम् ।

परिशिष्ट—२

श्लोकार्धानुक्रमणिका

'आ'

परिशिष्ट—३

चतुर्थाध्यायस्थकरणलक्षणेषु मुद्रितपाठस्य चिदम्बरनटराजमन्दिरस्थ-शिलोट्टङ्कितपाठस्य च भेदसूचिका[1]

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठः	शासनस्थपाठः
२९८	२	बलितोरुकमुच्यते	बलितोरु तदुच्यते
३००	२	वक्षःस्थोप्यपविद्धं	वक्षःस्थो ह्यपविद्धं
३०८	१	अञ्चितौ	अञ्चितो
३०८	१	निकुञ्चितार्धयोगेन	निकुट्टितार्धयोगेन
३०९	१	कटिश्छिन्ना	कटिच्छिन्ना
३१५	१	विक्षिप्ताक्षिप्त	विक्षिप्तोक्षिप्त
३१५	२	सूचिभ्यां	सूचीभ्यां
३१६	१	श्लिष्टः करो	श्लिष्टकृतो
३२१	१	च	तु
३२३	२	तदञ्चित	तदाञ्चित
३२४	२	कटिजानु	कटीजानू
३२९	१	खटकामुखौ	खटिकामुखौ
३३०	४	तु	च
३३१	१	दक्षिणश्च विवर्तितः	दक्षिण श्चापवर्तितः
३३२	२	तु	च
३३४	१	रेचितौ हस्तपादौ च कटी	रेचितं हस्तपदं च कटि
३३७	१	दक्षिणो रेचितः	रेचितो दक्षिणः
३३७	२	लताख्यश्च	लताख्यस्तु
३४१	२	अलपद्मः·····छिन्ना	अलपल्मः·····छिन्न
३४२	२	करौ वृश्चिकरेचितम्	कुर्याद्वृश्चिकरेचितम्
३४५	२	तु	च
३४७	२	गात्रेणानतेन	गात्रेण नतेन
३४८	२	उरोमण्डलकौ	उरोमण्डलिनौ

१. प्रथमावृत्तिसम्पादकेन सम्पादिता ।

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठः	शासनस्थपाठः
३४९	१	च	तु
३५२	१	पृष्ठतः पार्श्वतो	पार्श्वतः पृष्ठतो
३५३	२	तदुच्यते	प्रकीर्तितम्
३५७	४	मण्डलाविद्धम्	मण्डलाबद्धम्
३६५	२	सा सूची	तत्सूचि
३६७	३	अञ्चितापसृतौ पादौ	अञ्चितापसृतः पादः
३६९	२	जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता तद्विद्यात्	जङ्घाचिता परिक्षिप्ता तद्विन्द्यात्
३७०	२	परिवृत्तत्रिकम्	परिवृत्तं त्रिकम्
३७१	२	वापि	चापि
३७३	३	द्रुतक्रमम्	वृत्तक्रमम्
३७३	४	चापि सिंहविक्रीडिते	चैव सिंहविक्रीडितम्
३७५	१	चरणश्चैको	चरणः कार्यः
३७६	३	वक्षःस्थितो	पक्षस्थितो
३७८	२	निवेशं करणं तु	निवेशकरणं च
३८०	२	गगनोन्मुखः	गमनोन्मुखः
३८४	४	उद्वाहित	उद्घाटित

*

परिशिष्ट—४

शुद्धि-निर्देश

प्रस्तावना

पृष्ठसंख्या	पंक्तिसंख्या	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
३	५	० नाख्यम	० नाख्यम्
३	३१	पितामहमाब्रवीत्	पितामहमथाब्रवीत् ।
४	२७	ब्युत्पत्ति।	व्युत्पत्तिः
५	१२	प्रतिविम्बित	प्रतिबिम्बित
७	१६	लोकिक	लौकिक
७	२२	रसभिव्यक्ति	रसाभिव्यक्ति
८	१७	भारतसूत्रमिदं	भरतसूत्रमिदं
१०	३२	मोतीलाल बनारसीदास	चौखम्बा संस्कृत संस्थान
१२	१०	पाटच	पाठच
१२	१६	सामान्य-भिनय	सामान्याभिनय
१५	२१	विदादिब्यो्ऽण्	विदादिभ्योऽण्
२३	११	शताव्दी	शताब्दी
२४	२६	विक्रमोवशीयम्	विक्रमोर्वशीयम्
३२	२७	मनोरजन	मनोरञ्जन
३७	२०	ग्रन्थां	ग्रन्थों
३९	१३	वृहस्पति	बृहस्पति
३९	२२	प्रकरो	प्रकरी
४३	१४	भरत में	भरत ने
४९	१७	भारत का	भरत का
५१	२१	सत्तरण उपरुपमों	सत्तरह उपरुपकों
५३	१३	नन्दिश्वर	नन्दिकेश्वर
५४	२८	न्याय बृत्ति	न्यायवृत्ति
५७	२२	व्याख्या	व्याख्या

•

मूलग्रन्थ एवं व्याख्या

पृष्ठसंख्या	पंक्तिसंख्या	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
१	६	ब्रह्मण	ब्रह्मणा
५	२३	गुरू	गुरु
९	१-२	प्रवक्ष्यामिति	प्रवक्ष्यामीति
१७	१७	मिय्या	मिथ्या
१८	४	प्रपच्छुस्तेः	पप्रच्छुस्ते
२०	५	प्रपच्छरिति	पप्रच्छुरिति
२७	३	पप्रच्छः	पप्रच्छुः
३१	१३	त्र्यवहार	व्यवहार
३२	१२	त्रेतापुगं	त्रेतायुगं
३३	७	किञ्चत्	किञ्चित्
४१	१९	थुक्त	युक्त
४७	२०	भित्र	भिन्न
४८	१९	झांस	झांझ
४८	३२	घतावनद्ध	धनावनद्ध
४९	८	वृति	धृति
५४	८	पर्षदि	परिषदि
५५	८	ववर्णं	वैवर्ण्यं
५६	२०	विशषता	विशेषता
५६	३१	तच्वज्ञः	तत्त्वतः
५९	२४	जैशिषव्य	जैगीषव्यं
६४	१४	एबं	एवं
७३	२५	कुतुप	कुतप
७४	१३	कुतुप	कुतप
७४	१३	वाचक	वादक
७४	१४	कुतुप	कुतप
७४	१५	कुतुप	कुतप
७४	१६	कुतुप	कुतप
८३	१५	जृ	जृ
८३	१८	जृ	जृ
८९	४	नतकी	नर्तकी
९१	१८	आट्टालिकाओ	आट्टलिकाओं

९६	२१	अशक्तस्थ	अशक्तस्य
१०२	२९	अवयार्थज्ञान	अयथार्थज्ञान
१०३	१०	परिबतन	परिवर्त्तन
१०३	२१	नामक	नायक
१०३	३४	भावो	भावों
१०५	२८	विघावादि	विभावादि
१०७	३	बुद्धेश्भावात्	बुद्धेरभावात्
१०८	१२	इतिबृत्त	इतिवृत्त
१०८	१४	अनुव्यवशाय	अनुव्यवसाय
१११	६	प्रत्वक्ष	प्रत्यक्ष
११२	४	बाद्य	वाद्य
११२	१९	छोढ़ता	छोड़ता
११२	२९	अभिनवयुप्त	अभिनवगुप्त
११८	१	एतच	एतच्च
११८	१०	र यादिः	रत्यादिः
१२३	१२	धर्म	कर्म
१२४	११	वालरामायण	बालरामायण
१२८	२४	प्रत्थक्ष	प्रत्यक्ष
१२८	३०	केषल	केवल
१३१	२१	दुःरूपता	दुःखरूपता
१३३	१०	गगनीयं	गमनीयं
१४७	२८	साभ्येन	साम्येन
१५२	१	बालश्च	वालश्च
१५२	४	बालाश्च	वालाश्च
१५२	१२	बाल	वाल
१५२	१६	बाल	वाल
१५३	६	योगपुरुश्च	योगयुक्तश्च
१५८	२०	दानो	दोनों
१६१	१	तस्माद्द्वक्रुतै०	तस्माद्देवक्रुतै०
१६५	९	गहीत्वा	गृहीत्वा
१७४	२	पूर्वेंण	पूर्वेंण
१७६	३	स्वंद्रुयैः	स्वर्द्रुमैः
१७६	२	समृतम्	स्मृतम्

१७६	२४	सफद	सफेद
१७९	१६	अकम्पप्य	अकम्प्य
१८१	११	वनो	बनो
१८२	१९	उच्छाय:	उच्छ्राय:
१८५	५	मरत	भरत
१८५	९	अव्य	अन्य
१८५	१२	कत्तवारणी	मत्तवारणी
१८९	९	मध्य हुए	मध्य बने हुए
१९१	२	धुयौ	धुर्यौ
१९२	१४	कछए	कछुए
१९९	१	भण्ठप:	मण्डप:
१९९	१०	कुतुप	कुतप
१९०	१२	कुतुप	कुतप
१९९	१४	कुतुप	कुतप
१९९	१५	कुतुप	कुतप
२००	१३	लतावन्घ	लताबन्ध
२०६	३	न्यसेत	न्यसेत्
२०७	२७	नाटयमण्डप	नाट्यमण्डपं
२१४	७	प्रक्षकों	प्रेक्षकों
२२३	५	दूशरा	दूसरा
२२४	१	कत्तव्यं	कर्त्तव्यं
२२४	प्रथमचित्र	प्रेक्षकोपेक्ष	प्रेक्षकोपवेश
२२४	द्वितीयचित्र	प्रेक्षकोपेक्ष	प्रेक्षकोपवेश
२३४	१२	बेला	वेला
२३६	२६	कुतुप	कुतप
२३७	१७	नाटयमण्डप	नाट्यमण्डप
२४७	४	बलिम्	वलिम्
२४९	२१, २५, २६, २७	बलि:	वलि:
२४९	१९	चन्द्रदेद	चन्द्रदेव
२५४	४	विघ्नजजरार्थं	विघ्नजर्जरणार्थं
२५६	२	तान्वदेत	तान्वदेत्
२५८	७	सम्मित	सम्मितं

२५९	१	प्रभञ्जन मीरितः	प्रभञ्जनसमीरितः
२५९	४	शन्तेन	शान्तेन
२६०	२१	व्याख्यकार	व्याख्याकार
२६२	२	कियास्तत्र	क्रियास्तत्र
२६७	१२	उसाह	उत्साह
२६९	२८	अर्थात	अर्थात्
२७७	१६	तण्ड्ड	तण्डु
२८६	३	उन्नतं	उन्मत्तं
२८६	५	आक्षिप्तरचितं	आक्षिप्तरेचितं
२८६	१८	ललटतिलकं	ललाटतिलकं
२८८	२७	ललसंघट्टित	तलसंघट्टित
२९२	५	सर्पशिराा	सर्पशिराः
३०३	२३	आबिद्ध	आविद्ध
३०३	२६	आबिद्धवक्र	आविद्धवक्र
३०८	२	निकुट्टकम	निकुट्टकम्
३०८	४	निकुट्टितस्प	निकुट्टितस्य
३१९	८	सोऽर्धन्द्रः	सोऽर्धचन्द्रः
३१९	१३	जङ्घं	जङ्घं
३३०	२०	भ्रमण	भ्रमण
३३०	२०	भ्रमरी	भ्रमरी
३४२	१५	जाजा है	जाता है
३४२	२०	पाश्र्ब	पार्श्व
३५३	३	आबर्त्तम्	आवर्त्तम्
३५४	१९	पाश्र्ब	पार्श्व
३५४	१९	झुलाथा	झुलाया
३५८	२	प्रकीर्त्तितो	प्रकीर्त्तितौ
३६३	१९	परिबृत्त	परिवृत्त
२७०	२४	भ्रमरी	भ्रमरी
३७९	८४	उद्वत	उद्वृत
३८०	२	वतिलाविद्धौ	वलिताविद्धौ
३८३	२१	वृषभक्रौड़ित	वृषभक्रीड़ित
३८४	२०	शकटास्थ	शकटास्य
३८५	१४	सन्निबेश	सन्निवेश

३९९	४	गीतबाद्य	गीतवाद्य
४००	२९	कटिच्छेदे	कटिच्छेदं
४०२	४	चैब	चैव
४०२	५	चैब	चैव
४०६	६	दामहस्ते	वामहस्ते
४१८	१०	केचिद	केचिद्
४१८	१७	ऊरूद्वत	ऊरूद्वृत्त
४१९	३	भवेत	भवेत्
४२०	३०	बाहुभ्रमरकं	बाहुभ्रमरकं
४२१	२६	विधियर्भू	विधिर्भूय
४२२	६	एकविंशम्	एकविंशम्
४२४	१०	पादकरणे	पादं करणे
४२४	३१	विवत्तित	विवर्त्तित
४२५	११	ऊरूद्वत्तादि	ऊरूद्वृत्तादि
४२७	१५	प्रोद्वद्वेष्टित	प्रोद्वेष्टित
४२९	२	तत्करण	तत्करणं
४३०	४	ऊरोभण्डलकौ	उरोमण्डलकौ
४३०	२७	पार्श्वच्खेद	पार्श्वच्छेद
४३१	२०	वाद	बाद
४३१	३१	५.क. आक्षिप्तं च शिरश्चैव	——
४३१	३१	६.ख-घ. सकटिच्छदं	५-ख. घ सकटिच्छेदो
४३४	१	उद्वत्तकः	उद्वृत्तकः
४३५	७	सन्धानायोद्वत्तं	सन्धानायोद्वृत्तं
४३५	१७	उद्धृत्त	उद्वृत्त
४३५	२०	उद्धृत्तक	उद्वृत्तक
४४२	१	आच्छरितः	आच्छुरित
४४२	१५	आच्छरित	आच्छुरित
४४३	१९	आक्षिप्तरंचित	आक्षिप्तरेचित
४३६	६	उद्वत्त	उद्वृत्त
४५१	७	विप्रकोणौ	विप्रकीर्णौ
४५२	३	परिवत्तंयेत	परिवर्त्तयेत्

४५७	२९	क.गमनअङ्ग्रष्ठाग्रस्य	गमनमङ्गुष्ठाग्रस्य
४५८	१	तुम्वुरुणेदमुक्तम्	तुम्बुरुणेदमुक्तम्
४५९	१	नृत्यन्तं	नृत्यन्तं
४५९	२६	प्रबादितैः	प्रवादितैः
४५९	२७	प्रानृत्यल्लवताल-पतालवशानुगैः	प्रानृत्यल्लयतालवशानुगैः
४५९	३०	कैव	चैव
४५९	३२	बन्धनास	बन्धमासां
४६०	६	पडिण्डिम	डिण्डिम
४६०	८	हुय	हुये
४६०	९	गिण्डीवन्धो	पिण्डीबन्धों
४६०	९	प्रभुति	प्रभृति
४६०	२६	पणवैर्ददुराधैश्च	प्रणवैर्दर्दुराद्येश्च
४६२	२१	नगाढ़े	नगाड़े
४६६	१९	बिषमप्रयोग	विषमप्रयोग
४७३	१७	नृत्यप्रयोग	नृत्तप्रयोग
४७५	१२	तड्डु	तण्डु
४७७	१२	सप्रयुक्त	संप्रयुक्तं
४७९	२	सवत्र	सर्वत्र
४८५	१५	वृत्त	नृत्त
४८५	१९	बर्धमानक	वर्धमानक
४८६	२२	लाकिक	लौकिक
४९१	१६	नाटद्य	नाटय
४९५	२३	झण्टुम	झण्टुम्
४९६	२१	आवाज	आवाप
४९८	१	तण्ड्डः	तण्डुः
४९९	२०	प्रबृत्त	प्रवृत्त
५०४	१	विविक्रियाम्	विधिक्रियाम्
५०४	५	पिण्डोबन्धेश्च	पिण्डीबन्धेश्च
५०४	१२	गह्लषगर्त	गृह्णाति
५०७	१९	कुतुपों	कुतपों
५०८	२०	कुतुप	कुतप

५०८	२१	कुतुपः	कुतप
५०८	२१	कुतुप	कुतप
५०८	२२	कुतुप	कुतप
५०९	२	प्रवेशा	प्रवेशो
५१३	४	आचरेत	आचरेत्
५१३	११	उक्तत्वात	उक्तत्वात्
५१५	१	रक्त	रक्तं
५१६	२	१८४	२८४
५१७	४	नृत्तत	नृत्तेन
५१८	२	अपरा	अपराः
५२२	१५	प्रयौग	प्रयोग
५२४	३०	निदिष्टाः	निर्दिष्टाः
५३२	१९	सस्कृत	संस्कृत
५३४	२	स्याद	स्याद्
५३८	१४	सम्भाबिता	सम्भाविता
५३९	४	बाद्य	वाद्य
५४६	१०	वैच्त्रिय प्रकारेण	वैचित्र्यप्रकारेण
५४६	१०	नत्तमुक्तं	नृत्तमुक्तं
५५२	१	भवेदय	भवेदथ
५५२	१५	अङ्गहारों को	अङ्गहारों से
५५३	७	वणंवृत्तकृता	वर्णवृत्तकृता
५५४	१९	आर	और
५६२	६	पर्वोक्तेन	पूर्वोक्तेन
५६८	२०	जजंर	जर्जर
५७३	११	द्विसंख्या तंत्रिसंख्यातम-थापि च	द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातम-थापि च
५७४	पृष्ठसंख्या	७५४	५७४
५७५	१०	पादमागादिरेव	पादभागादिरेव
५७५	१७	शुष्कावकृष्ट्र	शुष्कावकृष्टा
५७५	३०	परिवर्तकमेव	परिवर्त्तकमेव
५७७	२६	कुतुप	कुतप
५७८	१८	'कु'	कुं

५७८	२१	कुतुप	कुतप
५७९	५	अनुपविष्टेषु	उपविष्टेषु
५७९	२२	दर्दरिक	दार्दरिक
५८०	१६	कुतुप	कुतप
५८०	१७	कुतुप	कुतप
५८०	१८	कुतुप	कुतप
५८०	२१	कुतुपन्यास	कुतपन्यास
५८४	२४	कुतुप	कुतप
५८४	२५	कुतुप	कुतप
५८६	६	कायो	कार्यों
५९२	१७	पूवंरङ्ग	पूर्वरङ्ग
५९४	१	यस्मादभिनगस्त्वत्र	यस्मादभिनयस्त्वत्र
६०२	४	धातुवाद्यश्रयकृतमिति	धातुवाद्याश्रयकृतमिति
६०६	१८	कुतुप-विन्यास	कुतप-विन्यास
६०८	८	वात्र	चात्र
६१५	२	पुनश्चैकला	पुनश्चैककला
६१६	३१	परिपार्श्वकों	पारिपार्श्विकों
६१७	११	पारिपार्श्वकों	पारिपार्श्विकों
६१७	१९	समुनस्:	सुमनसः
६२०	१३	पारिपार्श्वकों	पारिपार्श्विकों
६२४	९	कमंद्वयं	कर्मद्वयं
६२५	७	कालविक्षप	कालविक्षेप
६२५	११	कुतुप	कुतप
६२५	१५	कुतुप	कुतप
६२५	२०	कुतुपाभिमुख	कुतपाभिमुख
६२५	२१	कुतुप	कुतप
६२५	२६	कुतुप	कुतप
६२७	१	नैतद	नैतद्
६२९	१३	प्रवोक्ताओं	प्रयोक्ताओं
६३१	९	ध्र वया	ध्रुवया
६३२	८	निरूपितदेवता	निरूपितदेवता
६३२	१२	कुतुप	कुतप

६३३	२२	अबकृष्टा	अवकृष्टा
६३७	४	ह्यष्टौ	ह्यष्टौ
६१८	५	यत्स्मृतम	यत्स्मृतम्
६३८	११	शुष्कावकृष्टा	शुष्कावकृष्टा
६३८	१८	देदता	देवता
६४०	७	पारिपार्विक	पारिपार्श्विक
६४४	१४	(पूर्वोक्त से) विधि	(पूर्वोक्त विधि से)
६४७	११	पारिपार्श्वकों	पारिपार्श्विको
६४८	१४	पारिपार्श्वको	पारिपार्श्विकों
६५०	४	पदे	पादे
६५०	१५	गच्चिप्रचार	गतिप्रचार
६५०	२६	कायाणित्र्य स्रनृत्त०	कार्याणि त्र्यस्रनृत्त०
६५४	८	ब्यायिश्रेण	व्यामिश्रेण
६५५	७	ह्युत्स्थापन	हृयुत्थापन
६५६	१४	ताटस्थ्यबुद्धि	ताटस्थ्यबुद्धि
६५८	९	मूयिष्ठं	भूयिष्ठं
६६२	१	ह्यपक्षेपे	हृयुपक्षेपे
६६४	११	प्रत्यताय	प्रत्यवाय
६६५	१५	पाच्चाल	पाञ्चाल
६६७	७	कार्य	कार्यं
६६९	१	चतस्त्रो	चतस्रो
६६९	९	त्रिनिंवृत्त	त्रिनिवृत्त
६६९	१६	गतियों	गीतियों
६७१	२	पर्व	पूर्व
६७२	१	विलम्वितेनैव	विलम्बितेनैव
६७२	१४	द्रुतयल	द्रुतलय
६७३	४	स्यात	स्यात्
६७३	१७-१८	पा धा पा मा द्रं व वन्दे	पा धा पा मा द्रं वं दे
६७४	१४-१५	धा नी मा मा व वन्दे	धा नी मा मा वं दे
६७५	१	पूर्व	पूर्वं
६७५	२३	वीर	और

६७५	२७	तद्ग्रास्छचपास्तदौ	तद्‌गणाश्छचपास्तदौ
६७५	२७	षष्मात्रिक	षण्मात्रिक
६७५	३०	स्थात्	स्यात्
६७८	१३	कैलाश	कैलास
६७९	१९	यातियाँ	यतियाँ
६७९	२८	कैलाश	कैलास
६८१	२५	झण्टू	झण्टु
६८२	१०	पातस्तस्य	पातास्तस्य
६८३	४	बहुलीलममुया	बहुलीलमुमया
७०५	८	अनिकुण्डाज्य	अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ
७०५	१५	अङ्गलं	अङ्गुलं
७०५	१६	अङ्गलानि	अङ्गुलानि
७०६	८	वुधसेनं	बुधसेनं
७०६	२२	चेव	चैव
७०६	३२	पुनं	पुनः
७०६	३३	ह्य ेष	ह्येष
७०७	५	थथान्यायम्	यथान्यायाम्
७०७	१०	विदित्बाऽहम्	विदित्वाऽहम्
७०७	१९	हृण्ट्वा	दृष्ट्वा
७०८	२८	तता	ततः
७०८	९	रोचितो	रेचितो
७०९	४	बलिः	वलिः
७०९	१५	विवर्त्ताच्च	विवर्त्ताश्च
७०९	२८	करमावर्त्तित कृत्वा	करमावर्त्तितं कृत्वा
७१०	२	चैब	चैव
७११	३१	गरुडल्पुतकं	गरुड़प्लुतकम्
७१२	२७	क्रत्वा	कृत्वा
७१२	३०	तच्छ्रु त्वा	तच्छ्रुत्वा
७१३	२०	सार्धम	सार्धम्
७१३	१३	तशैव	तथैव
७१३	२९	प्रोक्तम	प्रोक्तम्
७१४	९	कर्त्तव्य	कर्त्तव्यः

७१५	५	कर्त्तष्यम्	कर्त्तव्यम्
७१५	१६	गुणैर्थुक्ताः	गुणैर्युक्ताः
७१६	३	दृष्ट्बा	दृष्ट्वा
७१७	७	वेदम	वेदम्
७१८	२८	निर्व्यूकुहरोयेतम्	निर्व्यूहकुहरोपेतम्
७१८	१२	स्ष्टो	सृष्टो
७२०	५	पुनरेषा	पुनरेषां
७२०	४	पूबंरङ्गं	पूर्वरङ्गं
७२०	३२	प्रतिबोधस्बभिनेयः	प्रतिबोधस्त्वभिनेयः
७२१	२९	प्रलम्बिताभ्यां	प्रलम्बिताभ्यां
७२१	११	भूत्बा	भूत्वा
७२१	१९	नितम्वं च	नितम्बं च
७२३	११	महागणेश्बराः	महागणेश्वराः
७२३	२६	महेश्बरे	महेश्वरे
७२३	२६	कर्त्तब्बा	कर्त्तव्या
७२४	२८	वस्तुनिवद्धानि	वस्तुनिबद्धानि
७२५	८	कुर्लात्	कुर्यात्
७२५	१६	लोकालोकल्प	लोकालोकस्य
७२५	३१	लघुवणं	लघुवर्णं
७२६	७	बाचश्चेष्टां	वाचश्चेष्टां
७२६	१६	बिधि०	विधि०
७२६	२६	बारुणी	वारुणी
७२८	३	कठिता	कठिना

●

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय

श्रुतम् मे गोपाय